CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1212

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २५, अंक १
दिसम्बर - जनवरी - फरवरी २००४
भारतीय सौर श्रकार्तिक-पौष -माघ-शके १९२४

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान मन्दिर' हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
चंद्रकांत बांदिवडेकर
गजानन चव्हाण
एन. जी. कुलकर्णी
सुरजीत कौर चहल

सलाहकार संपादक मण्डल
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १०००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १२५/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १००/-
एक प्रति का मूल्य		३५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

मनष्य की पहचान उसकी संस्कृति से बनती है । अपने को बनाने के लिए, अपनी पहचान बनाने के लिए मनुष्य तरह तरह की कोशिशें करता है। केवल प्राणि से वह व्यक्ति बनता है और यही उसकी पहचान होती है । समस्त प्राणिजगत् में मनुष्य न केवल प्राणि है बल्कि वह व्यक्ति है और यही पहचान उसकी मनुष्यता का आशय बनती है । लेकिन केवल व्यक्ति होने तक ही उसकी पहचान सीमित नहीं होती है । अनेकों व्यक्तियों के अलग अलग समुदाय होते हैं जिनसे समाज बनते हैं और किसी समाज के सदस्य के रूप में भी मनुष्य की पहचान होती है । समाज प्राणियों के नहीं बल्कि मनुष्यों के होते हैं और इन मनुष्यों का व्यक्ति होना निहायत जरूरी होता है । वासनाओं के रूप में प्रस्फुटित मूल प्रेरणाएँ उसका जीवन बनाती हैं, उसे जीवित रखती हैं लेकिन उसे अपनी पहचान नहीं देती हैं । इन प्रेरणाओं या वासनाओं को नियमित करने से उसका व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन उचित तथा सफल बनता है । अतः अपनी प्रेरणाओं, वासनाओं तथा तज्जनित कृतियों का नियमन करने के लिए किसी व्यवस्था की जरुरत होती है। यह व्यवस्था हरेक मनुष्य के साथ अलग एवं स्वतंत्र नहीं हो सकती, बल्कि किसी एक समाज के लिए उसके सभी सदस्यों के लिए वही व्यवस्था होती है । ऐसी व्यवस्था के दो पहलू होते हैं - एक पहलू है सामाजिक संस्थाएँ और दूसरा पहलू है नियम के रूप में मूल्य । ये मूल्य मापदंडों का काम करते हुए उचित क्रियाकलापों के बंध और अनुबंध निर्माण करने में मदद करते हैं । ये सारे नियम, मूल्य तथा क्रियाकलापों के बंध-अनुबंधादि किसी एक व्यवस्था का अंग होते हैं। उन्हें उस व्यवस्था की मान्यता आवश्यक होती है । अतः किसी ऐसे स्रोत का आधार लिया जाता है जो इस व्यवस्था को मान्यता दे । यह मान्यता समाज की अपनी मान्यता होती है । समाज के हरेक सदस्य की स्वीकृति से यह मान्यता बनती है । मान्यता देनेवाले स्रोत अनेक हो सकते हैं। उनमें एक स्रोत है धर्म । धर्म को अलग अलग रूपों में देखा और परखा जाता है, और अलग अलग पहलुओं से पहचाना जाता है । धर्म के लिए एक ऐसे सामर्थ्य की जरूरत होती है जिसे स्वीकारना सब मनुष्यों के लिए सहज तथा सरल हो । अतः धर्म के लिए आधार लिया जाता है मनुष्य के स्वभाव का, उसकी वृत्ति-प्रवृत्तियों का, उसकी इच्छा-आकांक्षाओं का, उसकी सोच-विचार का तथा उसकी बाह्य और अंतः प्रेरणाओं का।

व्यवहार में देखा जाता है कि मनुष्य धर्म की मान्यताओं का स्वीकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खुद के लिए करता है और दूसरे के लिए भी करता है। जब मनुष्य अपने कर्मों के फल की इच्छा करता है तब उसे विश्वास होता है कि उसके अच्छे कर्मों का फल उसे अच्छाही मिलेगा। लेकिन जब वह दूसरे के बारे में सोचता है तो उसके मन में यह भी विचार आता है कि दूसरे के बुरे कर्मों की सजा दूसरे को मिलनी चाहिए। अगर वह खुद दूसरे को सजा देने लगे तो उससे कुछ सवाल पैदा होते हैं जो व्यवस्था में कठिनाइयाँ पैदा करते हैं। दूसरे को खुद सजा देने में वह कतरता है लेकिन चाहता जरूर है कि दूसरे को उसके अनुचित कर्मों के कारण अवश्य सजा मिले। अतः व्यवस्था का एक ऐसा रूप हो जिस में अनुचित कर्मों के लिए सभी को सजा मिले और उचित कर्मों के लिए उचित गौरव किया जाए। यह काम किसी एक समर्थ कर्ता से हो सकता है या व्यवस्था से हो सकता है। यह कर्ता या तो मानवी व्यक्ति हो या अतिमानवी शक्ति के रूप में कोई व्यक्ति हो। अतिमानवी शक्ति से ईश्वर की कल्पना आती है लेकिन अतिमानवीयता के अंश का वर्जन करके मनुष्य प्रज्ञा का आधार लेकर मूल्य-नियम-व्यवहार-प्रणाली बनायी जा सकती है जो धर्म का निरीश्वर-रूप हो सकता है। अतिमानवीय शक्ति की स्थापना या तो ईश्वर में की जा सकती है या राजा में या फिर राजव्यवस्था में भी। किसी भी हालत में देखना यह है कि मेरे अच्छे कर्मों का पुरस्कार मुझे मिले और दूसरे के अनुचित कर्मों की सजा उसे मिले जिस की जिम्मेदारी मुझपर न हो। जहाँ जिम्मेदारी है वहाँ कर्म और आगे कर्म चलनेवाला कर्मफल होगा।

लेकिन धर्म में दूसरे के लिए सोचना बाध्य किया है वह दूसरे के अनुचित कर्मों को देखकर नहीं बल्कि दूसरे की जरूरतों, मजबूरियों, कमियों को देखकर सोचने को बाध्य किया है। धर्म वह है जो न केवल एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोडता है बल्कि जो एक समाज को दूसरे समाज से इस तरह जोडता है कि एक मनुष्य दुनिया के किसी भी मनुष्य से जुडा रहे उस के प्रति आस्था और प्रेम रखते हुए। धर्म मनुष्य की समझ बदल देता है और उस में ऐसी समझ पैदा करता है जिससे कोई भी मनुष्य दूसरे के प्रति प्रेम और आस्था ही रखे, दूसरे के हित में ही अपना कर्म करता रहे। यह धर्म मनुष्य की पहचान बनाता है जो मनुष्यजाति का कल्याण कर सके। सब के कल्याण में हरेक व्यक्ति प्रेरित और कृतिशील हो यह मनुष्य की पहचान है और यह पहचान धर्म से आती है, यह संस्कृति धर्म से बनती है।

— सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ए. जे. एयर के 'अतीत के ज्ञान' की अवधारणा की समीक्षात्मक व्याख्या

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में तार्किक प्रत्यक्षवाद एक प्रमुख विचारधारा है । इस विचारधारा से प्रभावित होकर विभिन्न देशों के अनेक दार्शनिक इसके समर्थक बन गये । ग्रेट ब्रिटेन में इसके समर्थकों में ए.जे.एयर का नाम प्रमुख है । एयर ने दर्शनशास्त्र की विभिन्न समस्याओं के संबंध में अपने विचार सरल एवं स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किए हैं । दर्शनशास्त्र की विभिन्न समस्याओं में अतीत के ज्ञान की समस्या भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है । प्रस्तुत आलेख में 'अतीत का ज्ञान' की अवधारणा के संबंध में ए.जे. एयर के मत की समीक्षात्मक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है ।

अतीत के ज्ञान के संबंध में दार्शनिकों में मतभेद हैं । बहुत से दार्शनिकों का मानना है कि जिस प्रकार वर्तमान का ज्ञान प्रत्यक्षीकरण से होता है उसी प्रकार अतीत का ज्ञान स्मृति से होता है । कुछ दार्शनिक स्मृति को अतीत के ज्ञान का प्रत्यक्ष स्रोत मानते हैं एवं कुछ अप्रत्यक्ष स्रोत मानते हैं । जो दार्शनिक स्मृति को प्रत्यक्षीकरण के अनुरूप मानते हैं, उनके अनुसार जिस प्रकार प्रत्यक्षीकरण से वर्तमान का तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी प्रकार स्मृति से अतीत का तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । लेकिन एयर इससे सहमत नहीं हैं । अतीत के ज्ञान के संबंध में सेम्युअल अलेक्झांडर का मानना है कि स्मृति से अतीत का प्रत्यक्ष परिचय होता है । अतीतत्व अनुभव प्रदत्त है, इसे प्रत्यक्ष रूप से जान सकते हैं । वस्तु हमारे अतीत के रूप में अपृथक् रूप से अस्तित्व रखती है ।[१]

अधिकांश दार्शनिक अतीत के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, एयर भी उन दार्शनिक में से हैं जो अतीत के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । लेकिन संशयवादी दार्शनिक अतीत के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं । परन्तु उनका ऐसा सोचना उचित नहीं है, क्योंकि हम अनुभव में यह देखते हैं कि अतीत का हमें ज्ञान होता है और स्मृति उसका एकमात्र स्रोत है ।

इस संबंध में सी.डी. ब्रॉड का मत अतीत की घटनाओं के अस्तित्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को स्वीकार करता है और कहता है कि ये हमेशा इस प्रतीक्षा में रहती हैं कि उन्हें याद किया जाए ।[२] उनके अनुसार यदि एक बार घटना घटित हो चुकी है तो इसका अर्थ है कि वह सदैव ही अस्तित्व रखती है । वह इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाया कि अतीत की घटनाओं के अस्तित्व होने का क्या अर्थ है ? इसका शायद यह अर्थ हो सकता है कि ये घटनाएँ स्मृति में अस्तित्व रखती हैं । लेकिन एयर का कहना है कि घटनाओं के निरन्तर रूप से अस्तित्व रखने की बात से उन्हें स्मरण किए जाने की सम्भावना की व्याख्या नहीं होती है ।

स्मरण अतीत का किया जाता है, लेकिन स्मरण की क्रिया वर्तमान में होती है । अतः कोई वर्तमान अन्तर्वस्तु है जो स्मृतिअनुभव को वास्तविक रूप प्रदान करती है. । वर्तमान अन्तर्वस्तु इन्द्रिय-प्रदत्त से इस बात से समानता रखती है कि वह भी इन्द्रिय-प्रदत्त की तरह निजी होती है। इस वर्तमान अन्तर्वस्तु को स्मृति-प्रतिमा कहते हैं । अतः कुछ दार्शनिकों का मानना है कि अतीत का ज्ञान प्रतिमाओं द्वारा होता है । लेकिन एयर के अनुसार अतीत के ज्ञान के लिए प्रतिमाएँ स्मृति का निर्माण नहीं करती हैं बल्कि स्मृति के घटित होने में सहाय्यक होती हैं । एयर के अनुसार ऐसे मामलों में भी जहाँ कोई व्यक्ति दृष्ट वस्तु का स्मरण करता है तो उसमें उसकी वर्तमान प्रतिमा का होना आवश्यक नहीं है ।[३] अतः किसी घटना का स्मरण या उसके बारे में कोई बात बिना प्रतिमा के भी कर सकते हैं । यदि प्रतिमाएँ होती भी हैं तो ये एक दूसरे के मध्य हस्तक्षेप नहीं करती हैं । उसकी दृष्टि में प्रतिमाओं के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्मृति में केवल सहायक भूमिका निभाती हैं ।[४] ये किसी वस्तु की अनुकृतियाँ होती हैं। यदि उन्हें वस्तुओं की व्याख्या से पृथक् करते हैं, तब वे केवल सजावट की वस्तु रह जाती हैं। इस प्रकार एयर के अनुसार किसी अतीत की घटना का स्मरण करने में कोई एक निश्चित कारक नहीं होता है ।

एयर के विपरीत रसेल का दृष्टिकोण यह है कि वह स्मृति के लिए प्रतिमा को आवश्यक मानता है । उसके अनुसार सत्य स्मृति वह है जिसमें स्मृति-प्रतिमा निहित होती है । उसकी दृष्टि में अतीत का ज्ञान प्रतिमाओं में निहित होता है ।[५]

रसेल की तरह ह्यूम भी यह मानता है कि जब अतीत की घटना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्मरण किया जाता है तो वह घटना हमारे मस्तिष्क में नहीं होती है, केवल प्रतिमा हमारे मस्तिष्क में होती है । जेम्स भी स्मृति के लिए प्रतिमा को स्वीकार करता है, लेकिन ऐसे मामलों में जहाँ अतीत का स्मरण प्रतीकात्मक रूप से या प्रत्ययात्मक रूप से किया जाता है, वहाँ वह प्रतिमा की आवश्यकता नहीं समझता है । फिर भी वह कहता है कि सभी प्रत्ययात्मक ज्ञान अन्तर्सूझात्मक ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है । इसलिए वह केवल उन स्मृतियों तक सीमित रहना उचित समझता है जिनमें अतीत प्रत्यक्ष रूप से प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत होता है या जो अन्तर्सूझ द्वारा जाना जाता है ।[६]

जेम्स के उपरोक्त मत में कठिनाई बताते हुए एयर कहता है कि अन्तर्सूझात्मक ज्ञान, जिसमें प्रत्ययात्मक ज्ञान का निहित होना समझा जाता है, हमारे वर्तमान अनुभव के अन्तर्वस्तुओं का ज्ञान है और प्रतिमा जिसको वर्तमान अन्तर्वस्तु समझा जाता है वह हमको अतीत के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं देती है ।[७] नारमन मेलकॉम ने भी प्रत्यक्षात्मक स्मृति को मानसिक प्रतिमा के अर्थ मे लिया है और वह कहता है कि ''किसी वस्तु को किसी व्यक्ति के मानस में देखना या सुनना उस वस्तु की मानसिक प्रतिमा रखना है'' ।[८] इस प्रकार वह प्रतिमाओं को प्रत्यक्षात्मक स्मृति में आवश्यक मानता है ।

लेकिन एयर का दृष्टिकोण इससे पूर्णतया भिन्न है । वह इस बात को स्वीकार करता है कि प्रतिमाओं की उपस्थिति की विशेषता केवल दृष्टि सम्बन्धी मामलों में उचित हो सकती है, अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है । उसके अनुसार यदि स्मृतिअनुभव में वर्तमान अन्तर्वस्तु प्रतिमा के रूप में होती है तो भी प्रतिमा हमारे और अतीत के मध्य प्रतीत नहीं होती है । हम अपने आपसे कहते हैं कि 'ऐसा हुआ' यह नहीं कहते हैं कि 'इसके समान हुआ।' प्रतिमा को पारदर्शक समझते हुए हम उसका मनोवैज्ञानिक रूप से अतीत की घटना के साथ तादात्म्य करते हैं ।[९]

एयर अतीत की घटनाओं के ज्ञान का स्रोत स्मृति के निर्माण में प्रतिमा एवं परिचयात्मक अनुभूति को मुख्य तत्त्व नहीं मानता है । लेकिन रसेल इन्हें स्मृति के निर्माण में मुख्य तत्त्व मानता है । उसके अनुसार परिचयात्मक अनुभूति एवं उस अनुभूति के आधार पर होने वाला विश्वास, दोनों में भिन्नता पायी जाती है । परन्तु वूजले कहता है कि परिचयात्मक अनुभूति उस विश्वास का ही एक अंश है जिसमें हम यह अभिव्यक्ति करते हैं कि 'यह पहले कहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घटित हुआ है ।'[१०] उसके दृष्टिकोण में स्मृति-प्रतिमा के लिए 'परिचित'पद उपयुक्त नहीं है । इसके लिए वह 'उचितता की अनुभूति' पद को उपयुक्त मानना है ।

स्मृति-प्रतिमा का उद्देश्य मनुष्यों में अतीत के अनुभव का यथार्थ विश्वास शीघ्र उत्पन्न करने की अनुभूति पैदा करना है । ऐसे विश्वासों को बिना प्रतिमा के उत्पन्न नहीं किया जा सकता है । किसी वस्तु को याद करने में ही उसकी सही व्याख्या निहित रहती है । इस अर्थ में स्मृति निश्चित रूप से ज्ञान का एक स्रोत है. ।

ज्ञान एवं स्मृति में सामान्य बात यह है कि उनमें केवल सही उत्तर ही प्राप्त करना नहीं है अपितु निश्चित होने का अधिकार भी होना चाहिए । जिस प्रकार जानने की क्रिया एक विशेष मानसिक स्थिति में नहीं होती है उसी प्रकार स्मरण करने की क्रिया भी किसी एक विशेष मानसिक स्थिति में नहीं होती है ।[११]

स्मृति को अन्य प्रकार के अभिलेखों से पृथक् किया जाता है, लेकिन इसके पृथक्करण का कोई स्पष्ट कारण दिखायी नहीं देता है ।

दार्शनिक द्वारा 'घटनाओं की स्मृति' या 'तथ्यात्मक स्मृति' और 'आदत स्मृति' में भेद किया गया है । 'आदत स्मृति' में घटना का अनेक बार स्मरण करने के फलस्वरूप आदत बन जाती है । 'घटनाओं की स्मृति' या 'तथ्यात्मक स्मृति' में अतीत की घटना को केवल प्रथम बार ही स्मरण करने की बात होती है । सामान्यतया घटनाओं की स्मृति को ही वास्तविक स्मृति माना गया है । यद्यपि दोनों प्रकार की स्मृतियों में भेद पूर्णतया स्पष्ट नहीं है । एयर एवं रसेल दोनों 'घटनाओं की स्मृति' से सहमति रखते हैं और 'आदत स्मृति' को अस्वीकार करते हैं । इन दोनों की तरह जेम्स भी 'घटनाओं की स्मृति' को स्वीकार करता है । 'घटनाओं की स्मृति' का संबंध केवल व्यक्ति के स्वयं के पूर्व अनुभव से ही होता है । एयर के अनुसार इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी घटना का स्मरण करने में व्यक्ति जो किसी घटना की प्रतिमा देखता है वह उसके स्वयं के अतीत के अनुभव की प्रतिमा होती है। ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति उन घटनाओं का स्मरण कर सकता है जिसको उसने स्वयं अनुभव नहीं किया है या नहीं देखा । इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस घटना का स्मरण किया जाता है उसके बारे में सत्य विश्वास होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिए । यह एक आवश्यक शर्त है परन्तु पर्याप्त नहीं है । वह कहता है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो स्मरण के प्रत्येक उदाहरण में सामान्यतया विद्यमान् हो । कभी-कभी हम केवल यही कहते हैं कि 'हाँ, मुझे याद है ।'[१२] उसके अनुसार यह कहना हास्यास्पद लगता है कि एक व्यक्ति अनेक शरीरों में रहता है और उनके अतीत की घटनाओं को अपने अतीत के जीवन की घटना बताता है । कुछ लोग ऐसी स्मृतियों को स्मृति नहीं मानते हैं । वे इस आधार पर यह बात करते हैं कि कोई व्यक्ति उन अनुभवों का स्मरण नहीं कर सकता है जो उसके जीवन में घटित हुए ही नहीं हैं । एयर का यही कहना है कि हमको घटनाओं की स्मृति को एक व्यक्ति के स्वयं के अतीत के अनुभव तक ही सीमित करने की कोई तार्किक आवश्यकता नहीं है ।[१३]

साधारण यथार्थवादी इस मामले में हमारे अनुमान के औचित्य की आवश्यकता नहीं समझते हैं । उनके अनुसार कुछ स्मृतियाँ स्वतःप्रमाण होती हैं । एयर का कहना है कि कुछ ऐसे मामले होते हैं जिसमें न केवल एक व्यक्ति की स्मृतियाँ अन्य व्यक्ति से विरोधी होती हैं बल्कि एक व्यक्ति की स्मृतियाँ आपस में भी विरोधी होती हैं। इसलिए यह तथ्य कि मनुष्य दोनों विकल्पों को याद कर सकता है, इस बात का प्रमाण है कि कुछ स्मृति-अनुभव सत्य होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि सत्य और भ्रामक स्मृतियों में कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं है । साधारण यथार्थवादियों का मत कि स्मरण की क्रिया एक प्रकार की ज्ञानात्मक क्रिया है जिसमें गलती की सम्भावना नहीं होती है, एयर को स्वीकार नहीं है ।

एयर के अनुसार अतीत की अवधारणा केवल स्मृति की क्रिया से ही उत्पन्न नहीं हो सकती है । किसी घटना को स्मृति घटना समझने के पहले अतीत की अवधारणा को समझना जरूरी है । यदि अतीत का प्रत्यय स्मृति द्वारा पहले ही जान लिया जाता है तो वह स्मृति पर आधारित नहीं हो सकता है ।[१४] साधारण यथार्थवादियों के अनुसार अतीत की अवधारणा की व्याख्या इसी बात से हो जाती है कि अतीत का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप से होता है । लेकिन एयर की दृष्टि में यह व्याख्या उचित नहीं है । उसका कहना है कि कोई प्रतिमा हमारे समक्ष केवल इन शब्दों के साथ ही प्रस्तुत होती है कि 'मैं अतीत हूँ' तो इससे कोई अतीत की अवधारणा नहीं बनती है । जब तक इस प्रतिमा का यह अर्थ न लगाया जाए कि वह अतीत का संकेत करती है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तब तक इसका कोई अर्थ नहीं निकलता है ।[१५] इस प्रकार एयर का यह मानना है कि कोई अतीत की घटना जो हमारे समक्ष होती है तो हमको अतीत से संबंधित अर्थ में ही समझना चाहिए । जब हम उसको अतीत से संबंधित होने का अर्थ लगाते हैं तो हमारे अतीत की अवधारणा उस घटना से स्वतंत्र रूप से होनी चाहिए ।

अतीत की अवधारणा के संबंध में एयर स्मृति के प्रत्यय को समझने में कालिक अग्रगमिता के संबंध का महत्त्व बताता है । वह कहता है कि कालिक अग्रगामिता का संबंध हमारे अनुभव में प्रत्यक्ष रूप से होता है । यह एक प्रकार का प्रदत्त है । लेकिन इस संबंध में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि कालिक अग्रगामिता के संबंध को अगर अनुभव में प्रदत्त माना जाए तो इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति अतीत से और शायद भविष्य की घटनाओं से भी प्रत्यक्ष रूप से परिचित हो सकता है क्योंकि यदि कालिक अग्रगामिता के संबंध हमारे अनुभव में प्रदत्त होते हैं तो वे हमारे सत्याभासी वर्तमान में होने चाहिए । इस प्रकार सत्याभासी वर्तमान या तो एक क्षणिक घटना में ही समाप्त हो जाता है जो कि वास्तविक वर्तमान कहा जाता है या जैसा कि विल्यम जेम्स ने बताया कि यह वास्तविक वर्तमान घटना से परे दोनों दिशाओं की ओर फैला हुआ होता है । इन दोनों मान्यताओं से किसी भी मान्यता को हम लें तो उससे यह निगमित होता है कि जो घटनाएँ कालिक अग्रगामिता से संबंधित होती हैं उनमें केवल एक ही घटना ऐसी होती है जो वास्तविक वर्तमान की हो सकती है । लेकिन यदि अग्रगामिता के संबंध को प्रत्यक्ष रूप से जान सकते हैं तो हमें इस संबंध के दोनों पदों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष होना चाहिए । इस प्रकार की आपत्ति का उत्तर देते हुए एयर कहता है[१६] कि अगर 'अतीत' एवं 'भविष्य' शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि वे सत्याभासित वर्तमान के ही भाग बनते हों तो इस अर्थ में जो घटनाएँ अतीत एवं भविष्य की होती है तो उनको प्रत्यक्ष जाना जा सकता है । लेकिन यह भी केवल उसी सीमा तक कहा जा सकता है जहाँ तक घटनाओं को सत्याभासित वर्तमान के अन्तर्गत घटित होते हुए देखा जाता है । परन्तु इस प्रकार की व्याख्या अतीत की अवधारणा की मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान करना है । इससे हम यह कह सकते हैं कि सत्याभासित वर्तमान से परे घटनाओं का अस्तित्व होता ही नहीं है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एयर इस बात को स्वीकार करता है कि जिस घटना को वास्तविक वर्तमान घटना समझा जाता है उसमें भी कालावधि हो सकता है । लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जिन सभी घटनाओं का मानक मानते हैं, उन सबका एक कालावधि होता है । छोटी घटनाएँ वर्तमान को बहुत ही अधिक सीमित कर सकती हैं । फिर भी सत्याभासित वर्तमान की अवधारणा का निषेध नहीं किया जा सकता है ।[१७] सी. डी. ब्रॉड इस संबंध में आपत्ति उठाता है। उसका कहना है कि अतीत वर्तमान और भविष्य के गुणों को कालिक अग्रगामिता के संबंधों में परिणत करना उचित नहीं है । उसके अनुसार इस प्रकार की धारणा में समय के प्रवाह को हम नहीं समझ सकते हैं जिसके अनुसार घटनाएँ निरन्तर वर्तमान में होती हैं फिर अतीत में चली जाती हैं । लेकिन एयर के मत में जहाँ तक समय के प्रवाह का प्रश्न है वह इन्हीं कालिक अग्रगामिता और अनुक्रमण से ही निर्मित होता है ।[१८] उसके अनुसार कालिक अग्रगामिता के संबंध को जब हम वर्तमान के प्रत्यय से संबद्ध करते हैं तब हमको अतीत एवं भविष्य के प्रत्यय प्राप्त होते हैं । उसका विश्वास है कि घटनाएँ कालिक अग्रगामेता की क्रमबद्धता में होती है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है । घटनाएँ स्वयं अतीत, वर्तमान एवं भविष्य नहीं होती हैं । उनके कालिक अग्रगामिता के आपसी संबंध काल के साथ परिवर्तित नहीं होते हैं। अगर कोई घटना अन्य घटना के पूर्व है तब वह उससे सदा पूर्व ही रहती है। घटनाओं के आपसी संबंध के रखने में कालिक विधयों के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं होता है । एयर के अनुसार संकेत का विषय ही परिवर्तनशील है जिसको वर्तमान माना जाता है । इसमें भ्रम यह होता है कि हम जिन क्रियाओं का प्रयोग करते हैं - जैसे पहले घटित होना साथ-साथ हो जाना या बाद में घटित होना उनको ही हम काल समझ लेते हैं । क्योंकि घटनाएँ एक दूसरे के अनुवर्ती होती हैं, अतः हम कालिक प्रक्रियाओं के सार्थकता की बात कर सकते हैं । लेकिन उनका इस प्रकार संबधित होना स्वयं कालिक प्रक्रिया नहीं है । इस प्रकार एयर इसका निराकरण करते हुए अतीत के कथनों के अर्थ की महत्ता की बात करता है ।

जो दार्शनिक अतीत के कथनों को वर्तमान और भविष्य में परिवर्तित करने की बात करते हैं उनकी गलती यह है कि वे मान लेते हैं कि किसी निर्देशात्मक वाक्य की काल की भिन्नता उस कथन की वास्तविक अन्तर्वस्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में भिन्नता लाती है जिसको वह अभिव्यक्त करता है । एयर इतना जरूर मानता है कि यह भिन्नता उन मामलों में जरूर हो सकती है जिनमें काल के प्रयोग से ही घटना का समय निश्चित किया जाता है । उसकी मान्यता है कि सभी मामलों में व्यक्ति वही बात स्पष्ट समय बताकर व्यक्त कर सकता है जिसमें किसी प्रकार के काल के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है और इससे घटना के अर्थ या तथ्य में कोई भिन्नता नहीं आती है चाहे उसकी अभिव्यक्ति भविष्य की हो, समकालीन हो या स्मृति की क्रिया हो । इस प्रकार वह कालरहित अभिकथनों की चर्चा करता है। अतः किसी अभिकथन की सत्यता अथवा असत्यता काल से स्वतंत्र होती है। ऐसे मामले में एक काल के स्थान पर अन्य काल का प्रतिस्थापन केवल घटना के संदर्भ में वक्ता की कालिक स्थिति ही बतलाता है, परन्तु कथन के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता है । जो साधारणतया गलती होती है वह यह है कि घटना के वर्णन को वक्ता की स्थिति से जोड देते हैं और इसमें काल का प्रयोग करते हैं । एयर के अनुसार घटना स्वयं का वर्णन और वक्ता का उससे कालिक संबंध ये दोनों बाते बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं । दोनों बातों को सम्मिलित करना उचित नहीं है । दोनों में किसी एक के बारे में सूचना किसी भी भाषा में दी जा सकती है। जिसमें काल का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता है ।

इस प्रकार एयर कालरहित कथन की बात करता है । उसका कहना है कि 'किसी कथन की प्रमाणीयता उसके अर्थ पर निर्भर करती है', भ्रामक है । वास्तव में किसी कथन का अर्थ उसकी प्रमाणीयता पर निर्भर करती है। अगर प्रमाणीयता कथन के अर्थ पर निर्भर करता है न कि प्रमाणीयता उसके अर्थपर निर्भर करती है तो प्रमाणीयता को अर्थ की कसौटी मानना हास्यास्पद होगा ।[११] ऐसा लगता है कि एयर के लिखने में यह एक महत्त्वपूर्ण गलती हो गयी है । उसके कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अगर हम किसी कथन के अर्थ को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं तो काल के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं रहता है । काल का प्रयोग करने से उसके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं आती है और एयर के अनुसार कथन का अर्थ उसको सार्थक बनाता है ।

किसी कथन के कालरहित होने की एयर द्वारा की गयी व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है । इसमें केवल भविष्य एवं अतीत काल के संबंध में ही कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है अपितु वर्तमान काल के संबंध में भी कठिनाई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्पन्न होती है । एयर के अनुसार जो प्रमाणीकरण योग्य है वह एक ऐसा कथन है जो विभिन्न कथनों के कालरहित होने से प्राप्त होता है । इसका अर्थ यह होता है कि जो कथन कालयुक्त होता है वह कालरहित कथन के आधार पर प्रमाणीकरण योग्य हो सकता है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों कथनों का अर्थ एक ही होता है । लेकिन एयर के अनुसार दोनों कथनों के अर्थ में तादात्म्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि जहाँ कालयुक्त कथन वक्ता के कालिक दृष्टिकोण को बतलाता है वहाँ कालरहित कथन इस प्रकार का कोई संकेत नहीं देता है । इस प्रकार यह समझ में नहीं आता है कि कालरहित कथन को कैसे प्रमाणित किया जाए ? एयर ऐसे कथनों में तिथि के प्रयोग की बात करता है । लेकिन किसी घटना के प्रेक्षण में कोई तिथि का प्रेक्षण निहित नहीं होता है क्योंकि तिथि किसी घटना का आवश्यक तत्त्व नहीं है । घटनाओं पर तिथियाँ अंकित नहीं होती हैं ।

एयर के अनुसार कोई भी घटना अपने आपमें न अतीत होती है, न वर्तमान होती है और न भविष्य होती है । ऐसा कहने में वह कालिक विधेयों के त्यागने की बात करता है और इसलिए वह कथनों में तिथियों की बात करता है । लेकिन वह इस बात को भूल जाता है कि अगर घटनाएँ अपने आप में अतीत, वर्तमान और भविष्य नहीं होती है तो वे अपने आप में तिथियुक्त भी नहीं होती है । इस प्रकार हम देखते है कि एयर द्वारा काल के स्थान पर तिथि का प्रयोग करने से कोई कठिनाई हल नहीं होती है ।

दर्शनशास्त्र विभाग डॉ. निर्मला जैन
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

1. Samuel Alexander, Space, Time & Deity, Macmillan & Co. Ltd., London, 1920, Vol. 1, p. 113.
2. Broad, C.D., The Mind & its Place in Nature, Littlefield Adams & Co., Paterson, New Jersey, 1960, p. 249.
3. Ayer, A. J., The Problems of Knowledge, Macmillan

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

& Co. Ltd., London, 1956, p. 156.
4. Ibid., p. 157.
5. Russell, B., The Analysis of Mind, George Allen & Unwin Ltd., London, 1921, Lecture 9.
6. James W., The Principles of Psychology, I, New York, 1890, p. 649.
7. Ayer, A. J., The Origin of Pragmatism, Macmillan & Co. Ltd., London, 1968, p. 252
8. Malcolm, Norman, Knowledge & Certainty, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, N.J., 1963, p. 207.
9. Ayer, A. J., The Problems of Knowledge, p. 156.
10. Woozley, A. D., Theory of Knowledge, Hutchinson's University Library, London, 1949, p. 46.
11. Ayer, A. J., The Problems of Knowledge, p. 156.
12. Ibid.
13. Ibid., p. 162.
14. Ibid., 170.
15. Ibid., p. 169-70.
16. Ayer, A. J., Philosophical Essays, Macmillan & Co. Ltd., London, 1954, p. 179.
17. Ibid., p. 180.
18. Ibid.
19. Chandra Suresh, A Study in Ayer's Epistemology, The Centre of Advanced Study in Philosophy, VisvaBharati, Shantiniketan, West Bengal India, 1970, p. 122.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भगवद्गीता एवं सांख्यदर्शन में प्रकृतिसिद्धान्त

भगवद्गीता तथा सांख्य-दर्शन में प्रकृति की व्याख्या की गयी है । भगवद्गीता में प्रकृति को दो कोटियों में रखा गया है, जिसे 'परा-प्रकृति' एवं 'अपरा प्रकृति' के रूप में अभिहित किया गया है । 'परा' एवं 'अपरा' प्रकृतियों को ही चराचर सम्पूर्ण भूतों का कारण बतलाया गया है । अपरा प्रकृति जो कि आठ प्रकारों में विभाजित है, जड प्रकृति के रूप में जानी जाती है, तथा परा-प्रकृति जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् धारणा किया जाता है, चेतन प्रकृति है । सांख्य की दृष्टि में प्रकृति अविश्लेष्य है एवं पुरुष भी अविश्लेष्य है । इसलिए सांख्य प्रकृति एवं पुरुष रूपी असंवेद्य तत्त्वों को परस्पर निरपेक्ष स्वप्रतिष्ठ मानता है । किसी देश या काल में केवल पुरुष या शुद्ध प्रकृति प्राप्तव्य नहीं है । जो प्राप्तव्य या ध्येय सांख्यदर्शन के अनुसार है वह अवश्य ही 'चित्-जड का संघात-भूत पदार्थ' होगा ।

भगवद्गीता एवं सांख्य दर्शन में प्रकृति का विचार करने के लिए दो बिन्दुओं पर विचार करना अत्यावश्यक होगा । जिस प्रकृति-सिद्धान्त का विचार भगवद्गीता में हुआ है वह और सांख्य की प्रकृति दोनों एक ही हैं या कुछ अन्तर भी है ? किस पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भगवद्गीता में प्रकृति सिद्धान्त को व्याख्यायित एवं परिभाषित किया गया । भगवद्गीता में ज्ञान-विज्ञान का प्रकरण आरम्भ करते हुए कृष्ण ने अपरा एवं परा प्रकृतियों के स्वरूप को बतलाया है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार-इस प्रकार आठ प्रकारों में विभाजित अपरा अर्थात् जड प्रकृति के विषय में भगवद्गीता में वर्णन मिलता है, और कृष्ण ने कहा है कि दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, वह जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति के आठ रूप में जानी जाती है ।

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥[१]

भगवद्गीता के अनुसार अपरा अर्थात् जड प्रकृति के तेईस कार्य बतलाये गये हैं । उसी को यहाँ आठ भेदों में विभक्त बतलाया गया है । यह अपरा प्रकृति ज्ञेय तथा जड होने के कारण ज्ञान चेतन जीवरूपा परा-प्रकृति से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसार का हेतुरूप है और इसी के द्वारा जीव का बन्धन होता है । चर एवं अचर समस्त सजीव प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन अपरा (जड) और परा (चेतन) प्रकृतियों के संयोग से ही होती है । इसलिए उनकी उत्पत्ति में ये ही दोनों कारण हैं यही बात भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के नाम से कही गई है । आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जानने वाले की प्रशंसा करते हुए कृष्ण कहते हैं कि जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान !

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥[२]

शंकराचार्य के अनुसार क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का संयोग या समन्वय ही अध्यास कहलाता है ।[३] सम्पूर्ण जीवन आत्म और अनात्म के बीच का व्यापार है ।[४] अपरा प्रकृति ही क्षेत्र है और जो उसको जानने वाला है, जिसको परा-प्रकृति कहा गया है वह 'क्षेत्रज्ञ' है । क्षेत्र तथा क्षेत्र के विकारों के सम्बन्ध में कृष्ण ने कहा है कि पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूल-प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति - इस प्रकार विकारों के सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है ।[५] सांख्य-कारिका में प्रकृति का वर्णन किया गया है कि एक मूल प्रकृति है, वह किसी की विकृति (विकार) नहीं है । महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये सात प्रकृति-विकृति हैं । पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन ये सब केवल विकृति हैं वे किसी की प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं ।[६]

योगदर्शन में विशेष अर्थात् पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, एक मन और पंच स्थूल भूत, अविशेष अर्थात् अहंकार और पंचतन्मात्राएँ लिङ्गमात्र यानी महत् और अलिङ्ग अर्थात् मूलप्रकृति - ये चौबीस तत्त्वगुणों की अवस्थाविशेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं । इन्हीं को दृश्य कहते हैं ।[७] योगदर्शन में जिसको दृश्य कहा गया है उसे ही गीता में क्षेत्र कहा गया है ।

सांख्यकारिका में प्रकृति के लिए जो वर्णन मिलता है उसके अनुसार सूक्ष्म होने के कारण उसकी (प्रकृति की) उपलब्धि नहीं होती, अभाव के कारण नहीं, क्योंकि कार्यों से उसकी उपलब्धि होती है । यह कार्य महत् तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ हैं जो प्रकृति के स्वरूप भी हैं और उसके विरूप भी हैं । प्रकृति के कार्य महदादि प्रकृतिके स्वरूप भी हैं, विरूप भी । प्रकृति के जो तीन अङ्ग हैं - सत्त्व, रज और तम वे असंभिन्न शक्तिप्रविभाग हैं, अतः वैषम्यावस्था में भी गुण अपने स्वभाव से अप्रच्युत ही रहते हैं ।[९]

गुणप्रधान भावरूप वैषम्य होने के कारण जैसी भिन्नता होनी चाहिए, वैसी भिन्नता ही होती है । गुणप्रधान भाव की हेतुमत्ता को ध्यान से विचारने पर यह स्वतः ज्ञात होता है कि महतादि व्यक्त पदार्थ क्यों अनित्य, सक्रिय, आश्रित, अनेक लयशील, सावयव और परतन्त्र होते हैं ।[१०] शंकराचार्य ने प्रकृति के लिए कहा है कि प्रकृति भ्रम है । और प्रकृति ईश्वर का शरीर एवं इन्द्रियाँ है । यह क्षेत्र है जो कि क्षेत्रज्ञ के लिए है । शंकराचार्य के अनुसार प्रत्येक कर्म ब्रह्म के अन्तर्गत ही होते हैं, जबकि ब्रह्म निर्गुण, निर्विकार तथा निराकार है - अतः समं ब्रह्मैकं च ।[११]

भगवद्गीता प्रकृति को दो प्रकारों में विभाजित करके उन्हें अविद्या और विद्या नाम से अभिहित करती है, जो कि माया के तीन रूपों की तरह है । प्रकृति जब सृष्टि का निर्माण करती है, उसका निर्माणकर्ता यद्यपि कोई वैयक्तिक आत्मा लगता है, परंतु सम्पूर्णता में देखने पर माया ही मूल है । विद्या, कर्म और अविद्या तीनों सत्त्व, रजस् एवं तमस् के गुणरूप हैं और समय ही तीनों गुणों एवं प्रकृति में क्षेत्र उत्पन्न करता है, जिससे कि गुण, महत् के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं ।[१२]

भगवद्गीता एवं सांख्य में प्रकृति-सिद्धान्त को लेकर कुछ समानताएँ प्रतीत होती हैं । सांख्य के विकासवाद एवं तत्त्वों की व्याख्या जो कि मूल प्रकृति के ही कारण होते हैं, भगवद्गीता में वर्णित अपरा प्रकृति की तरह हैं । जिस प्रकार सांख्याचार्यों ने प्रकृति के अन्तर्गत चौबीस तत्त्वों को स्वीकार किया है, उसी प्रकार भगवद्गीता में भी प्रारम्भ में अपरा-प्रकृति के आठ भेदों को माना है । (गीता ७.४५) और आगे चलकर पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दस इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति (गीता १३.५-६) के रूप में विकसित किया है, परंतु सांख्य इसके आगे नहीं बढता है और यहीं रुक जाता है, जिसके कारण सांख्य आत्मा (पुरुष) एवं प्रकृति के बीच एक द्वैत या भेद का सम्बन्ध स्थापित कर देता है। भगवद्गीता भी अपराप्रकृति के अन्तर्गत इस प्रकार रुकता है परंतु वह सम्बन्ध केवल माया है।[१३] तीनों गुण, सामान्यतया भगवद्गीता में इसी माया का परिणाम हो सकते हैं। यह कुछ भी नहीं हुआ। भगवद्गीता इसके आगे भी जाती है और गीता में एक उच्च सिद्धान्त है। परा प्रकृति भी एक परा या परम प्रकृति भी है जिसे परब्रह्म या मुख्य नियंता भी कहा जाता है और वह स्वयं ईश्वर है। प्रकृति उस परमसत्ता की परछाई मात्र है। प्रकृति परब्रह्म या परमसत्ता की संकल्प-शक्ति है। ईश्वर से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है

मत्तः परतरं नान्यकिंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

भगवद्गीता में कृष्ण ने कहा है कि 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी कारण नहीं है, और जो भी सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं और जो रजोगुण तथा तमोगुण से होने वाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होते हैं' ऐसा जान। परंतु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं।[१५] सांख्य दर्शन में सत्त्वगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण तीनों प्रकृति के कारण हैं। 'गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः' जबकि भगवद्गीता में ऐसा वर्णन मिलता है जिसके अनुसार ईश्वर (कृष्ण) समस्त त्रिगुणमय भावों के कारण एवं आधार हैं तथापि वास्तव में गुण ईश्वर में नहीं हैं, और ईश्वर गुणों में नहीं है। ईश्वर तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं। तथा नित्य अपने आप में ही स्थित है। इसीलिए वे कहते हैं कि, 'उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं', ब्रह्म के लिए इसी प्रकार का भाव शारीरक भाष्य में शंकराचार्य का भी है। शंकराचार्य ने भी शारीरक भाष्य में ब्रह्म के लिए एवं मोक्ष के लिए कहा है कि यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकारों से रहित है इत्यादि लक्षण ब्रह्म एवं मोक्ष के स्वरूप लक्षण हैं।[१६]

इस प्रकार भगवद्गीता में जिस सांख्य सिद्धान्त का वर्णन मिलता है, वह सांख्य सिद्धान्त एवं महर्षि कपिल द्वारा जिस सांख्य सिद्धान्त का वर्णन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मिलता है, दोनों में समानताओं के होते हुए भी बहुत अन्तर है, और जैसा कि आचार्य वाचस्पति मिश्र सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका में कहते हैं - सर्गादावादि विद्वान् आत्मभगवान् कपिलो महामुनिः धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यसम्पन्न प्रादुबभूव । गौडपादाचार्य भी कहते हैं 'भगवतश्चकारो भावाः सहोत्पन्नाः धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याख्याः तत् ध्यानं प्रथमा सुरये, आसुरि पञ्चशिखाचार्याय पञ्च शिखाचार्येश्वर कृष्णायोपदिदेश ।' भगवद्गीता में भी कहा गया है - सांख्ययोगौ पृथकग्बालाः प्रवदन्ति पण्डिताः'।

दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरिश्चन्द्र
गोपेश्वर महाविद्यालय, हथुआ,
गोपालगंज (बिहार) - ८४१४३६

टिप्पणियाँ

१. भगवद्गीता, ७.४-५
२. वही, १३.२६
३. श्रुतिपरायणः केवल परोपदेशप्रमाणः स्वयं विवेकरहितः । भगवद्गीता शांकरभाष्य
४. All life is a commerce between self and not-self, Radhakrishan, S., The Bhagavatgita, p. 310
५. महाभूतन्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दर्शकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःख संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ गीता, १३.५-६
६. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडषकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ सांख्यकारिका ३
७. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि । योगसूत्र २/९
८. सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिस्वरूपं विरूपं च । सांख्यकारिका, ८
९. भट्टाचार्य, रामशंकर, सांख्यतत्त्वकौमुदी, (ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र कृत तत्त्वकौमुदी का हिन्दी अनुवाद एवं ज्योतिष्मति व्याख्या) मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, वाराणसी, पृ. ७३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१०. वही
११. भगवद्गीता, शांकरभाष्य
१२. भट्टाचार्य, सिद्धेश्वर, भागवत-दर्शन, खण्ड १, पृ. ३१-३८
१३. Sir Aurobindo, Essays on Gita, p. 255
१४. भगवद्गीता
१५. वही, ७/१२
१६. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रिया-रहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण, कालस्य च नोपावर्तेते, तदेतत्, अशरीरत्वं मोक्षारख्यम । ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य १.१.४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभाव मीमांसा

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अपूर्ण है वह किसी न किसी कमी तथा अभाव का शिकार है, धन है तो ज्ञान नहीं है, ज्ञान है तो विनय नहीं है, विनय है तो मान नहीं है, मान है तो निरभिमान नहीं है । किसी के पास प्रसाद है तो प्रासाद नहीं है, भोग है तो योग नहीं है, दस रुपये वाले के पास सौ रुपये नहीं हैं, सौ रुपये वाले के पास हजार, लाख, करोड तथा अरब नहीं हैं ।[१] कोई भोजन के बिना भूखा है कोई वस्त्र के बिना नंगा है । इस प्रकार 'नहीं है', 'नहीं है' इस अनुगताकार निषेधकोटि से व्यक्त की जाने वाली पद्धति का नाम अभाव है ।

भारतीय दर्शन साहित्य के विवादास्पद विषयों में अभाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके अस्तित्व अनस्तित्व तथा ज्ञान के बारे में विभिन्न विचारधशराएँ प्रचलित हैं । अभाव के विषय में जो सबसे पहला प्रश्न हमारे मन में उत्पन्न होता है और जिस पर भारतीय दर्शन में पर्याप्त विवेचन हुआ है वह है अभाव का स्वरूप क्या है ? क्या अभाव सचमुच में कोई वस्तु है या केवल मानसिक प्रत्यय है?

अभाव जहाँ न्यायवैशेषिक तथा भाट्टमीमासंकों को अतिरिक्त पदार्थत्वेन अभिमत है वहीं प्राभाकर मीमांसक इसका दृढता से खण्डन करते हैं और इसे अधिकरण तथा ज्ञानरूप सिद्ध करते हैं । न्यायवैशेषिकदर्शन अभाव की ग्राह्यता के लिए प्रत्यक्ष का समर्थन करते हैं । यद्यपि 'दर्शपदार्थशास्त्र' के रचयिता चन्द्रमुनि ने अभाव की प्रत्यक्षग्राह्यता का खण्डन किया है किन्तु उत्तरवर्ती सभी नैयायिक एवं वैशेषिक आचार्यों ने इसकी प्रत्यक्षग्राह्यता में अविरोध माना है । वास्त्यायन ने भी न्यायभाष्य में 'तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति' इस पंक्ति द्वारा प्रत्यक्षग्राह्यता स्वीकार की है । यद्यपि इसी सम्प्रदाय के प्रशस्तपाद जैसे कुछ आचार्य इसका खण्डन कर अनुमानगम्यता को ही वैधता प्रदान करते हैं ।[२] जबकि भाट्ट मतवादी अभाव को अधिकरण रूप तो मानते हैं परन्तु वे अभाव के ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते प्रत्युत् भाट्ट मीमांसकों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाँति उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार करते हैं । बौद्धों ने अभाव की परमार्थसत्ता का विरोध करते हुए उसे मात्र संवृत्तिसत् माना है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह विज्ञात होता है कि अभाव की सत्ता तथा उसके ज्ञान को लेकर भारतीय दार्शनिकों के मध्य परस्पर सहमति का नितान्त संकट है जो कि चिन्तनीय है । अभाव को पदार्थ न मानने में आधुनिक विद्वानों की मनोदशा इस प्रकार है : कुछ आधुनिक चिन्तक अभाव को इसलिए पदार्थ के रूप में अनभिमत मानते हैं क्योंकि वैशेषिक दर्शन के प्रणेता प्रमाणपुरुष महर्षि कणाद ने स्वयं अपने सूत्र में भावपदार्थ के अतिरिक्त अभाव की चर्चा नहीं की जैसा सूत्र से स्पष्ट है -

धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय-
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानन्निश्रेयसाधिगमः ।।[३]

यहाँ ध्यातव्य है कि महर्षि कणाद के सूत्र की विशिष्ट विवेचना किए बिना उसके अभीष्ट निहितार्थ को समझे बिना यत्किञ्चिद् अवबोधन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि कणाद अभाव को नहीं मानते सर्वथा भ्रान्त एवं अस्वीकार्य होगा। क्योंकि महर्षि ने भले ही स्पष्ट रूप से अभाव शब्द का उल्लेख कर अभावत्वेन अभाव को पदार्थ न कहा हो लेकिन जहाँ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय का उल्लेख कर इनके साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से निःश्रेयसप्राप्ति का निरूपण करते हैं, वहाँ वैधर्म्य पद में अभाव की स्पष्ट भावना अभिप्रेत है अन्यथा वैधर्म्य शब्द का निर्वचन कर पाना कदापि एवं कथमपि संभव नहीं हो सकता। क्योंकि एक से अधिक में रहने वाले समान धर्म को ही साधर्म्य कहते हैं और न रहने वाले धर्म को वैधर्म्य कहते हैं, जैसे, यावत् घटों में समान रूप से रहने वाले घटत्व को घटों का साधर्म्य कहते हैं और पटादिकों में नहीं रहने के कारण उसे उसका वैधर्म्य मानते हैं इस 'नहीं रहने का' ही नाम अभाव है । अतः यह कहना कि वैशेषिक सम्प्रदाय आदि के आचार्य अभाव को नहीं मानते सर्वथा अविवेकपूर्ण एवं असंगत है । लक्षणावली में उदयनाचार्य ने भी अभाव को 'नञर्थप्रत्यय विशेष' तथा निषेधार्थक प्रतीत का विषय माना है ।[४]

न्यायवैशेषिक परम्परा में वस्तु की सत्ता भाव और अभाव इन दो रूपों में कल्पित है जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये भावपदार्थ विध्यात्मक प्रतीति के विषय हैं । जैसे यहाँ घड़ा है (अत्र घटोऽस्ति) यह एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विध्यात्मक प्रतीति है इसका विषय घट है, इसी प्रकार यहाँ घट नहीं है (अत्र घटो नास्ति) यह एक निषेधात्मक प्रतीति है इसका विषय है घटाभाव । इस घटाभावात्मक ज्ञान को निर्विषयक नहीं कहा जा सकता अन्यथा विध्यात्मक ज्ञान की भी निर्विषयकत्वापत्ति हो जाएगी और साथ ही बौद्ध विज्ञानवादियों के निरालम्बनवाद का समर्थन भी हो जायेगी जो कथमपि स्वीकार्य नहीं है, और यदि 'अत्र घटोनास्ति' इस ज्ञान का विषय घटाभाव न मानकर कथञ्चित् घट मान लें तो घटोऽस्ति, घटोनास्ति इन दोनों प्रतीतियों में कोई भेदक तत्त्व नहीं स्थापित हो सकेगा जिससे सर्वाधिक अननुकूल समस्या यह होगी कि जिस प्रकार घट अस्तित्व की बोधनेच्छा से घटोऽस्ति यह व्यवहर्तव्य है उसी प्रकार घटो नास्ति यह भी व्यवहरणीय हो जायेगा जो पूर्णतः अशास्त्रीय है। इसलिए घटो नास्ति इस प्रतीति का विषय घट न होकर घटाभाव ही है ।

यहाँ यह विश्लेषणीय है कि अभाव की बाह्यार्थता का सबसे बड़ा पक्षधर न्यायवैशेषिक है किन्तु न्यायवैशेषिक दर्शन में भी इसके स्वरूप के विषय में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि अभाव की परिकल्पना न्याय और वैशेषिक के आरम्भिक ग्रंथों से ही मिलनी आरम्भ हो जाती है परन्तु महर्षि गौतम, महर्षि कणाद आदि पूर्वाचार्यों ने अपने आरम्भिक ग्रंथों में न तो अभाव को शब्दशः पदार्थान्तर का दर्जा प्रदान किया और न ही कोई ऐसा व्यवस्थित साक्ष्य प्रस्तुत किया जिससे इसको एक बाह्यार्थ स्वीकार करने में अनापत्ति हो सके ।

अभाव की बाह्यार्थता के संदर्भ में प्रथम संकेत उद्योतकार के न्याय-वार्तिक से प्राप्त होता है ।[५] इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की व्याख्या करते हुए उद्योतकार ने प्रस्तुत किया है कि समवाय और अभाव को विशेषण-विशेष्याभाव के द्वारा प्रत्यक्षतः ग्रहण किया जाता है ।[६] अभाव के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने का तात्पर्य है कि अभाव एक बाह्यार्थ है । उद्योतकार के कथन की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र अभाव के अपने आधार से पृथक् वस्तु होने के लिए युक्तियाँ प्रतिपादित करते हैं । जयन्त ने अभाव की बाह्यार्थता का विस्तृत विवेचन किया है ।[७]

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अभाव शब्द का आनुपूर्वी अभिधान कर इसको पदार्थान्तर के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जैसा कि पहले कहा जा चुका है लेकिन फिर भी उनकी अभिमत भावना में तथा प्रतिपादित व्याख्या में अभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पदार्थ की पार्थक्येन प्रसिद्धि संकेतित होती है जैसा कि कणाद ने अभाव के पदार्थत्व की चर्चा तो नहीं की लेकिन उसके भेदों का तार्किक रूप से उल्लेख किया जो कहीं उनके अभावपदार्थत्व की संकल्पना को इंगित करता है । न्याय दर्शन के एक अन्य व्याख्याकार न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने अभाव को पृथक् पदार्थ न स्वीकार करनेवालों पर टिप्पणी करते हुए कहा - यदि अभाव का पृथक् पदार्थत्व नहीं स्वीकार किया जायेगा तो द्रव्यादि छः पदार्थों का द्रव्य के रूप में, गुण के रूप में, कर्म के रूप में, सामान्य के रूप में, विशेष के रूप में, तथा समावाय के रूप में भेद कर पाना कथमपि संभव नहीं हो सकेगा क्योंकि इसका विभाजन अभाव पर ही आधारित है, जैसे- द्रव्य गुणादि पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है उसका गुणादिपदार्थों में अभाव है। इसी प्रकार गुण, द्रव्य तथा कर्मादिपदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसका जो स्वरूप है वह द्रव्य तथा कर्मादि पदार्थों में नहीं है । अतः आचार्यों ने अभाव की पृथक् पदार्थ के रूप में जो संकल्पना की है वह सार्थक तथा युक्तियुक्त है।

यद्यपि कुछ विद्वानों का यह भी मन्तव्य है कि महर्षि कणाद ने अपने कतिपय सूत्रों 'कारणाभावत्कार्याभावः' (वै. सू. १.२.१) इत्यादि में अभाव शब्द का समावेश किया है जो सिद्ध करते हैं कि उन्हें अभाव की बाह्यवस्तुसत्ता स्वीकार्य थी । इसी प्रकार महर्षि गौतम ने भी अपने कुछ सूत्रों 'असत्यर्थे नाऽभाव इति चेत् ? न अन्यलक्षणोपपत्तेः (न्या. सू. २.२.९) आदि में अभाव का शब्दशः आनुपूर्वी उल्लेख किया है ।

अभाव के संदर्भ में एक और बिन्दु यह ध्यातव्य है कि कोई भी वाक्य चाहे वह विध्यात्मक हो या फिर निषेधात्मक किसी न किसी वास्तविकता को व्यक्त करते हैं जिस प्रकार निषेधात्मक वाक्य वस्तुसत्ता की स्थापना करते हैं उसी प्रकार निषेधात्मक वाक्य भी वस्तुसत्ता का ही उद्‌घाटन करते हैं । दृष्टान्ततः जब हम यह कहते हैं कि यह घडा नहीं है तो हम जाने-अनजाने अभाव को सिद्ध कर रहे होते हैं । अर्थात् इदन्त्वेन उद्दिष्ट इस वस्तु में घट का अभाव है यह स्थापित करते हैं । किसी वस्तु का किसी स्थान पर उपस्थित न होना उस वस्तु का वन्ध्यापुत्र, शशशृंग, तथा खपुष्प की तरह नितान्त असत् होना नहीं है अपितु तद्देशावच्छेदेन तत्कालावच्छेदेन उसके भावरूप का निषेध है इसी निषेध का अभिप्राय अभाव है ।[८] इसका समर्थन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निम्न शब्दपंक्ति से होता है-

Judgements form no exception to this rule (I.P.S., Vol. 1.130)

अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सिद्धि के प्रसंग में पं. गोपीनाथ कविराज कृत (GHBNV) पुस्तक की निम्न पंक्तियाँ भी विशेष रूप से अवलोकनीय है -

It was under a metaphysical, rather than a logical necessity that ABHAWA had to be postulated in this system and the necessity thus felt, was two-fold : arising (a) from the funsamental assumption of the school that moksha is really negative and (b) from its doctrine of Asat-Karyavada.[९]

अभाव की सिद्धि के संदर्भ में यद्यपि प्रतिष्ठापक पूर्वाचार्यों द्वारा मात्र सांकेतिक निर्वचन ही प्राप्त होता है जबकि उत्तरवर्ती नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने अभाव को सप्तम पदार्थ के रूप में स्पष्टतया स्थापित किया है । डॉ. डी. एन. शास्त्री के अनुसार अभाव की पदार्थ के रूप में प्रथम स्वीकृति शिवादित्य की सप्तपदार्थी में हुयी ।[१०] जबकि पॉटर ने प्रथम स्वीकृति चन्द्रमति के 'दर्शपदार्थशास्त्र' में सिद्ध की है ।[११] चन्द्रमति शिवादित्य से लगभग चार या पाँच सौ वर्ष पूर्व में हुए हैं अतः स्पष्ट है कि शिवादित्य से पहले भी अभाव को पृथक् पदार्थ का कलेवर मिल चुका था। बाद के सभी वैशेषिक प्रकरण ग्रंथों (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, तर्ककौमुदी, तर्कामृत, प्रमाण मंजरी) में भी अभाव को पृथक् पदार्थ की संज्ञा प्राप्त हो गयी है । न्याय के प्रकरण ग्रंथ तर्कभाषा में प्रतिपादित अर्थ नामक प्रमेय में छः भावपदार्थों को गिनाया गया है और निषेध रूप पदार्थ के रूप में सप्तम् अभाव पदार्थ को भी परिगणित किया गया है ।[१२] वरदराज ने भी 'तार्किकरक्षा' में अभाव के पृथक् पदार्थत्व की सप्रमाण पुष्टि की है ।

भारतीय दर्शन वाङ्मय में अभाव का लक्षण आचार्यों ने विविधरूपों में उद्घाटित किया है यद्यपि अभाव का प्रतीकात्मक परिचय एवं लक्षण कणाद तथा अक्षपाद की प्रारम्भिक परम्परा में प्राप्त होता है लेकिन उसका विधिवत् लक्षण जो उसे भावपदार्थों से व्यतिरिक्त स्वयं की पहचान दिलाये ऐसा कार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वप्रथम शिवादित्य की सप्तपदार्थी में ही दृष्टिगत होता है । शिवादित्य ने अभाव की परिभाषा 'प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानोऽभावः'[१३] इन शब्दों में की अर्थात् जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित होता है उसे अभाव कहते हैं । न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथपञ्चानन ने 'द्रव्यादि-षट्कान्योन्याभावः'[१४] इस रूप में अभाव को परिभाषित किया जिसका निहितार्थ है- द्रव्यादि छहों पदार्थों का अन्योन्याभावत्व । जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी के प्रथम भाग में अभाव को व्याख्यायित करते हुए कहा कि अभाव वह पदार्थ है जो 'नास्ति' इस प्रकार के ज्ञान का गम्य हो । लक्षणावलीकार आचार्य उदयन ने अभाव का स्वरूप 'नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः' इस प्रकार कहा जिसका प्रतिपाद्य है कि अभाव वह है जो नञर्थक ज्ञान का विषय हो। आचार्य श्रीधर ने न्यायकन्दली ग्रंथ में 'अभावस्यतु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं प्रतिषेधः स्यात्तदधीनम् अतस्तत्प्रतिषेध्यमन्तरेण तदभावस्यस्वरूपानन्तराभावात्' इस तरह अभाव को व्याख्यायित किया है । अर्थात् अभाव तो किसी भाव पदार्थ का प्रतिषेधरूप है अतः उसको जानने के लिए उस भाव पदार्थ को भी जानना आवश्यक है जिसका वह प्रतिषेध है क्योंकि भाव के प्रतिषेध को छोडकर अभाव का कोई दूसरा स्वरूप ही नहीं है ।

वादिवादीश्वर ने अभाव को समावाय से भिन्न असमवायी कहा - 'समवायान्योऽसमवाय्यभावः ।'[१५] माधवाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह में इसी क्रम को बढाते हुए अभाव को 'असमवायत्वे सत्यसमवायित्वं'[१६] इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है । नव्य न्याय के जन्मदाता आचार्य गंगेशोपाध्याय ने 'अथाभावो भावात्मैव'[१७] इन शब्दों द्वारा अभाव को परिष्कृत किया है ।

वस्तुतः अभाव का निष्कृष्ट लक्षण है 'निषेधमुखप्रमाणगम्यत्वं' जिसकी व्युत्पत्ति है- निषेधः निषेधार्थकः नञ् शब्दः मुखं अभिलापकः यस्य तच्चेदं प्रमाणं प्रत्ययः तेन गम्युत्वं बोध्यत्वं वेद्यत्वं वा । इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपलब्ध अर्थ है — 'नञ् शब्द से अभिलाप किए जाने वाले ज्ञान का विषय होना । जैसे - इदं इह नास्ति, इदं - इदं न भवति, इस प्रकार के ज्ञान निषेधमुखप्रत्यय हैं, इन प्रत्ययों में नञ् शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है वही अभाव है ।[१८]

विध्यात्मक और निषेधात्मक प्रतीतियों के वैविध्य के परिणामस्वरूप यथा भावात्मक और अभावात्मक पदार्थों का वर्गीकृत रूप दृष्टिगत होता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और भाव पदार्थों में भी प्रतीतिभेद से यथा द्रव्यगुणदिकों का विभक्तरूप प्रस्तुत होता है, ठीक उसी प्रकार प्रतीतिवैचित्र्य के कारण अभावों में भी अवान्तर भेद स्वीकार किया गया है । अभावों को प्रथमतः दो भागों में विभक्त किया है – अन्योन्याभाव और अनन्योन्याभाव । पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्योन्याभाव को परस्पराभाव तथा अनन्योन्याभाव को संसर्गाभाव शब्द से सम्बोधित किया है । अन्योन्याभाव भेदरहित है जबकि अनन्योन्याभाव सामान्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है - १) प्रागभाव २)प्रध्वंसाभाव ३)अत्यन्ताभाव ।

वाचस्पति मिश्र ने चार ही प्रकार के अभाव स्वीकार किए, उन्होंने पहले अभाव को दो वर्गों में विभक्त कर पुनः संसर्गाभाव के अन्तर्गत प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव को ग्रहण किया, परवर्ती आचार्यों ने- जिसमें जयन्त तथा श्रीधर शामिल हैं- वाचस्पति के वर्गीकरण का ही अनुकरण किया। इस संदर्भ में एक बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने मुख्यतः प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव इन दो अभावों को स्वीकार करते हुए 'नप्रागभावादन्ये तु भिद्यन्ते परमार्थतः'[११] इस कथन के द्वारा अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव को प्रागभाव के अन्तर्गत समाहित किया है ।

निष्कर्षतः न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में प्रायः चार प्रकार के अभाव प्राप्त होते हैं। भाट्टमीमांसक भी इसी विभाजन को मान्यता प्रदान करते हैं । यहाँ प्रायः शब्द कहकर कुछ आचार्यों द्वारा संसर्गाभाव के चार भेदों के सिद्धान्त को संकेतित किया गया है । जो इस प्रकार हैं- १)प्रागभाव २) प्रध्वंसाभाव ३) त्रैकालिक अभाव ४) किञ्चित् कालिक अभाव । पुनः त्रैकालिक और किञ्चित् कालिक अभाव को विशिष्टाभाव और अनुभय विशिष्टाभाव के रूप में वर्गीकृत किया है ।

अन्योन्याभाव -

तादात्म्य संबंध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं । अर्थात् जिस अभाव के प्रतियोगी की स्थिति तादात्म्य संबंध पर निर्भर करती है वह अभाव अन्योन्याभाव है । अन्योन्याभाव का अर्थ 'अन्योन्यत्व' तादात्म्य का विरोधी अभाव । जो अभाव अपने आश्रय में अपने प्रतियोगी के अन्योन्यत्व तादात्म्य का विरोधी होता है वह अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे, गुण में द्रव्य का भेद रहता है, द्रव्य का तादात्म्य नहीं रहता अतः अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होने से गुण में रहने वाला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्रव्य भेद द्रव्य का अन्योन्याभाव है ।

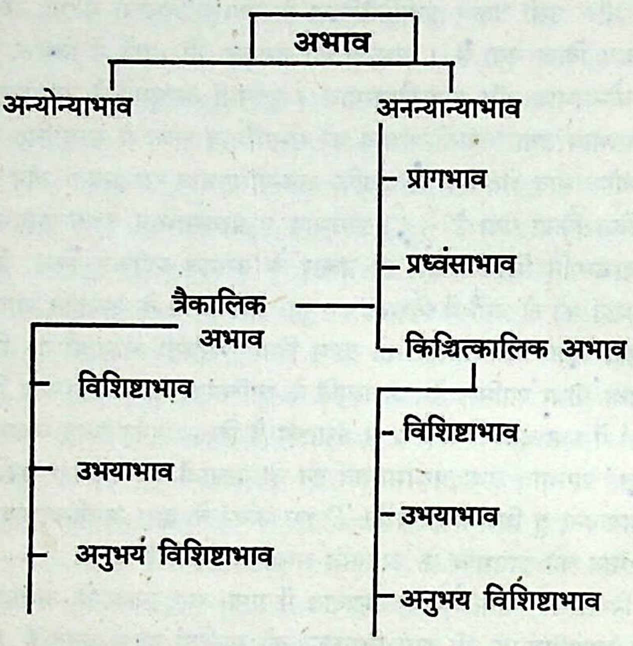

गुणो द्रव्यं न (गुण द्रव्य नहीं है) इसका आशय है कि गुण ही गुण हो सकता है और कोई भी पदार्थ गुण नहीं हो सकता क्योंकि गुण का काम गुण ही कर सकता है और कोई नहीं, अतः गुण का तादात्म्य संबंध गुण में ही है और किसी में नहीं है सुतरां द्रव्य में भी नहीं है । इसलिए तादात्म्य संबंध से गुण द्रव्य में नहीं है और इसी तरह तादात्म्य संबंध से द्रव्य गुण में नहीं है इसी अन्योन्य या परस्पर में न होने का नाम अन्योन्याभाव है । अन्योन्याभाव को मान्यता प्रदान करने से ही द्रव्यादि षट् भावपदार्थों के मध्य परस्पर भेद स्थापित हो सका है अन्यथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों के मध्य मिथःभेद स्थापित कर द्रव्यगुणकर्मादि के रूप में अन्योन्याभाव की नित्यता तथा एकता प्रतिपादित की है अतः अन्योन्याभाव आधारभूत वस्तु के समाप्त हो जाने पर भी सामान्य के सदृश दूसरी वस्तु में आभासित होता रहता है। अतः इसकी नित्यता सुतरां सिद्ध है । हाँ, सामान्य के सापेक्ष इसमें विभेद यह है कि जहाँ सामान्य का ज्ञान मात्र स्वाश्रयज्ञान की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपेक्षा करता है, वहाँ अन्योन्याभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान की भी अपेक्षा करता है ।

प्रागभाव-

प्रागभाव 'प्राक्' 'अभाव' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न एक यौगिक शब्द है जिसका अभिप्राय किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उस वस्तु के अभाव से है । यहाँ प्राक् शब्द पश्चात् के प्रति सापेक्ष है अर्थात् पहले वस्तु का अभाव होना लेकिन पश्चात् वस्तु की उत्पत्ति होने के कारण उसका अभाव न होना इसी का नाम प्रागभाव है । जैसे, जिस सुसंस्कृत कपाल के योग से घट बनता है उस कपाल में घटोत्पत्ति के पहले घट का प्रागभाव है किन्तु कपाल संयोजना से घट निर्मित होने के अनन्तर उसका प्रागभाव समाप्त हो जाता है ।

प्रागभाव का अनन्य वैशिष्ट्य है कि यह अपने प्रतियोगी के प्रति कारण होता है जैसे पट प्रागभाव का प्रतियोगी जो पट उसके प्रति पट प्रागभाव कारणत्वेन अभिमत है । यह अभाव अनादिकाल से चला आ रहा है । लेकिन जब-जब प्रतियोगी की उत्पत्ति होती है तब-तब यह अभाव समाप्त हो जाता है । अन्यथा कार्य की उत्पत्ति ही असंभव हो जायेगी । प्रतियोगी वस्तु की उत्पत्ति ही प्रागभाव का विनाश है । अन्नंभट्ट ने उक्त अभाव की परिभाषा अनादि और सान्त इन शब्दों से की ।

प्रध्वंसाभाव

यह अभाव भी 'प्रध्वंस' तथा 'अभाव' इन दो शब्दों के मेल से बनता है, जिसका आशय एक ऐसे अभाव से है जो ध्वंस होने से उत्पन्न होता है । किन्तु विनष्ट नहीं होता अर्थात् प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति तो होती है लेकिन इसका विनाश नहीं होता । जैसे - जलाहरण समर्थ घट पर दण्ड प्रहार करने से घट का टूटकर / फूटकर मिट्टी में मिलना ही घट का प्रध्वंस होना है एतद् घटजन्य जो अभाव है वही प्रध्वंसाभाव है । पुनः इस प्रध्वंस का प्रध्वंस संभव नहीं है इसलिए प्राच्यपदार्थशास्त्रियों ने विविध विशिष्ट स्थलों पर यह कहा है कि जिस अभाव की उत्पत्ति हो किन्तु अनन्त कालतक कभी भी नाश न हो वह अभाव है प्रध्वंसाभाव । इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने इसे 'सादिरनन्तः प्रध्वंसः' इस रूप में अभिव्यक्त किया ।

प्रध्वंस का प्रध्वंस क्यों नहीं स्वीकार करते इस जिज्ञासा का समाधान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस रूप में करना चाहिए कि प्रध्वंस का भी प्रध्वंस हो तो उसके प्रतियोगी भाववस्तु का पुनः अस्तित्व होना चाहिए ।

अत्यन्ताभाव -

भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में रहने वाले अभाव का नाम अत्यन्ताभाव है । यह 'अत्यन्त' तथा 'अभाव' इन शब्दों का संयुक्तरूप है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- अन्तम् अभावम्, अतीतः अत्यन्तः स चासौ अभावः अत्यन्ताभावः अर्थात् जिस अभाव का कभी अभाव न हो । जैसे - शिलाखण्ड में ज्ञान का अभाव । शिलाखण्ड में ज्ञान का अवस्थान कभी किसी काल, किसी देश, तथा किसी परिस्थिति में नहीं होता उसमें ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है अतः शिलाखण्ड में रहने वाला ज्ञानाभाव ज्ञान का अत्यन्ताभाव है ।

अत्यन्ताभाव के दो भेद दृष्टिगत होते हैं - १)व्याप्यवृत्ति २) अव्याप्य-वृत्ति । व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभात्र उसे कहते हैं जो अपने आश्रय के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है जिसे शास्त्रीयभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं- जिसके आश्रय में उसका प्रतियोगी कथमपि न रहता हो वह अभाव व्याप्यवृत्ति अभाव है जैसे शिलाखण्ड में ज्ञानाभाव । ज्ञानाभाव अपने आश्रय शिलाखण्ड के सम्पूर्ण भाग में सदैव रहने तथा उसके प्रतियोगी ज्ञान के शिलाखण्ड में कथमपि त्रिकाल में भी न रहने से व्याप्यवृत्ति है, जबकि गुणाभाव द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति अभाव है क्योंकि पृथ्वी आदि द्रव्य में उत्पत्ति कालावच्छेदेन गुणाभाव होता है और स्थितिकालावच्छेदेन गुण होता है अतः द्रव्य में अभाव है क्योंकि कपि संयोग का अभाव वृक्ष के संपूर्ण भाग में न रहकर केवल मूलावच्छेदेन भाग में रहता है । अतः एक ही वृक्ष के एक भाग में कपिसंयोग का अभाव रहने पर भी दूसरे भाग में कपिसंयोग के रहने से यह अभाव अव्याप्यवृत्ति अभाव होता है ।

संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. शिवशंकर मिश्र
रा. स्ना. महाविद्यालय
ऋषिकेश, उत्तरांचल २४९२०१

टिप्पणियाँ

१.क निःस्वोवष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मस्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिंकोगतः ॥ नीतिश्लोक

१.ख क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि पर्यंक शयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

-भर्तृहरि नीतिशतकम्

२. अभावोऽप्यनुमान एव - प्रशस्तपादभाष्यम्
३. वैशेषिक सूत्र, १.१.४
४. नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः, लक्षणावली, पृ. ३०
५. Critique of Indian Realism, p. 398
६. न्यायवार्तिक
७. महेश भारती, भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ
८. नास्तीति ज्ञानगम्यत्वं, न्यायमंजरी, भाग, १
९. G.H.B.N.V., p. 25
१०. Critique of Indian Realism, p. 398
११. Encyclopedia of Indian Philosophy, Vol -II, p. 143.
१२. महेश भारती, भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ
१३. सप्तपदार्थी, पृ. ६२
१४. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
१५. मानमनोहर, पृ. १३४
१६. सर्वदर्शन संग्रह
१७. तत्त्वचिन्तामणि
१८. महेश भारती, भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, भूमिका
१९. न्याय मंजरी, भाग १
२०. क) तादात्म्य संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः, तर्कसंग्रह
ख) अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।
२०. अनादिसान्तः प्रागभावः, तर्कसंग्रह/सप्तपदार्थी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२१. जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्, न्या. सि. मु., पृ. ८०
२२. क) तर्कसंग्रह
ख) सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः, सप्तपदार्थी
२३. अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता
२४. त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः, तर्कसंग्रह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीमांसकों का वाक्यार्थ सिद्धान्त

भारतीय दर्शन का परिक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । ब्रह्म, जीव और प्रकृति के तात्त्विक अर्थ और उनकी पारस्पारिक संगति पर यहाँ मौलिक रूप से विचार किया गया है, किन्तु इन तीनों के अवबोधन को सम्पुष्ट करनेवाले समस्त आनुषंगिक विषयों को भी यहाँ गंभीरतम विवेचन का विषय बनाया गया है। भारतीय दर्शन में शब्द मात्र अभिव्यक्ति और अनुभूति के साधन ही नहीं हैं, अपितु इन्हें दार्शनिक प्रपत्तियों, आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा विश्व-व्यवस्था के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है । यहाँ नादब्रह्म के साथ शब्दब्रह्म की अवधारा इसी निमित्त हुई है । यहाँ शब्द वर्णों के समाहार मात्र नहीं हैं, अपितु ये परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की गहन यौगिक अनुभूतियाँ भी हैं । शब्द और अर्थ, पद और पदार्थ, अनुभूति और अभिव्यक्ति, मन्तव्य और वक्तव्य, आन्तरिक आनुभूतिक सृजन और बाह्य रूपांकन आदि की एक विराट् प्रक्रिया को शब्द संयोजित करता है । शब्द और वाक्य पर इसी कारण हमारे दार्शनिकों ने इतना गहन विवेचन किया है। पाणिनि और पतंजलि से लेकर शंकर, कुमारिल भट्ट, भर्तृहरि, अभिनवगुप्त आदि तक की इसकी अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान् रही है । यहाँ मीमांसा के वाक्यार्थ सिद्धान्त को समझने का यत्न किया गया है । भारतीय दर्शन में शाब्द-बोध का विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा दर्शन में विशेष रूप से किया गया है । व्याकरण को पद-शास्त्र के नाम से जाना जाता है, क्योंकि यहाँ पद-पदार्थों का विवेचन किया गया है । न्याय दर्शन में प्रमाणों के संबंध में विशद् विवेचन देखने को मिलता है, इसलिए न्याय दर्शन को प्रमाणशास्त्र कहा जाता है । मीमांसा दर्शन में वाक्यार्थ शैली का विवेचन विशेष रूप से किया गया है, इसलिए मीमांसा को वाक्यशास्त्र कहा जाता है । शाब्द-बोध के संदर्भ में तीनों ही शास्त्रों की आवश्यकता होती है, इसलिए इन तीनों शास्त्रों के ज्ञाता को 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ' कहा गया है ।

वाक्य को विभागयुक्त माननेवाले दार्शनिकों द्वारा वाक्यार्थ की क्रमशः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्विताभिधानवादी एवं अभिहितान्वयवादी परम्पराओं का विकास हुआ । इसी क्रम में अन्विताभिधानवाद द्वारा संसर्गतावाद और अभिहितान्वयवाद द्वारा प्रकारतावाद नामक दो पृथक् वाक्यार्थ सिद्धान्त की स्थापना हुई । किन्तु, दोनों परम्पराओं की आधारभूत मान्यता है कि एकार्थक दिखनेवाला वाक्य विच्छेदित होने पर शब्दों का समूह ही सिद्ध होता है ।

अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद की स्थापना सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रभाकर गुरु एवं कुमारिल भट्ट द्वारा प्रणीत मीमांसा दर्शन की क्रमशः दो प्रतिस्पर्धी शाखाओं में हुई है । प्रभाकर गुरु ने अन्विताभिधानवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन 'बृहतीटीका' में किया है, जिसकी विशद् व्याख्या उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र ने नवीं शताब्दी में अपनी 'प्रकरण पंचिका' में की । अभिहितान्वयवाद की उद्घोषणा कुमारिल भट्ट प्रणीत 'श्लोकवार्तिक' नामक प्रख्यात ग्रंथ में हुई है । इसकी व्याख्या पार्थसारथि मिश्र ने बारहवीं शताब्दी में अपनी 'न्यायरत्नमाला' में तथा गदाधर भट्ट ने अपनी 'चिंतामणि' में की है । परवर्तीकाल में लम्बे अरसे तक न्याय, वेदान्त, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र में इन सिद्धान्तों के खंडन-मंडन का क्रम चलता रहा । जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी में इन तीनों सिद्धान्तों की समीक्षा हुई है । इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र की भामति टीका, चित्सुखाचार्य की 'चित्सुखी' और मधुसूदन सरस्वति की 'अद्वैत सिद्धि' में इन सिद्धान्तों की चर्चा हुई है । व्याकरण परम्परा में 'वाक्यपदीय' एवं 'व्याकरण भूषण' और काव्यशास्त्रीय परम्परा में 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शन, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र - तीनों परम्पराओं में इन सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है ।

मौलिक अर्थ में पदार्थों की अन्विति का अभिधान ही अन्विताभिधान है ।[१] वाक्य में पदों के केवल अपने अर्थ का बोध नहीं होता, प्रत्युत् समन्वित अर्थ की प्रतीति होती है । अन्विताभिधानवादी दृष्टिकोण के अनुसार वाक्य में पदसमूह एकार्थ होते हैं । सभी पद परस्पर मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं । पदार्थों की इसी पारस्परिक अन्विति का अभिधान अन्विताभिधान है । तात्पर्य यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों का समन्वित अर्थ ही वाक्यार्थ है ।

अन्विताभिधानवादी दृष्टिकोण के अनुसार वाक्यार्थ संसर्ग है । शब्द में प्रयुक्त पद और इनके अर्थ एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं । पदार्थों की परम्परा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बद्धता से वाक्यार्थ में जो विशिष्टता दिखती है, वह पदार्थों के योग से निश्चय ही भिन्न होता है । यह विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है । पदार्थों की समन्विति से उत्पन्न इसी विशिष्टता या अर्थाधिक्य का नाम संसर्ग है, जिसके आधार पर अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ सिद्धान्त संसर्गवाद के नाम से ख्यात है ।

वाक्य में प्रयुक्त पदों की पारस्पारिक सम्बद्धता प्रत्ययों एवं विभक्तियों पर आधारित होती है जो उनके आपसी सम्बन्धों को द्योतित करती है । वाक्यार्थ में दो तत्त्व स्पष्ट दिखते हैं - अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व । वाक्य में प्रयुक्त पद अर्थ-तत्त्व के और प्रत्यय एवं विभक्तियाँ सम्बन्ध-तत्त्व के विधायक होते हैं । अन्विताभिधानवादियों की मान्यता है कि सम्बन्ध तत्त्व स्वयं अर्थवान् नहीं होते, प्रत्युत् वे अर्थ का द्योतन करते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रत्यय का कोई अर्थ नहीं होता, वे अर्थ के द्योतक हैं ।

अन्विताभिधानवाद में शब्द की द्विविध स्थिति होती है । वाक्य से विलग उनका स्वतंत्र अस्तित्व होता है । इस स्थिति में वे अपने सामान्य अर्थ के बोधक होते हैं । प्रयोग स्थिति में शब्द जब पदरूप में होता है, जिस प्रकार अग्नि, जल, पात्र, ईंधन आदि का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, किन्तु भोजन पकाने के क्रम में वे संयुक्त रूप से किसी विशिष्ट क्रिया के अंग होते हैं ।[२] इस प्रकार अभिव्यक्ति के क्रम में पदार्थ उक्ति में नवीन अर्थ के रूप में वाक्यार्थ की सृष्टि करते हैं ।

अभिहितान्वय का शब्दगत अर्थ अभिहित पदार्थों का अन्वय है ।[३] शब्द अपने अर्थ का अभिधायक (वाचक) है और अर्थ उससे अभिहित (वाच्य) होता है । वाक्यगत पद अलग-अलग अपने अर्थों का अभिधान करते हैं और फिर उन अभिहित अर्थों का अन्वय होने से वाक्यार्थ बनता है।[४] अभिहितान्वयवाद की मौलिक धारणा यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पद जब अपनी-अपनी अर्थाभिव्यक्ति के कार्य से निवृत्त हो जाते हैं, तब पदर्थों के अवगत हो जाने के बाद अन्त में वाक्यार्थ का ज्ञान होता है । वाक्यार्थ पदार्थों का योगफल है ।[५] पदार्थ के अतिरिक्त उसमें अन्य किसी तत्त्व का समावेश नहीं होता ।

शब्दों का अपना पृथक् अस्तित्व होता है । वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी उनकी पृथक्ता ज्यों-त्यों बनी रहती है । जिस प्रकार सिपाहियों के समूह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को सेना और वृक्षों के समुदाय को वन कहा जाता है, उसी प्रकार पदों के समूह से वाक्य और पदार्थों के योग से वाक्यार्थ का बोध होता है ।[६] अवयवी में अवस्थित कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं दिखता जो अवयव में न हो ।[७] शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है । एक शब्द स्वार्थबोधन के लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं करता । वाक्य स्वतंत्र अर्थबोधन करने वाले शब्दों का समूह है । स्वार्थबोधन करने के बाद शब्द वाक्य में अन्वित होते हैं।[८] इसलिए अन्विताभिधानवाद की तरह इसमें अन्वय की पृथक् शक्ति की कल्पना नहीं पडती । वाक्य में पदों का या वाक्यार्थ में पदार्थों का पृथक् अस्तित्व बना रहता है । वे संयुक्त तो होते हैं, किन्तु उनकी सत्ता एक-दूसरे में विलीन नहीं होती । पदों और पदार्थों की इसी पृथक् सत्तावादी मान्यता के आधार पर अभिहितान्वयवाद द्वारा निरूपित वाक्यार्थ सिद्धान्त को प्रकारतावाद कहा गया है ।

प्रकारतावादी सिद्धान्त के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त पद प्रत्यय एवं विभक्तियों के द्वारा एक दूसरे से जुडे होते हैं। यहाँ प्रत्यय की स्थिति पदों को जोडने वाली कड़ियों के समान होते हुए भी स्वतंत्र है । पद की तरह प्रत्यय भी वाचक है, अर्थवान् है । प्रत्यय का वैसा ही स्वतंत्र अर्थ है जैसा प्रकृति का । प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का पारस्पारिक सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य भाव के रूप में होता हैं और इसको प्रकारतावाद कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पद की तरह प्रत्यय का भी अपना अर्थ होता है । इस प्रकार सभी पद और प्रत्यय अपना-अपना अर्थ वहन करते हैं और वाक्य में प्रयुक्त होने पर उनमें सन्निहित अर्थों के योगफल से ही वाक्यार्थ का बोध होता है ।

पदार्थों का पंद से बोध होने पर उनका आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति के आधार पर परस्पर अन्वय (समन्वय) हो जाता है । इस समन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है । अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं तथा बाद में, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा परस्पर संसृष्ट होने से वाक्यार्थ की सिद्धि करते हैं । आचार्य मम्मट कहते हैं कि अभिहितान्वयवादियों के मतानुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण पदार्थों के दृश्यमान् स्वरूप की समन्विति से जो तात्पयार्थ उद्भासित होता है वही विशिष्ट स्वरूपवाला अपदार्थ वाक्यार्थ है ।[९] आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु हैं ।[१०] इसी आधार पर विश्वनाथ आकांक्षा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योग्यता और आसत्ति से युक्त पद को वाक्य कहते हैं ।[११] कुछ विद्वान् आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के अतिरिक्त तात्पर्य को भी वाक्यार्थ बोध का कारण मानते हैं ।

श्रोता के मन में जानने की जो इच्छा होती है उसी को यहाँ आकांक्षा कहा गया है । उसकी जिज्ञासा को शान्त करना ही आकांक्षा का फल है । वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद दूसरे को जानने की आकांक्षा जागृत करता है और जहाँ उसकी परितृप्ति होती है, वहीं वाक्यार्थ की भी परिणति होती है । आकांक्षा-हीन पदसंघात में एकवाक्यता नहीं हो सकती है । इस प्रकार वाक्य आकांक्षायुक्त पदों का समूह है और आकांक्षा वाक्यार्थ बोध का एक साधन।

वाक्यार्थ में पदार्थों के सामंजस्य का सामर्थ्य उनकी योग्यता पर आधारित है । पदार्थ में ऐसी योग्यता होनी चाहिए जिससे कि अन्य पदार्थों के साथ उसकी अन्विति हो सके । वाक्यार्थ में पदार्थों की अन्विति क्षमता ही योग्यता है अथवा वाक्यार्थ के संदर्भ में पदार्थों की अनर्थकता के अभाव को योग्यता कहा जा सकता है । 'अग्नि से सींचता है,' यह अनर्थक वाक्य है, क्योंकि अग्नि में सींचने की क्षमता नहीं है ।[१२] तात्पर्य यह कि संदर्भ के अनुरूप पदप्रयोग को ही योग्यता कहा गया है जो वाक्यार्थ बोध का एक साधन है।

वाक्य में प्रयुक्त पदों की सन्निकटता को सन्निधि या आसत्ति कहा गया है । सन्निधि का प्रयोग यहाँ जिस अर्थ में हुआ है, उसे एकन्विति भी कहा जा सकता है । वाक्य स्थित पदों में काल या स्थान की निकटता नहीं रखने पर वाक्यार्थ की उपलब्धि संभव नहीं है । पदों में कालजन्य व्यवधान के कारण वक्ता का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । तात्पर्य यह कि वाक्यान्तर्गत पदों की अव्यवधान युक्त उपस्थिति ही आसत्ति है ।

वैयाकरण आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति को ही वाक्यार्थ बोध का हेतु मानते हैं । किन्तु नैयायिक शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान को भी कारण मानते हैं।[१३] नैयायिकों की मान्यता है कि शब्द का अर्थ एक सुदीर्घ परम्परा प्रयोग का परिणाम है । शब्द के इसी परम्परागत अर्थ को तात्पर्य कहा गया है । 'तात्पर्य' वाक्यार्थ बोध का सामान्य कारण है । अतः नागेश तात्पर्य को वाक्यार्थ बोध का पृथक् कारण नहीं मानते ।[१४] किसी शब्द का कोई परम्परागत अर्थ नहीं हो, तो वैसी स्थिति में उसका प्रयोग संभव नहीं है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्रकार का निम्मलिखित मन्तव्य उपर्युक्त विवेचन को सम्पुष्ट करने में पर्याप्त होगा -

"आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वाक्यामाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।"

दर्शन विभाग डॉ. महेश्वर मिश्र
राम चरित्र सिंह स्मारक महाविद्यालय,
बीहट, (औद्योगिक क्षेत्र बरौनी)
बेगूसराय, ८५११३५

टिप्पणियाँ

१. न्यायमंजरी, पृ. ३६४
२. वही, पृ. ३६६-६८
३. वही, पृ. ६४.
४. अवस्थी, बच्चूलाल, ध्वनि सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिंतन, पृ. ५३
५. शाबर भाष्य, १.१.२५, संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ. ४१४
६. श्लोकवार्तिक, १८.५४-५६
७. वही, १८.७५-७६
८. हिन्दी विश्व कोश, खंड-१, पृ. १८२
९. काव्य-प्रकाश, २.७
१०. तर्कसंग्रह, अर्थ तत्त्व की भूमिका, पृ. ३९
११. साहित्य-दर्पण, २.१
१२. क) पाण्डेय, आर. सी. प्रोब्लेम्स ऑफ मीनिंग, पृ. १६१
ख) गदाधर भट्ट, भट्ट चिंतामणि, पृ. ६६
१३. द्विवेदी, कपिलदेव, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ. ३०५
१४. मंजूषा, पृ. ५२६-२८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय संस्कृति की खोज

यह खोज भारत की एक ज्वलन्त समस्या के समाधान के लिए प्रारंभ की गई है । भारतीय समाज, जैसा कि माना जाता है अनेकता, विविधता और विषमताओं की 'एक' समन्वित सत्ता है- आज असहिष्णुता, जाति, पंथ भाषा पर आधारित अलगाव, साम्प्रदायिक वैमनस्यजन्य संघर्ष और विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव से उत्पन्न संस्कृति-संकट से ग्रस्त है । यदि 'एक' समाज जैसा कुछ होता है और उसके लक्षण इस प्रकार के हैं जिसमें पूर्वोक्त स्थितयाँ सहज रूप में विद्यमान् रहती हैं तो इस खोज की आवश्यकता नहीं पडती । लेकिन ये स्थितियाँ भारत के अनेक प्रबुद्ध व्यक्तियों को अवांछित लगती हैं। यदि संघर्ष, वैमनस्य और अलगाव की प्रवृत्तियाँ 'एक' समाज के अपरिहार्य लक्षण हैं तो उन्हें अवांछित या वांछित मानने का कोई औचित्य नहीं है । तब भारत की वर्तमान अवस्था– 'दुखद या सुखद'– को सहन करना ही प्रयास और अभ्यास का विषय होगा, यही विषमताजन्य समस्याओं का समाधान होगा । लेकिन वर्षों से अनेकता में एकता, सर्वधर्म समभाव, समरसता, सहिष्णुता आदि के उपदेश प्रबुद्ध वर्ग द्वारा दिया जाना (और पहले की तुलना में आज ऐसे उपदेशों की अधिकता) यह स्पष्ट करता है कि यथास्थिति को सहना समाधान नहीं है । अतः समाधान की खोज अवश्य ही सार्थक और सामायिक है- ऐसा पूर्वाग्रह इस खोज का प्रस्थानबिन्दु है ।

समस्या का विश्लेषण समाधान की पूर्वपेक्षा है । एक वाक्य में समस्या को इस प्रकार रखा जा सकता है- भारत में रहने वाले लोगों के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ? समस्या को इस रूप में रखने में ही यह स्वीकृति निहित है कि इन समरसता आदि पूर्वोक्त भावों की वर्तमान भारत में न्यूनता है । जिन्हें यह स्वीकार नहीं है उनके लिए यह खोज व्यर्थ है । यद्यपि मुझे यह सार्थक प्रतीति होती है । भारत में अनेक भाषाएँ हैं, पंथ हैं, साधना पद्धतियाँ हैं और इन भिन्नताओं के अनुरूप छोटे-बडे समुदाय और समूह हैं । ऐसा माना जाता है कि इन सबके बावजूद कुछ बातें ऐसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं जो उन समस्त समुदायों और समूहों को एकता के सूत्र में बाँधे हुए हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि भारतीय समाज मिली-जुली या सामासिक संस्कृति वाला समाज है । इन मिली-जुली या मिश्रित संस्कृति को भारत की गौरवशाली परम्परा भी घोषित किया जाता है । यदि यह सत्य है तो हमारे समक्ष विरोधाभासी वर्तमान प्रस्तुत हो जाता है । एक ओर एकता और सामंजस्य की गौरवशाली परम्परा की स्वीकृति और दूसरी ओर विभिन्न जाति, पंथ और विचारधारा के आधार पर विभाजित समुदायों के बीच द्वेष, वैमनस्य और समाज को टुकडों में बाँटने की प्रवृत्ति का यथार्थ । जब तक इस वर्तमान के मूल कारणों को ढूँढा नहीं जाएगा तब तक आदर्श और यथार्थ के बीच के इस अन्तर को मिटाने का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा । संस्कृति, चूँकि समाज की आत्मा है, समाज का मार्गदर्शक अधिष्ठान है इसलिए भारतीय समाज की समस्याएँ और उनके समाधान के सूत्र भी उसकी संस्कृति में ही ढूँढे जाने चाहिए । इसलिए पहले भारतीय संस्कृति की खोज करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ ।

भारतीय संस्कृति की खोज से पूर्व संस्कृति की स्पष्ट अवधारणा को स्वीकार करना होगा । 'स्वीकार करना' इसलिए क्योंकि अपनी खोज के लिए अपनी पूर्व मान्यताओं के अनुरूप हमने संस्कृति की परिकल्पनात्मक अवधारणा को स्वीकार कर लिया है - ऐसी आत्मनिष्ठता के किसी संभावित आक्षेप से अपनी खोज को यथासंभव मुक्त रखना हमें इष्ट है ।

यशदेव शल्य के अनुसार "संस्कृति एक ऐसी जीवन-दृष्टि कही जा सकती है जो परमार्थ सत्य और मूल्य विषयक प्रत्यय से परिभाषित होती है और समाज उन संस्थितियों अथवा संरचनाओं को कहा जा सकता है जो इस जीवनदृष्टि के क्रियान्वयन के उद्देश्य से परिकल्पित और निर्मित होती है ।"[१] लगभग ऐसा ही हर्सकोवित्ज समाज और संस्कृति के संबंध पर चर्चा करते हुए कहते हैं - "संस्कृति लोगों की जीवनरीति है, जबकि समाज व्यक्तियों का एक संगठित अन्तःक्रिया करने वाला समूह है जो कि एक निर्दिष्ट जीवनरीति का अनुसरण करता है ।"[२] जीवनरीति में भौतिक-अभौतिक सभी तरह के मानव व्यापार समाहित हो जाते हैं जबकि जीवन-दृष्टि व्यापार के मूल में निहित प्रेरणा को इंगित करती है । जीवन के भौतिक पक्ष या कहें संस्कृति के भौतिक घटक सदैव अभौतिक घटकों से उद्भूत होते हैं और अभौतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घटकों के बिना वे अर्थहीन होते हैं।[३] 'समाज-सत्ता' मात्र जनसमूह नहीं है । साथ ही व्यक्तियों की मात्र अन्तर्क्रिया समाज-संरचना का मूल नहीं है । जब किसी भू-भाग पर एकाधिक व्यक्ति रहते हैं तो कुछ न कुछ अन्तर्क्रिया तो होगी ही । यही यदि 'समाज' की अनिवार्य शर्त हो तो प्राणिमात्र के हर समूह को समाज माना जा सकता है । वास्तव में जनसमूह को समाज होने के लिए आधार में विश्वासों, परम्पराओं, मूल्य और समस्त व्यापारों में सर्वनिष्ठता, सहभागिता होनी चाहिए । व्यवहार के जो सामान्य प्रतिमान व्यक्तियों के परस्पर अन्तर्क्रिया को नियंत्रित या नियमित करते हैं वही संस्कृति है । हर्टन संस्कृति और समाज के संबंध स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - " 'एक संस्कृति' व्यवहार की वह व्यवस्था है जिसमें किसी समाज के सदस्य सहभागी होते हैं और 'एक समाज' वह जनसमूह है जो एक सर्वनिष्ठ संस्कृति में सहभागी होता है ।"[४]

समाज और संस्कृति के परस्पर संबंधों पर उपर्युक्त मतों से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि किसी जनसमूह में जब तक ऐसा कुछ न हो जो समूह के व्यक्तियों के मध्य सर्वनिष्ठ हो और वे सर्वनिष्ठ तत्त्व उनके परस्पर संबंधों को एकात्म बनाते हों, तब तक वह जनसमूह समाज नहीं कहा जाएगा । दूसरा यह कि उन सर्वनिष्ठ तत्त्वों में बाह्य व्यापार के बजाय आन्तरिक आधार एकात्मता में साधक है। वह आन्तरिक आधार ही उस समाज की संस्कृति है ।

मानव संस्कृति या सार्वभौम संस्कृति उसी तरह काल्पनिक मान्यताएँ हैं जिस तरह मानवसमाज या समाज । वास्तव में संस्कृति हमेशा विशिष्ट ही होती है और इससे प्रतिबद्ध उत्तराधिकारी समाज 'विशिष्ट समाज' होता है। प्राकृतिक रूप से पृथ्वी पर अनेक भू-भाग हैं । वहाँ की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं । भिन्न-भिन्न भू-भागों में रहने वालों की परस्पर अन्तर्क्रिया अन्य भू-भागों में रहनेवालों के साथ अन्तर्क्रिया से भिन्न प्रकार की होती है । प्रत्येक भू-भाग के निवासियों की परिस्थितियों में दीर्घकालिक सहभागिता से विशिष्ट जीवन शैली का निर्माण होता है और उस जीवन शैली से वे आत्मीयता और एकात्मता अनुभव करने लगते हैं । इस प्रकार विशिष्ट संस्कृति का निर्माण होता है । हॉबल (हॉएबल) ठीक ही कहते हैं, "प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है जिसके कारण किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सदस्य प्रत्येक अन्य समाज के सदस्यों से भिन्न आचरण करते हैं।"[५] किसी जनसमूह को 'एक समाज' तभी कहा जा सकता है जब उसकी संस्कृति भी 'एक' ही हो । एक समाज की दो संस्कृतियाँ नहीं होतीं। हाँ, एक भू-भाग पर दो पृथक् संस्कृतियों का यह-अस्तित्व या दो पृथक् समाजों का सह-अस्तित्व अवश्य हो सकता है लेकिन यह एक अस्थायी अवस्था होती है। सह-अस्तित्व की दीर्घ अवधि में संस्कृति की परिवर्तशीलता के कारण एक नई संस्कृति का निर्माण हो जाता है । एकाधिक संस्कृतियों का एक नई संस्कृति के रूप में निर्मित होने तक की अवस्था को संक्रमणयुक्त सह-अस्तित्व तो माना जा सकता है, मिली-जुली संस्कृति नहीं ।

वास्तव में मिली-जुली, मिश्रित या सामसिक संस्कृति संघर्ष, वैमनस्य, अलगांव आदि के दुष्परिणामों की आशंकाजनित चिन्ताजन्य सद्भावना के कारण उद्भूत कल्पना मात्र है । भारत के संदर्भ में टी. के. ऊमन लिखते हैं[६], भारतीय संस्कृति को मिश्र संस्कृति के रूप में लक्षित करना केवल उतने ही अंश तक उचित है जितने अंश तक साथ-साथ रहने के कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों की संस्कृति में कुछ परस्पर सहभागिता है । यह सहभागिता मिश्र संस्कृति की प्रक्रिया नहीं बल्कि संस्कृति-बहुलता है क्योंकि मिश्रितता में आत्मसात्करण और विलयन निहित है और यह बहुलवाद का विरोधी है। यह प्रक्रिया अन्ततः एक काल्पनिक मुख्यधारा में अन्य संस्कृतियों के विलय की ओर ले जाती है ।

इस प्रसंग में टी. एस. ईलियट तथा हर्टन के मत विचारणीय हैं । ईलियट के अनुसार व्याक्ति की संस्कृति उसके वर्ग या समुदाय की संस्कृति पर आश्रित होती है, वर्ग या समुदाय की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर आश्रित होती है जिसका वह अंश है । अतः संपूर्ण समाज की संस्कृति ही आधारभूत है ।[७] व्यक्तियों के समुदायों की जिन भिन्न संस्कृतियों की ओर ईलियट का संकेत है उन्हें हर्टन उप-संस्कृतियाँ कहते हैं । हर्टन[८] के अनुसार उप-संस्कृति उस समूह की वह विशिष्ट आचरण की व्यवस्था है जो किसी व्यापक समाज का वास्तविक अंग है । समाज में संस्कृति सर्वत्र सर्वदा एक सी होती हो- ऐसा नहीं है । संस्कृति परिवर्तशील भी है, स्थायी भी । किसी समाज में परिस्थिति भिन्नता, आवश्यकता और विचार भेद से व्यवहार परिवर्तन और मूल्य परिवर्तन आन्तरिक रूप से होते रहते हैं । इन परिवर्तनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के कारण देश-काल भेद से समुदाय की संस्कृति में कुछ विशेषताएँ ऐसी आ जाती हैं, जो उसे उसी समाज के अन्य समुदायों से पृथक् करती हैं तथापि व्यापक समाज की कुछ विशेषताएँ विभिन्न समुदायों में सुरक्षित रहती हैं और जिनके कारण ये संस्कृतियाँ उस व्यापक संस्कृति की उप-संस्कृतियाँ हो जाती हैं । जो समाज जितना प्राचीन और परिपक्व होता है उसमें उतनी ही उप-संस्कृतियाँ निर्मित हो जाती हैं।

संस्कृति और समाज के विषय में अब तक की विवेचना के आधार पर अब हम भारत नामक भू-भाग के निवासियों की संस्कृति की खोज कर सकते हैं, और यदि भारत के निवासियों की एक संस्कृति मिल जाय तो उसे ही हम भारतीय संस्कृति मान लेंगे ।

भारत में स्कूली शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीन शिक्षा में, राजनेताओं से लेकर प्रबुद्ध वर्ग तक- सब में यह तथ्य बहुप्रचलित है कि भारत में कई संस्कृतियाँ हैं- आर्य संस्कृति, द्रविड संस्कृति, वैदिक संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, सिक्ख संस्कृति, तमिल संस्कृति, सतनामी संस्कृति, मुस्लिम या इस्लामी संस्कृति, ईसाई संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, आदिवासी संस्कृति और ऐसे ही अनेक संस्कृतियों का भारत में वास है । भाषा चूँकि संस्कृति की संवाहक है अतः भारत में विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में प्रचलित भाषाओं की संस्कृतियाँ भी हैं। कुछ भारत में निर्मित और कुछ विदेशी संस्कृतियाँ भी हैं और इन संस्कृतियों के वाहक व्यक्तियों का समूह 'भारतीय समाज' है । अतः भारत में निर्मित संस्कृति 'मिश्रित संस्कृति' है । यह भारत की गौरवमयी परम्परा है । इसी मान्यता के आधार स्वतंत्र भारत के संविधान में मूलभूत कर्तव्यों में सामासिक संस्कृति (Composite Culture) की परम्परा के संरक्षण को सम्मिलित किया गया । प्रबुद्ध या शिक्षित वर्ग को इसे स्वीकार करने में संकोच भी नहीं होता । मजहब, रिलीजन या पंथ चूँकि संस्कृति की अति महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है इसलिए मोटे तौर पर यह माना जाता है कि भारत में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन, बौद्ध संस्कृतियाँ साथ-साथ विद्यमान् हैं, शेष का इनमें समावेश हो जाता है । इसे भारतीय संविधान ने वैधानिक भी घोषित किया है (अनुच्छेद २५, स्पष्टीकरण-२) । इस प्रकार भारत में हिंदू संस्कृति (जैन, बौद्ध, सिक्ख, आदि जिसकी उप-संस्कृतियाँ हैं) इस्लामी या मुस्लिम संस्कृति और ईसाई संस्कृतियाँ हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस स्थिति में 'भारतीय संस्कृति' की अवधारणा को इस प्रकार रखा जा सकता है-

१. भारतीय संस्कृति 'एक' संस्कृति है जिसकी उप-संस्कृतियाँ इस्लाम और ईसाई संस्कृतियाँ हैं ।

२. भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली 'संस्कृति' है जो हिन्दू, इस्लाम और ईसाई संस्कृति के विलयन से बनी है ।

३. भारतीय संस्कृति 'एक' संस्कृति नहीं है । भारत में हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई तीन प्रमुख, पृथक् और स्वतंत्र संस्कृतियाँ हैं ।

भारतीय संस्कृति की अवधारणा का प्रथम रूप तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसे प्राचीन अतीत से पृथक् कर, यह मान्य किया जाए कि भारतीय संस्कृति विगत एक डेढ हजार वर्षों में ही निर्मित और पल्लवित हुई है । लेकिन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ऐसा नहीं माना जा सकता। फिर इस्लाम और ईसाई संस्कृतियों का उदय भारत में नहीं हुआ । अतः ये उप-संस्कृतियाँ नहीं हो सकतीं। साथ ही इन संस्कृतियों में पोषित सदस्य भारत में उद्भूत संस्कृति के सदस्यों से अपनी अस्मिता को पृथक् मानते हैं।

मिली-जुली संस्कृति के रूप में भारतीय संस्कृति को परिभाषित करने के लिए हमें उन मूल्यों और परम्पराओं को सामने रखना होगा जिन्हें लोग भारतीय संस्कृति की विशेषताओं के रूप में स्वीकार करते हैं । यदि वे विशेषताएँ पूर्वोक्त तीन संस्कृतियों की मूल्य दृष्टि में अनिवार्यतः निहित हों तो यह माना जा सकता है कि भारत में 'एक' मिली-जुली संस्कृति है ।

विभिन्न विद्वानों के ग्रन्थों से, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय में संस्कृति विषयक रिफ्रेशर कोर्स में वक्ताओं और सहभागियों के विचार विमर्श से और भारत के पारम्परिक समाज के सदस्य के रूप में प्राप्त संस्कृति से, जिन विशेषताओं को हमने 'भारतीय' मूल्य-दृष्टि समझा, उनके प्रकाश में 'मिली-जुली' संस्कृति के खोजने का प्रयास करेंगे ।

संस्कृत भाषा –

भारतीय संस्कृति के पल्लवित रूप को विश्व समाजों के समक्ष प्रस्तुत करने का परिपक्व माध्यम जो इसकी प्रथम और शाश्वत विशेषता है, वह उसकी भाषा है जो विश्व की प्राचीनतम पूर्ण विकसित समृद्ध भाषा और जिसके बिना भारतीय संस्कृति की अजस्र धाराप्रवाह की कल्पना भी नहीं की जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकती- निश्चय ही संस्कृत है । कहा गया है 'संस्कृतिः संस्कृताश्रिता' । भारत का सम्पूर्ण अतीत संस्कृत भाषा में ही समाया हुआ है । संसार का प्राचीनतम साहित्य और भारतीय संस्कृति के आधारभूत ऋचाओं का प्रणयन संस्कृत में ही हो सका । भारत के धर्म, दर्शन, चिकित्सादि शास्त्रों की रचना संस्कृत में ही हुई । साहित्य की विविध विधाओं में श्रेष्ठतम रचनाएँ, भारतीय इतिहास के प्रमुख स्रोत रामायण, महाभारत, पुराण संस्कृत में ही हैं । यही नहीं भारत को 'एक समाज' के रूप में हजारों वर्षों से बाँधने का श्रेय भी संस्कृत भाषा को ही है । भारत की विभिन्न भाषाओं का शब्दभांडार भी संस्कृत से ही समृद्ध हुआ है । संस्कृत भारत की ईश्वर-प्रदत्त राष्ट्रभाषा है । ।

प्राचीनता और निरंतरता –

संस्कृत भाषा और वाङ्मय की प्राचीनता ही भारतीय संस्कृति की प्राचीनता का भी प्रमाण है । यदि भाषा की उत्पत्ति का प्रचलित विकासवादी सिद्धान्त स्वीकार करें तो भारतीय संस्कृति और भी प्राचीन सिद्ध होती है । भारतीय संस्कृति सहज संप्रेषणीय और सहज अनुभूति पर आधारित होने से, कई परिवर्तनों के साथ अपने मूलरूप में आज भी जीवन्त है तो केवल संस्कृत स्वरूप के कारण । शक, हूण, कुषाण और इनसे भी पूर्व द्रविड, आर्य आदि संस्कृतियों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ आन्तरिक शाश्वत स्वीकृत अध्यात्म के इर्द-गिर्द समायोजित होती रहीं और अन्ततः उनमें आन्तरिक संगति हो गई । इस तरह भारतीयता निरन्तर बनी रही।

वैचारिक स्वातंत्र्य–

भारतीय संस्कृति में मानव का परम मूल्य ही स्वतंत्रता को माना है । अतः जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता को सम्मान दिया गया है । परम्परा के विरुद्ध, बहुसंख्यकों की मान्यता के विरुद्ध, अपनी बात कहने पर मृत्यु की परम्परा पाश्चात्य जगत् में ढूँढी जा सकती है, भारत में नहीं । भारतीय मनीषा में समादृत ग्रंथ जिसे अपौरुषेय कहा जाता है, स्वतःप्रमाण माना जाता है, पर अशिष्ट टिप्पणियाँ भी हमारी ही परम्परा है जिसे सुरक्षित रखा गया है। जैन, बौद्ध अवैदिक दर्शन की स्थापना, प्रचार, प्रसार भी भारत में ही संभव हुआ । यह इसलिए कि 'स्वतंत्रता' मानवमात्र का परम मूल्य है जिसकी प्राप्ति के सभी मार्ग समान महत्त्व के हैं । शाश्वतता और स्वतंत्रता की खोज के साधकों में आलोचना-प्रत्यालोचना की सुदीर्घ परम्परा ने जहाँ वैचारिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वातंत्र्य को पुष्ट किया, वहीं, उसका लाभ भी सभी को मिला । धर्म और दर्शन का जो अनुपम विशाल साहित्य संस्कृत वाङ्मय को शोभित करते हुए हमें गर्व प्रदान करता है, वह वस्तुतः वैचारिक स्वातंत्र्य का परिणाम है ।

आध्यात्मिकता -

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है - का अर्थ है कि यह अनुभूति को, अनुभवकर्ता के स्वरूप को, मूल्य निर्धारण का आधार मानता है । इन्द्रियग्राह्य जगत् और उसमें प्राप्त सुखद या दुखद अनुभूतियाँ स्वरूपतः परिवर्तनशील, अपूर्ण और अल्प होने साध्य नहीं हो सकते - भूमा वै सुखम् - भूमा की प्राप्ति ही मानवाभीप्सा है, भले ही स्वयं को उसका ज्ञान न हो । संसार की अपूर्णता, उसमें होने वाली अतृप्ति की अनुभूति ही मानव की सहज बाह्याभिमुखता को अन्तर्मुखता की ओर मोडती है । जो संस्कृतियाँ बाह्य जगत् की विविधता में भटकती हैं, वे अपनी परिधि का निर्माण कर लेती हैं और एक बार परिधि स्थिर हो जाए तो उससे बाहर निकल पाना दुष्कर हो जाता है । भारतीय संस्कृति केन्द्र में पहुँचने का आग्रह करती है । संस्कृति में आत्मा को केन्द्र घोषित किया जाता है । आत्मा का अर्थ भी 'सारत्व' होता है । आत्मानुभूति से अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित अनुभूति अन्य कुछ नहीं । इस सुनिश्चित अनुभूति के आधार पर जीवन की सारी क्रियाएँ निर्धारित हों तो जीवन में भटकाव नहीं होता । जीवन में विषम प्रतीत होने वाले विविध पक्षों में सामंजस्य हो जाता है । जीवन के इस रहस्य को जान कर हमारे ऋषियों ने पुरुषार्थ, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि को निर्धारित किया । अध्यात्म्य-केन्द्रित होने से यह जीवन-दर्शन आज भी भारत में जीवित हैं ।

भारतीय मन जीवन को सुखी बनाने के लिए, नैतिक बनाने के लिए कानून, अर्थशास्त्र या भौतिक विज्ञानों को साधना की बात नहीं करता । अष्टांगपथ, श्रवण, मनन, निदिध्यासन को हर पंथ और दर्शन ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है । इन सबका लक्ष्य एक ही है- आत्मा का पवित्रीकरण । जो लोक ईश्वर को मानते हैं वे ईश्वरभक्ति को साध्य और साधन मानते हैं और जो लोग ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते वे आत्मज्ञान द्वारा निर्वाण का उपदेश देते हैं । दोनों ही स्थितियों में मानव को मानवतत्त्व से अतिक्रमित अवस्था तक पहुँचाना ही लक्ष्य होता है । यही भौतिकता से अध्यात्म्य की ओर संक्रमण है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंथ प्रधानता-

आध्यात्मिक मूल्यदृष्टि का सहज पर्यवसान आस्था में होता है । आस्था पंथ, मत या रिलीजन का मूल है । किसी दिव्य सत्ता, शक्ति या अवस्था पर आस्था और तदनुसार व्यवहार पंथ या रिलीजन कहलाता है । भारत में वैदिक, पांचरात्र, वैष्णव, शाक्त आदि आस्थाएँ पल्लवित होती रही हैं । ईश्वर को न मानने पर भी निर्वाण जैसी दिव्य अवस्था पर आस्था ने जैन, बौद्ध मतों को जन्म दिया। वैदिक पंथों के साथ साथ ये भी भारतीय संस्कृति के अंग बने । भारत का हर व्यक्ति किसी न किसी पंथ में जन्म लेकर जीता है । आस्था का यह आवेग इतना प्रबल है कि जीवन के विभिन्न सामाजिक कार्य भी ईश्वर या दिव्यता से जोड दिए जाते हैं । विवाह, जन्म आदि संस्कारों में वेदमंत्र या अवतार पुरुषों का स्मरण, ईश्वर का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण होता है। दिव्य दर्शन की यह प्रवृत्ति भारत में इतनी व्यापक और प्रबल है कि श्रेष्ठ मानवों को तो दिव्यत्व प्रदान किया जाता है तो केवल उनकी ईश्वरवादिता के कारण । भारतीय परंपरा के अनुसार तो ईसामसीह और पैगंबर मोहम्मद भी दिव्य अवतारों में सम्मिलित हो जाते हैं । भारत की तो वैचारिक परंपरा ही है 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' । अध्यात्म-प्रधान पंथवर्चस्व के कारण गीता कहती है कि जो जिस रूप में ईश्वर को पूजता है वह ईश्वर का हो जाता है । कोई एक ग्रन्थ, एक ही पैगंबर या अवतार हो- यह हमारी परंपरा या संस्कृति में मान्य नहीं है ।

भारतीय पंथों में ईश्वर के साकार रूप की आराधना प्रमुख है । निराकार ईश्वर को सिद्धान्ततः स्वीकार करने वाले भी किसी न किसी रूप में प्रतीक पूजा करते हैं । वास्तव में मूर्तिपूजक यह मानते हैं कि मूर्ति ईश्वर नहीं है लेकिन मूर्ति में दिव्यत्व देखने वाले भक्त में निहित भाव ही मूर्ति पूजा का कारण है।[१] इसीलिए मूर्तिपूजा हो या मूर्तियाँ भिन्न भिन्न हों, यह कभी निन्दा या संघर्ष का कारण नहीं बना । मूर्तिपूजा के विस्तार ने मंदिरों को जन्म दिया ।

भारतीय जीवन में मंदिरों का बहुत महत्त्व है । लोगों के घरों में देव प्रतिमाएँ और पवित्र ग्रंथ रखने की परम्परा तो भारत में बहुत प्राचीन और व्यापक है । यह व्यक्तिगत व्यवस्था है । लेकिन हर भक्त और धर्मपरायण व्यक्ति अपनी अनुभूति में समाज को सहभागी बनाना चाहता है क्योंकि वह समाज का घटक है । इसलिए पूजा को वह घर से बाहर सार्वजनिक करना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहता है । मंदिर इस सामाजिक भाव का सहज और मूर्त रूप है । डॉ. राधाकृष्णन् का यह कथन सही है कि 'आराधना अवश्य ही संस्था और कर्मकाण्ड में मूर्तिमान् होनी चाहिए' । समुदाय की धार्मिक जीवन की सार्थक और संस्थारूप अभिव्यक्ति अवश्य होनी चाहिए । इसके बिना पूजा की पूर्णता और प्रभाव का विकास शायद ही हो । मंदिर से संबद्ध उत्सव, पूजा के विविध उपकरण, तीर्थाटन आदि अनिर्वचनीय आस्थाओं के संवाहक हैं।[१०] मंदिर न केवल व्यक्ति के लिए आराधना स्थल है वरन् अन्य भक्तों या दार्शनार्थीयों से अपरिचित आत्मीयता स्थापित करने का भी स्थान है । मंदिर अन्य तीर्थस्थल और कुंभादि मेले आत्मीयता स्थापना के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। वर्षों की अवधि में विदेशी संस्कृतियों के आक्रमणों के बावजूद हमारी संस्कृति की अक्षुण्णता का एक कारण यह भी है । मंदिर केवल पूजाघर ही नहीं वरन् मूर्तिकला, वास्तुकला, नृत्य, संगीत आदि की आश्रयस्थली भी है। इनके विकास में मंदिरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । प्राचीन काल से मंदिर धर्म, दर्शन, ज्योतिषादि शास्त्रों की रचना और संरक्षण के केन्द्र रहे हैं ।

कर्मवाद तथा पुनर्जन्म

भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर अतिक्रमण जीवन की निरन्तरता का बोध कराता है । वर्तमान जीवन को ही अन्तिम मानने के बजाय इसे अनन्त जीवन श्रृंखलाओं में एक कडी के रूप में स्वीकार करना पडता है । तब निश्चय ही पूर्व और पश्चात् जीवन की मान्यता उभरती है । कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त न केवल मोक्षप्राप्ति की साधना की दीर्घकालिकता से उत्पन्न थकान को दूर करते हैं वरन् किए गए कर्मों के फलप्राप्ति की अवश्यं-भाविता का आश्वासन भी देते हैं । शरीर की आयु बहुत कम होती है। जब तक शरीर है कर्म करना ही पडता है । मृत्यु की अनिश्चित दस्तक से, किए जा रहे कर्मों की व्यर्थता की आशंका होती है । पुनर्जन्म की मान्यता कर्मफल का आश्वासन देती है । नैतिक व्यवस्था के लिए ऐसा आश्वासन आवश्यक है अन्यथा नैतिक क्यों होना चाहिए ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर दे पाना संभव नहीं है । नैतिकता को आध्यात्मिक उद्‌भव के रूप में केवल भारतीय मनीषा ने स्थापित किया । कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को अनिवार्यता के कारण ही, आत्मा की शाश्वत सत्ता को स्वीकार न करते हुए भी बौद्ध मत ने इन्हें स्वीकार किया । ये सिद्धान्त सिर्फ अध्यात्मवाद में ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मान्य हो सकते हैं। आज भी साक्षर-निरक्षर, विद्वान-अविद्वान भारतीय अपने शब्दों में इन सिद्धान्तों को अवश्य स्वीकार करते पाए जाते हैं - यह इसकी व्यापकता का सूचक है।

पुरुषार्थ चतुष्टय -

अध्यात्म प्रधानता की स्वीकृति भौतिक जीवन का निषेध नहीं वरन् भौतिकता या भोगवाद को सार्थक दिशा देने में है। अर्थसंचय और कामना पूर्ति का कोई भी अंत नहीं है। सहज रूप से प्राणिस्वरूप मनुष्य अर्थ और कामना जगत् में लिप्त रहे तो उसका अन्तहीन संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। इस संघर्ष में कहीं ठहराव नहीं, कहीं शांति नहीं। अस्तु, भारतीय परम्परा ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सम्मिलित रूप देने के लिए पुरुषार्थ चतुष्टय का निर्धारण किया। पाशविक अवस्था से मनुष्य बनाने का माध्यम धर्म है। धैर्य, बुद्धि, सत्य, क्षमा, अक्रोध आदि से युक्त चरित्र निर्माण प्रथम पुरुषार्थ है। धर्मयुक्त अर्थार्जन कामनाओं की मर्यादित पूर्ति में सहायक होती है। येन केन प्रकारेण अर्जित धन का भोग अमर्यादित कामनाओं में होता है। ऐसा धन समाज में ईर्ष्या, द्वेष और अपराध को जन्म देता है साथ ही अर्जन करने वाले को भी हमेशा भय और आशंका से ग्रस्त करता है। धर्मयुक्त या धर्माश्रित अर्थार्जन अर्थ की महत्ता का बोध कराता है अतः इसका उपयोग भी मर्यादित हो जाता है। एक सीमा तक कामनाओं की पूर्ति के उपरांत मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। अर्थ और काम अपने स्वरूप के कारण असार प्रतीत होने लगते हैं तब मोक्ष की ओर स्वतःप्रवृत्ति होने लगती है।

आश्रम धर्म -

मनुष्य में 'होने' और 'करने' की असीम संभावनाएँ हैं लेकिन एक जीवन में सामर्थ्यसीमा शरीर के कारण स्वतः आ जाती है। जन्म के उपरान्त शरीर निरन्तर वृद्धि और शक्ति को प्राप्त होता है। शरीर नश्वर है, वृद्धि के साथ-साथ क्षीण भी होता है। अतः शरीरधारी जीवन में करणीय का नियंत्रण आवश्यक है। छोटे से जीवन में करने को बहुत कुछ होता है, इच्छाएँ बहुत होती हैं। यदि इच्छापूर्ति को व्यवस्थित न किया जाए तो जीवन अन्त तक अपूर्ण ही रहेगा। इस अपूर्णता की अनुभूति से जीवन ही बोझ लगने लगता है। भारतीय परम्परा जीवन को न नाटक मानती है न संघर्ष और न प्रयोग। जीवन-इतिहास में पहली बार जीवन की सहज स्थितियों का वर्गीकरण करके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनके करणीय धर्म का निर्धारण किया गया । इस वर्गीकरण को आश्रम और प्रत्येक वर्ग के कर्तव्य को आश्रमधर्म कहा गया है ।

जीवन का प्रारंभिक सोपान मनुष्य में निहित क्षमताओं के ज्ञान और विकास का होता है । इस अवधि में प्राप्त क्षमता ही शेष जीवन का आधार बनती है। यह अवस्था संसार का ज्ञान प्राप्त करने की है । मनुष्य होने से उचित-अनुचित का ज्ञान भी आवश्यक है । लेकिन यह सब कुछ बिना सत्यनिष्ठ साधना के संभव नहीं है । इसलिए इस अवस्था में मनुष्य को एकाग्र चित्त हो कर अथवा गुरुओं से श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । भोगविलास की वस्तुओं से दूर गुरुकुल में सश्रम ज्ञानार्जन करना चाहिए । इस आश्रम को ब्रह्मचर्य कहा गया । मनसा-वाचा-कर्मणा समस्त विषय वासनाओं से मुक्त संयमित आचरण ही इस अवस्था में धर्म या कर्तव्य है । ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती; अतः ज्ञानार्जन का क्रम पचीस वर्ष पर ही समाप्त कर, माता, पिता, देव, समाज के प्रति कर्तव्य के निर्वहन का विधान रखा गया । समाज को सद्पुरुष भेंट कर सके, इसके लिए विवाह कर गृहस्थ बनने का विधान है । गृहस्थाश्रम कामनाओं की पूर्ति का भी क्षेत्र है । अतृप्त कामनाएँ कुण्ठा उत्पन्न करती हैं । कुण्ठित मनुष्य समाज पर बोझ होता है । इसलिए सहज कामनाओं की मर्यादित तृप्ति के लिए गृहस्थाश्रम आवश्यक है। लेकिन कामनाएँ अनंत होती हैं, जीवन में ऐसा कोई समय नहीं आता, जब हम यह कह सकें कि हमारी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो गईं। इसलिए पचास वर्ष की आयु प्राप्त होने के पश्चात् वानप्रस्थ का विधान किया गया है । वानप्रस्थ यों तो वन में परिवार से दूर रहकर आत्म-विश्लेषण, अतीत-विवेचन और भविष्य-निर्धारक चिंतन के लिए है । तथापि आज की परिस्थितियों में यह अवस्था परिवार की सीमा से बाहर निकलकर समाज और राष्ट्र को अपने ज्ञान, अनुभवों का लाभ देने की है । व्यक्तिगत और पारिवारिक स्वार्थ त्याग कर राष्ट्र सेवा में समय व्यतीत करना ही सामयिक वानप्रस्थ है । पचहत्तर वर्ष की आयु आते आते शरीर और मन थक जाते हैं । यह अवस्था सत्यान्वेषण की है, सत्य-साधना की है । एकांत में अध्ययन, मनन और निदिध्यासन द्वारा निष्कामता को प्राप्त करने का प्रयास संन्यास है । सत्य साधक मानापमान, लोभ, मोह, क्रोध आदि से मुक्त होकर देश, राष्ट्र की सीमाओं से ऊपर उठकर समाज का मार्गदर्शन करे यह संन्यासी का कर्तव्य है । इस कर्तव्यपालन से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्धि निर्मल होती है, आत्मा शुद्ध होती है और मोक्ष की प्राप्ति सरल हो जाती है। व्यक्ति के छोटे जीवन को आश्रम व्यवस्था सार्थकता प्रदान करती है।

उपर्युक्त मूल्य भारतीय समाज में सुदीर्घ परम्परा से स्वीकृत हैं और एक साथ ये मूल्य विश्व के किसी अन्य समाज में, (मेरी जानकारी के अनुसार) कहीं उपलब्ध भी नहीं है। इसलिए उन्हें हम भारतीय संस्कृति की मूल्य दृष्टि कहते हैं। यदि ये मूल्य ईसाई और इस्लाम में भी अनिवार्य रूप में स्वीकृत हैं तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीय संस्कृति हिंदू, इस्लाम, ईसाई संस्कृतियों का मिश्रण 'एक' संस्कृति है। 'हिंदू' शब्द से जिन्हें अधिक मोह है ऐसे लोगों की दृष्टि में जिन जीवन मूल्यों का हमने पूर्व में उल्लेख किया वे हिन्दू मूल्य हैं, वह हिन्दू संस्कृति है। भारतीयता और हिन्दुत्व एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त दो शब्द हैं।

आगे बढने से पूर्व एक विवेचन हम करना चाहते हैं । जिन तीन संस्कृतियों का नामोल्लेख यहाँ किया गया है, उन नामों का रिलीजन या मजहब के साथ भी भ्रामक प्रयोग करने का प्रचलन है यथा हिन्दू धर्म या रिलीजन, इस्लाम रिलीजन, ईसाई रिलीजन आदि । इसे हम भ्रामक कहते हैं क्योंकि हिन्दू रिलीजन जैसा कुछ भारत में कभी नहीं था और न आज है । पता नहीं किस भाषा-दारिद्र्य के कारण ऐसा प्रचलित हो गया । वैष्णव, शैव, शाक्त, सिक्ख, सतनामी, कबीरपंथ जैन, बौद्ध आदि हिंदुरिलीजन्स (रिलीजन नहीं) हैं । इन्हें हिन्दु कहने में औचित्य यह है कि इन सबकी उत्पत्ति हिन्दुस्थान या भारत में हुई । जिस संस्कृति में इनका आविर्भाव हुआ वह हिन्दू संस्कृति जीवनदृष्टि है । एक वाक्य में आशय यह है कि हिन्दू संस्कृति है महजब या पंथ नहीं । लेकिन इस्लाम संस्कृति भी है, महजब भी । तौहीद, नमाज, रोजा, हज, जकात-ये इस्लाम मजहब के अंग हैं, आस्था का विषय हैं । अरबी भाषा, लिपि, कुर्आन्, शरीयत इस्लामी संस्कृति के अंग हैं। दूसरी ओर 'ईसाई' (हमारे विचार में) कोई संस्कृति नहीं, बल्कि सिर्फ एक मजहब है । जिसके अनुयायी अमरीकी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश, जर्मन आदि संस्कृतियों में हैं ।

एक संस्कृति के रूप में इस्लाम अरब-संस्कृति है । भारत में इस्लाम केवल एक पंथ या मजहब के रूप में नहीं आया । यह बहुत स्वाभाविक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

था। पंथ या मजहब संस्कृति का एक उपागम है । कोई मजहब जिस संस्कृति की उपज है उस संस्कृति के कई मूल्य मजहबी आस्था के साथ जुड जाते हैं। अतः इस्लाम मजहब और इस्लाम संस्कृति में अविरोध स्वाभाविक है । भारत में अधिकांश मुसलमान उन्हीं पूर्वजों के उत्तराधिकारी हैं जिनके हिन्दू या ईसाई । अतः उनकी भी वही परम्पराएँ और मूल्यदृष्टि हों, यह स्वाभाविक है । महजब या पंथ आस्था का विषय है अतः उस आस्था से सम्बधित अन्य बातें भी मजहब की तरह ही महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं । भारत के मुसलमानों को यह महसूस होना कि इस्लाम का समूचा अतीत उनका अपना अतीत है मजहबी दृष्टि से स्वाभाविक है। इस प्रकार भारत के मुसलमान दो संस्कृतियों के विरोधाभासों में आबद्ध हैं । दोनों ही संस्कृतियाँ उनके व्यक्तित्व-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिकां निभाती हैं । इसीलिए लौकिक विषयों में उनके और अन्य भारतीय हिन्दुओं में समानता पाई जाती हैं । लेकिन जब ऐसा अवसर आता है जिसमें 'इस्लाम' प्रमुख हो तो उनके व्यवहार में अहिन्दू संस्कृति की अभिव्यक्ति होने लगती है । एक सहस्र वर्षों के सह-अस्तित्व के बाद भी, सुधारकों द्वारा निरन्तर प्रयासों के बाद भी हिन्दु-मुस्लिम एकता स्थापित नहीं हो पाई क्योंकि लौकिक व्यवहारों में अब भी मुसलमान मजहब के नाम पर अरब संस्कृति के तत्त्वों से प्रायः संप्रेरित होते हैं ।[११]

महजब या व्यक्तिगत आस्था के रूप में इस्लाम के आदर्श, विश्व और भारत के भी महजब की ही तरह हिन्दु संस्कृति के अनुरूप होने से उसमें विलयन आसानी से हो गया होता । अल्लाह की इबादत, नमाज, रोजा आदि किसी न किसी रूप में हिन्दु संस्कृति में जन्मे पन्थों में भी विद्यमान् हैं। लेकिन अरबी भाषा, शरीयत, मुहम्मद साहब को अंतिम पैगंबर मानना, आदि अहिन्दु और भारत के लिए विदेशी संस्कृति के तत्त्वों को मजहब का अनिवार्य अंग मानकर तदनुसार व्यवहार करना उन्हें हिन्दु संस्कृति से पृथक् संस्कृति के समाज के रूप में स्थापित रखना है ।

भाषा किसी भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण संवाहक होती है । भारत में बंगाली, तमिल, तेलगू, असमिया, आदि कई भाषाएँ हैं । इन मातृभाषा वाले लोग अपनी सन्तान का नाम अपनी भाषा में रखते हैं लेकिन इन्हीं मातृभाषाओं वाले मुसलमान अपनी सन्तान का नाम अरबी भाषा में रखते हैं । कुर्आन चूँकि अल्लाह द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन है और वह अरबी भाषा में है इसलिए वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा भले ही मातृभाषा न हो, भारत की भाषा न हो लेकिन नामकरण अरबी में हो - यह संस्कृति और मजहब में अविरोध बनाए रखने का एक साधन है और हिन्दुओं से स्वयं की पृथक् अस्मिता बनाए रखने की भावना का परिणाम है । यह उचित है या अनुचित यह विवाद सम्प्रति हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है । यह केवल एक तथ्य की प्रस्तुति है यह दिखाने के लिए कि हिन्दु और मुस्लिम संस्कृतियाँ पृथक् रहती हैं ।

इस निष्कर्ष के साथ 'भारतीय संस्कृति' की हमारी खोज समाप्त हो जाती है लेकिन कुछ नई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि 'एक' भारतीय संस्कृति नहीं है तो स्पष्ट है 'एक' भारतीय समाज भी अस्तित्व में नहीं है । यदि एक संस्कृति नहीं है तो एक राष्ट्र भी नहीं है ।[१२] और अगर 'एक राष्ट्र' नहीं है तो, 'एक राज्य' भी असहज और विवशता के रूप में ही होगा । तब राष्ट्रीय एकता, सामाजिक एकता की कल्पना भी कैसे की जा सकती है? एक विभाजन की स्मृतियों के प्रकाश में भविष्य में 'एक राज्य' भी रहेगा - इसकी आशा कैसे की जा सकती हैं ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर एकता की सदिच्छाजन्य कल्पना पर ही आधारित होंगे । भारतीय संस्कृति सम्प्रति निर्माणाधीन है। एकाधिक संस्कृतियों का यह दीर्घकालिक सह-अस्तित्व एक नई संस्कृति को जन्म दे सकता है । जिसमें विभिन्न संस्कृतियों की पृथक् अस्मिता का विलय हो जाय और तब जो संस्कृति होगी वही भारतीय संस्कृति होगी और भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ उसकी उप-संस्कृतियाँ होंगीं। संस्कृति परिवर्तनशील और गतिशील सत्ता है । अतः भारतीय संस्कृति का निर्माण अवश्य होगा । अस्तु, अब समस्या यह है कि 'भारतीय संस्कृति' कैसी हो, और उसका निर्माण कैसे हो ? प्रकारान्तर से प्रश्न है कि यदि भारत में एक संस्कृति नहीं है, एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है तो फिर किस प्रकार की एकता यहाँ निवासियों में है ? क्या एकता का वह आधार स्थायी, आत्मीय और अन्तःस्फूर्त है ? या कोई विवशता ? समाधान के लिए पृथक् संस्कृतियों के सह-अस्तित्व के दुष्परिणामों की खोज अपेक्षित है ।

पुनश्च अपने लेख में हमने ईसाई संस्कृति की अधिक चर्चा नहीं की क्योंकि हमारे विचार में भारत में ईसाई संस्कृति की स्पष्ट रूपरेखा अभी बनी नहीं है । इसीलिए स्वजाति केन्द्रितता (Ethnocentricism) के कारण हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष तो बहुत होते हैं, हिन्दु ईसाईयों के बीच बहुत कम । भारत में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईसाई अभी एक मजहब के रूप में है और मजहबों का हिन्दु संस्कृति में हमेशा स्वागत रहा है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययन शाला डॉ. बी. कामेश्वर राव
रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर (छत्तीसगढ)

टिप्पणियाँ

१. समाज : दार्शनिक परिशीलन, पृ. ७
२. गुप्त रघुनाथ (अनु.), सांस्कृतिक मानवशास्त्र, पृ. ३१०
३. हर्टन, पी.बी., सोशियालॉजी, पृ. ५१
४. वही, पृ. ५२
५. गांगुली सचीन्द्रनाथ, 'कल्चरल कन्फूसन इन मार्डर्न इंडिया', विश्व भारती जर्नल ऑफ फिलॉसॉफी, मार्च १९६७, पृ. ४१
६. सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, अंक-४८, मार्च-सितम्बर ९९, पृ.१२
७. खान रशीदुद्दीन, (संपा.), कम्पोजिट कल्चर ऑफ इंडिया एण्ड इन्टिग्रेशन, इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ एड्वान्स स्टडीज्, १९८७, पृ. ३१
८. सोशियोलॉजि, पृ. ६८-६९
९. न देवो विद्यते काष्ठे पाषाणे न मृण्मये ।
देवो हि विद्यते भावे तस्माद् भावो हि कारणम् ॥ (चाणक्य नीति)
१०. रिलीजन एंड सोसाइटी, पृ. १२४-२५
११. The majority (of Muslims) is by no means secular, it is religious-minded in the sense that in its outlook even on worldly life the majority of Muslims is guided by religion (p. 1).
Indian Muslims by and large hold that the shariah is an essential constitutent of Islam. They are affraid that if they submit to the process of secularization they will eventually have to forget their religious past, give up their institution of

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon:

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

shariah and cut themselves off from their history. Mushirul Huq, Islam in Secular India, 1972, p. 51.

१२. हर नई संस्कृति में स्वजातिकेन्द्रितता (Ethnocentricism) का उत्साह पाया जाता है। और हर्टन का यह मत सही है कि Ethnocentricism reinforces nationalism and patriotism. Without ethnocentricism a vigorous national Consciouness is probably impossible. Nationalism is but another level of group loyalty. हिन्दु संस्कृति चूँकि अति प्राचीन है अतः इसमें स्वजातिकेन्द्रितता का उत्साह बहुत कम है इसलिए राष्ट्रीय भावना भी बहुत गहरी नहीं है। संभवतः वही कारण है कि भारत में राष्ट्रवाद को संकीर्णता मानने वाले आन्तराष्ट्रीयतावादी विचारक अधिक हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वातंत्र्योत्तर भारत में ओशो का दार्शनिक चिंतन

ओशो, रजनीश, स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं । १९९० में उनके निधन के पश्चात् कुमार प्रशांत लिखते हैं - 'रजनीश महत्त्वपूर्ण इसलिए थे कि उन्होंने विचार को हथियार की तरह बरतने की कोशिश की । आजादी के बाद उभरे उन अत्यंत थोडे लोगों में रजनीश एक थे, जिन्होंने विचार को इस प्रकार पकडने, समझने-समझाने और उसका संगठन करने की कोशिश की और यह कोशिश पूरी तीव्रता और महानता से की, अपने मन-प्राणों का बल लगाकर उसे साकार करने का पुरुषार्थ किया।''[१]

अपनी इन विशेषताओं के कारण ओशो स्वातंत्र्योत्तर भारत के विशिष्ट दार्शनिक बन गए और इस युग के चिंतन में अपेक्षित योगदान दिया । कई लोगों का कहना है कि ओशो ने अपने विशाल वाङ्मय में नया कुछ नहीं कहा है, केवल प्राचीन दर्शनों की व्याख्या मात्र की है, इसलिए उनमें मौलिकता नहीं है । परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । प्रो. टेलर[२] के अनुसार मौलिक चिंतक वह होता है जो दूसरी विचारधाराओं की आलोचना भी करता है और गहन चिंतन तथा सूक्ष्म परीक्षण के बाद अपने दर्शन का प्रतिपादन भी करता है । ओशो ने ये दोनों काम गंभीरता से किये हैं। अपनी वैचारिक यात्रा के आरंभ में उन्होंने पूर्व स्थापित मान्यताओं के संबंध में प्रखरता से सवाल उठाते हुए आलोचक की भूमिका पूरी शिद्दत से निभाई और उसके बाद उत्तर पक्ष में अपनी दार्शनिक स्थापनाओं का प्रतिपादन किया । यह प्रतिपादन उन्होंने या तो स्वतंत्र रूप से अपने विचारों को प्रस्तुत करके किया अथवा अन्य चिंतकों के विचारों की व्याख्या करके । परंतु इन व्याख्याओं में भी उनकी निजी स्थापनायें स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं। उन्होंने स्वयं भी बार-बार कहा है कि ये सब खूँटियाँ हैं जिन पर मैं अपनी कोट टाँगता हूँ; ''मैं जो कुछ कहता हूँ वह कुरान, बाइबल या गीता से पूछ कर नहीं कहता, अपने अधिकार से कहता हूँ । अपने निजी अनुभवों से कहता हूँ ''।[३]

यद्यपि प्राच्य और पाश्चात्य विचारधाराओं का मेल बिठाने का काम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वातंत्र्यपूर्व युग के दार्शनिकों ने भी किया है, परंतु तब यह काम राष्ट्रीय महत्त्व का था, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गौण हो गया । इसीलिए श्री संगमलाल पाण्डेय ने "स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिकों का मुख्य कार्य तत्कालीन भारतीय दर्शन का और आगे अर्थ करना"[४] बताया है । ओशो ने अपनी दार्शनिक स्थापनाओं में यह काम किया है ।

ओशो की स्थापनाओं को भाषा तथा विचार दोनों आयामों में परखा जा सकता है । उन्होंने अपने ज्यादातर प्रवचन हिन्दी में दिए हैं और अंग्रेजी में दिये गए उनके प्रवचनों का भी हिन्दी में अनुवाद हो गया है । हिन्दी भाषा में उपलब्ध उनकी सैकडों पुस्तकें उनके दार्शनिक चिंतन के पुष्ट प्रमाण हैं । ये पुस्तकें इस बातके प्रमाण भी हैं कि दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में ओशो ने जितनी सहज-सरल भाषा का प्रयोग किया है, संभवतः अन्य किसी ने नहीं किया । हिन्दी साहित्य के विद्वान निशांत केतु ने लिखा है, "रजनीश की भाषा के भीतर दो विषम तत्त्व समीकृत हो गए हैं । साधारणतः जहाँ तर्क और तर्कशास्त्र तथा प्रमाण और प्रमाणशास्त्र का वर्चस्व होगा, वहाँ भाव और भावप्रवणता का अभाव होने लगता है । इसका विलोम भी इतना ही सत्य है । किन्तु रजनीश की भाषा का सामरस्य और सौष्ठव यह है कि उनकी व्यंजना तर्क और भाव दोनों को सम्यक् स्थान देती है । बुद्धिजीवी बिना तर्कशास्त्र और विज्ञान के प्रभावित नहीं होते । आचार्य रजनीश की भाषा में यह सब तो है ही, 'भाव' अनुभूतिगत 'प्रवणता' और व्यंजनागत प्रांजलता भी है । वे 'सत्य' को विभिन्न कोणों-दृष्टिकोणों से उपस्थित करते हैं । यही सत्य अनुभूति के स्तर पर अध्यात्म और धर्म बन जाता है, व्यंजना के धरातल पर कला बन जाता है, अनुसंधान की प्रक्रिया में विज्ञान बन जाता है और दर्शन के प्रांगण में तर्क बन जाता है। वे सत्य को सभी आयामों में व्यक्त करते हैं ।[५]

ओशो के भाषा-विधान और प्रयोग-विन्यास का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इनमें रचनात्मक साहित्यकार की मौलिकता है तथा अभिव्यंजना प्रांजल एवं संप्रेषणीय है । लम्बे काल से इस पर विवाद बना रहा है कि संप्रेषणीयता प्रमुख है या अभिव्यंजना ? कुछ संप्रेषणीयता का पक्ष लेते हैं और कुछ अभिव्यंजना का । परंतु अकेले-अकेले दोनों एकांगी हैं । इसलिए सर्वोत्तम स्थिति दोनों का संतुलित समन्वय है । कालिदास की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रचनाओं में यह समन्वय मिलता है । परंतु अभिव्यंजना पर अधिक बल देने के कारण कबीर और निराला इस श्रेणी में नहीं आते । इसी प्रकार साम्यवादी संप्रेषणीयता पर अत्यधिक बल देते हैं, इसलिए उनके दर्शन-साहित्य से सरलता की सुगंध तिरोहित हो जाती है । ओशो की भाषा इस एकांगीपन से मुक्त है, क्योंकि वहाँ किसी एक की प्रधानता नहीं बल्कि दोनों का संतुलन है । इसलिए वह जितनी स्पष्ट है उतनी ही रोचक भी । भाषा की बोधगम्यता उनकी पहली विशेषता है । लेकिन जरूरत पडने पर जब वे दुरूह होते हैं तो वहाँ संगीत-सा आनंद मिलने लगता है । तभी तो उनके प्रति आकर्षित होकर राष्ट्रकवि दिनकर २६ अगस्त १९७१ को अपनी डायरी में लिखते हैं- "आचार्य रजनीश की गतिविधियों में गहरी दिलचस्पी हो गयी है । वे साहित्यिक और चिंतक बहुत उच्च कोटि के हैं । वक्ता तो वैसा अभी हिन्दी में भी कोई है ही नहीं । 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' से लगता है कि वे अध्यात्म के क्षेत्र में भी दूर तक पहुँच गए हैं । जैसी हिन्दी वे बोलते हैं, वैसी ही अगर ये अंग्रेजी बोल सकें, तो वे सारे संसार में प्रसिद्ध हो जायेंगे।"[६]

ओशों की भाषा की आंतरिक बुनावट की पडताल करने पर और भी कई बातें स्पष्ट होती हैं । जैसे, उनकी भाषा तर्कनिष्ठ है । तर्क आज के बौद्धिक युग की नींव है । वह कोई भी बात जो बुद्धिद्वारा समझी नहीं जा सकती, अस्वीकृत हो जाती है । इसलिए स्वीकृति हेतु तर्क अनिवार्य है । तर्क के सहारे जब कुछ कहा जाता है तो वह बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता है । ओशो की भाषा में यह तर्क अपने पूरे सवाब पर है । योग की शब्दावली में कहें तो तर्क उनकी भाषा का मूलाधार चक्र है । इसीलिए लोग उनके विचारों से सहमत होते हैं । परन्तु जो लोग उनसे सहमत नहीं होते वे भी उनकी तर्क-सरणी की प्रशंसा किए बगैर नहीं रहते । फिर यह तर्क तभी संभव होता है जब उसके लिए पर्याप्त बौद्धिकता और तथ्य संग्रह हो । ओशो के पास इन दोनों का अकूत भंडार है । इसीलिए वे अपने तर्क से लोगों की सहमति प्राप्त करने के बाद अपनी भाषा को 'यू' आकार ('U' turn) में मोड देते हैं, वहाँ ले जाने के लिए जहाँ दर्शन का मूल होता है ।

भारतीय दर्शन का मूल ब्रह्मज्ञान अथवा स्वयं का साक्षात्कार है । इसे ही मोक्ष, निर्वाण तथा कैवल्य आदि भी कहा गया है । यह एक अनुभूति है जो तर्क के पार जाने से होती है । इसीलिए ओशो अपने तर्क का उपयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सीढी की तरह इस आत्मानुभूति के द्वार तक ले आने के लिए करते हैं । उसके बाद तर्कभाषा की यात्रा समाप्त हो जाती है और आगे तर्कातीत लोक का संकेत मिलने लगता है । ओशो ने स्वयं कई स्थानों पर कहा है कि मेरे तर्क उँगलियाँ हैं जो तर्कातीत सत्य की ओर इशारा करती हैं । आज के बौद्धिक युग में द्वार तक ले आने के लिए तर्क का इतना कुशल प्रयोग करके ओशो भाषा के स्तर पर अपने चिंतन का योगदान सिद्ध कर देते हैं ।

भाषा के संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है । समकालीन भारतीय दर्शन के राजा राममोहन राय युग में यद्यपि दर्शन की भाषा मूलतः संस्कृत थी, परंतु हिन्दी का विकास भी दार्शनिक भाषा के रूप में हो रहा था । मगर उस युग के दार्शनिकों ने संस्कृत की जगह अंग्रेजी को दार्शनिक विचार-विमर्श की भाषा बना कर हिन्दी के इस विकास को अवरुद्ध कर दिया । स्वातंत्र्योत्तर युग में यह अवरोध टूटा है और अंग्रेजी की जगह हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं को भी प्रतिष्ठा मिली है । फलतः संस्कृत और हिन्दी के बीच आने वाली अंग्रेजी विस्थापित हुई है । हिन्दी सीधे संस्कृत से जुडी है और उसकी परम्परा से मिल कर भारतीय दार्शनिक भाषा के रूप में स्थापित होने लगी है । संगमलाल पाण्डेय के अनुसार, "हिन्दी दर्शन की यह प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर दर्शन की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है । यह मौलिक चिंतन और लेखन की प्रवृत्ति है ।"[७] वे इस प्रवृत्ति के लम्बे इतिहास की चर्चा करते हुये समकालीन युग में साधुनिश्चय दास (लगभग १८५० इ.) से इसका प्रारम्भ बतलाते हैं और बाद में दादू, कबीर, दयानन्द सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन, गोपीनाथ कविराज, बलदेव उपाध्याय, नन्द किशोर देवराज तथा यशदेव शल्य आदि अनेक दार्शनिक विद्वानों को इसके पल्लवित-पुष्पित करने का श्रेय देते हैं । कहना न होगा कि ओशो इस परम्परा की कडी सिद्ध होते हैं । स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी को दार्शनिक भाषा के रूप में स्थापित-संवर्धित करने का श्रेय सबसे ज्यादा ओशो को ही जाता है ।

इस प्रकार यह सुनिश्चित होता है कि हिन्दी भाषा के स्तर पर दर्शन को लोकप्रिय बनाने का महत् काम ओशो ने किया है । भारतीय दर्शन के सदा जीवन से जुडे रहने की बात कही जाती रही है, परन्तु अपनी भाषायी दुरूहता के कारण यह सदा आम जन से दूर रहा है । ओशो ने भाषा को सरल-सहज बना कर यह दूरी समाप्त कर दी है, और चूँकि हिन्दी भारत की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राष्ट्रीय भाषा है, इसलिए हिन्दी में अपने प्रवचन देकर और उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करके उन्होंने दर्शन को सीधे जनता से जोड दिया है । स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी भाषा के माध्यम से दार्शनिक चिंतन को विकसित और स्थापित करने का यह कार्य ओशो का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

जहाँतक वैचारिक आयाम की बात है, ओशो ने अपना विशिष्ट अवदान वहाँ भी दिया है । श्री संगमलाल पाण्डेय के अनुसार- "स्वातंत्र्योत्तर दर्शन मूलतः फुटकर दार्शनिक चिंतन में ही विश्वास करता है और मानता है कि दार्शनिक सम्प्रदाय या निकाय का निर्माण करना दोषरहित नहीं है । चिंतन निसर्गतः प्रकीर्ण है । इन प्रकीर्ण चिंतनों को एकत्र करके एक निकालय की संरचना करना प्रथम कोटी का दार्शनिक चिंतन नहीं है । यह एक द्वितीय कोटी का चिंतन है और दार्शनिक न होकर ऐतिहासिक अधिक होता है । इस कारण स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक किसी दार्शनिक निकाय में विश्वास नहीं करते हैं । वे उन्मुक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या पर विचार करते हैं ।"[८] यह उन्मुक्तता ओशो के दृष्टिकोण में भी है । इसीलिए वे अपने चिंतन या चिंतन-पद्धति में किसी प्रकार की कोई बाध्यता स्वीकार नहीं करते । वे तमाम तरह की प्रतिबद्धताओं के विरोधी हैं और स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर । यही वजह है कि वे अंधश्रद्धाओं, धारणाओं तथा कल्पनाओं आदि से मुक्त हो जाने की सलाह देते हैं । इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामचंद्र प्रसाद लिखते हैं - "आचार्य रजनीश के प्रवचनों का लक्ष्य श्रोताओं को उधोडना होता है। वे चाहते हैं कि हम अपनी अंधश्रद्धओं, धारणाओं और कल्पनाओं में छिपे न रहें । इनसे घिर कर हम अपने को सुरक्षित समझने लगते हैं, पर "यह सुरक्षा नहीं आत्मवंचना है ।" "स्वप्न नहीं, केवल सत्य ही एकमात्र सुरक्षा है ।" इससे सुरक्षित होने के लिए आवश्यक है कि हम विचारों, स्वप्नों और कल्पनाचित्रों की मूर्च्छा से जागे ...।"[९] स्वयं ओशो ने भी अपनी प्रारम्भिक पुस्तक 'क्रांतिबीज'[१०] में कई स्थलों पर इस तरह के विचार प्रस्तुत किये हैं ।

फिर वे किसी प्रकार के दार्शनिक निकाय में भी विश्वास नहीं करते । इसलिए उन्होंने ऐसे किसी निकाय को स्थापित और विकसित करने का प्रयास नहीं किया । यहाँ एक शंका उठ सकती है कि जब उनका भी एक संप्रदाय है और उसमें दीक्षित शिष्य-शिष्याओं की विशाला संख्या है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने किसी निकाय की स्थापना नहीं की ? इसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाधान में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दार्शनिक निंकाय और धार्मिक संप्रदाय दोनों एक नहीं हैं । दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। दार्शनिक निकाय विचारसरणी और चिन्तन-परम्परा को विकसित-प्रसारित करने के लिए बनाया गया संगठन या समूह होता है, जैसे पूरब में नव्य-न्यायवाद तथा पश्चिम में भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी विचार को आगे बढाने वाले दार्शनिक निकाय हैं, जबकि हिंदू, इस्लाम, ईसाईयत आदि धार्मिक संप्रदाय हैं, जिसके मानने वाले अपने-अपने धर्म की मान्यताओं में विश्वास करते हैं और उनके कर्मकांडों का पालन करते हैं । इस प्रकार दोनों के उद्देश्य, विधान और नियामक तत्त्व अलग-अलग होते हैं । इसलिए ओशो-संप्रदाय भी हिंन्दू, इस्लाम तथा ईसाईयत जैसा धार्मिक संप्रदाय हो सकता है, परंतु वह नव्य-न्यायवाद तथा भाषा-विश्लेषणवाद जैसा कोई दार्शनिक निकाय नहीं है । अतः ओशो का दार्शनिक चिंतन भी निसर्गतः प्रकीर्ण ही है ।

लेकिन उनके इस प्रकीर्ण चिंतन में स्वातंत्र्योत्तर युग की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं । संगमलाल पाण्डेय[११] ने साम्यवाद, भाषा-विश्लेषरवाद तथा मूल्यवाद आदि को स्वातंत्र्योत्तर युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ माना है । ओशो के दार्शनिक चिंतन में यह सभी स्पष्ट और समीक्षात्मक रूप में मौजूद हैं । सबसे पहले साम्यवाद को ही लिया जाये । इस प्रवृत्ति को स्वीकारने वालों में सर्वप्रथम आचार्य नरेन्द्र देव तथा राहुल सांकृत्यायन का नाम लिया जाता है । परन्तु चूँकि ये लोग बौद्ध विद्वान थे इसलिए इनके साम्यवाद पर बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव है । बौद्ध दर्शन के प्रभाव से मुक्त साम्यवादियों में एम. एन. राय का नाम आता है, लेकिन वे भी प्रारम्भ में ही मार्क्सवादी थे, आगे चलकर उन्होंने जिस मानवतावाद का विकास किया वह साम्यावाद का विरोधी हो गया । मगर डी.डी कोशाम्बी और एस. ए. डांगे ने जरूर सारे भारतीय इतिहास की व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर करने की कोशिश की, जिसे बाद में डी. पी. चट्टोपाध्याय ने और आगे बढाते हुए सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का मूल आधार भौतिकवाद को बताया । परन्तु इन तमाम प्रयासों के बावजूद साम्यवाद समूंचे भारतीय दर्शन के स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका, उसका एक पक्ष भर ही रहा ।

ओशो भी साम्यवाद को एक पक्ष के रूप में स्वीकारते हैं और किसी के द्वारा पूछे गये इस प्रश्न के कि– "क्या आप प्रच्छन्न साम्यवादी हैं ?" उत्तर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कहते हैं, "प्रच्छन्न होने की कोई जरुरत नहीं है, स्पष्ट ही साम्यवादी हूँ। किसने कहा कि प्रच्छन्न साम्यवादी हूँ । मेरी दृष्टि में जो भी आदमी धार्मिक है, वह साम्यवादी हुये बिना नहीं रह सकता । सिर्फ अधार्मिक आदमी साम्यवादी हुये बिना रह सकता है । जिस व्यक्ति को भीं यह खयाल है कि सबके भीतर एक ही परमात्मा का वास है, वह यह मानने को राजी नहीं हो सकता कि समाज में अर्थ की इतनी असमानतायें हों, इतनी गरीबी, इतनी अमीरी, इतने फासले हों । वह यह भी मानने को राजी नहीं हो सकता कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को विकास का समान अवसर न मिल सके ।

साम्यवाद का एक ही अर्थ है कि हम प्रत्येक मनुष्य को बराबर मूल्य देना चाहते हैं और उसके जीवन की जो छिपी संभावनाएँ हैं, उनके विकास का बराबर अवसर देना चाहते हैं । बुद्ध या महावीर या क्राइस्ट और लाओत्से, उन्होंने कभी 'साम्यवाद' शब्द सुना भी नहीं होगा, लेकिन मेरी दृष्टि में वे सभी कम्युनिस्ट थे । दुनिया का कोई भी अच्छा आदमी कभी भी कम्युनिस्ट न रहा हो - ऐसा कहना मुश्लिक है । उन सबके मन में एक ही कामना है कि सारी मनुष्यता समान तल पर कैसे पहुँच सके । उन्होंने आत्मा के तल पर समानता की घोषणा की है कि एक-एक व्यक्ति के भीतर बराबर समान स्तर की, समान मूल्य की आत्मा, समान मूल्य का परमात्मा है । लेकिन वह घोषणा व्यर्थ चली गई, क्योंकि बहुत मुश्लिक है । और जब तक बाहर की समानता की सुविधा न हो, भीतर की समानता सिर्फ शब्द रह जाती है।"[१२]

मगर साम्यवाद की इस स्वीकृति के बावजूद ओशो अभी के साम्यवाद से सहमत नहीं हैं, क्योंकि यह पूँजीवाद के विरोध में लाया हुआ है, जबकि उनके अनुसार – "समाजाद पूँजीवाद से उल्टी व्यवस्था नहीं है । समाजवाद पूँजीवाद का चरम विकास है । पूँजीवाद जब पूरी तरह विकसित होता है तो समाजवाद में स्थानांतरित हो जाता है । जब पूँजी इतनी अतिरिक्त हो जाती है कि उसे व्यक्ति के पास रखने का कोई अर्थ नहीं होता तभी वह समाज में ओव्हारफ्लो करती है । तभी वह समाज में बँट सकती है । लेकिन जब तक पूँजी बहुत कम है, तब तक समाजवाद आत्मघाती है । अपने हाथ से मर जाने का उपाय है ।"[१३] इसीलिए वे इस समाजवाद से सावधान रहने की हिदायत देते हैं ।

प्रसंगवश यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि साम्यवाद में आर्थिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समानता ही अपने आप में लक्ष्य है और बाद किसी आत्मिक समानता के लिए कोई सूत्र नहीं है, जबकि ओशो आत्मिक समानता को ही अंतिम साध्य मानते हैं और आर्थिक समानता को मात्र उसका साधन । इसलिए उनके साम्यवादी विचार को 'साम्यवादी भौतिकवाद' न कहकर 'साम्यवादी अध्यात्मवाद' कहना ज्यादा श्रेयस्कर होगा । इस शब्द की प्रासंगिकता इस अर्थ में भी है कि जहाँ मार्क्स का साम्यवाद 'मूल तत्त्व' को भौतिक मानता है वहाँ ओशो का साम्यवाद आध्यात्मिक ।

इसी प्रकार भाषा-विश्लेषण को भी ओशो अपने दार्शनिक चिंतन में जगह देते हैं, परंतु उसी रूप में नहीं, जिस रूप में वह वर्तमान में प्रचलित है। अभी के भाषा-विश्लेषण की कसौटी पर जिस वाक्य का परीक्षण नहीं किया जा सके उसे सार्थक नहीं कहा जा सकता । अब चूँकि इस कसौटी पर तत्त्वमीमांसीय वाक्यों का परीक्षण नहीं किया जा सकता, इसलिए वे निरर्थक हैं । यद्यपि पाश्चात्य और प्राच्य दोनों जगह के दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण मानते हुए इसकी आलोचना की है, तथापि दया कृष्ण, यशदेव शल्य, धीरेन्द्र मोहन दत्त, के. जे. शाह तथा कालीदास भट्टाचार्य आदि भारतीय विद्वानों का इसका प्रवक्ता होने के कारण स्वातंत्र्योत्तर दर्शन में इसका प्रभाव बना हुआ है । ओशो भी इसकी जरूरत स्वीकारते हैं, परंतु आंशिक रूप में ही, सम्पूर्ण रूप में इसे दर्शन का पर्यायवाची नहीं मानते । इस सम्बन्ध में उनका कहना है– "... जब तक लेंग्वेज की ठीक से एनालिसिस न हो, तब तक लेंग्वेज की एनालिसिस न होने के कारण बहुत सी भूलें होती रहती हैं, जिनमें व्यर्थ का विवाद होता रहता है । लेकिन फिलॉसफी का कुल काम लेंग्वेज की एनालिसिस है, इससे मैं राजी नहीं हूँ । फिलॉसाफी का एक काम यह भी है । लेकिन फिलॉसाफी और लेंग्वेज एनालिसिस पर्यावाची है, बराबर है, ऐसा मैं नहीं मानता । फिलॉसफी का काम और बडा है । लेकिन उसमें एक काम वह भी जरूरी है कि हम भाषा को ठीक से समझने की कोशिश करें, क्योंकि बहुत-सी गडबडी सिर्फ भाषा की वजह से है ।"

विटगिन्स्टीन ने कहा है, "जो न कहा जा सके, उसे नहीं कहना चाहिए।" जो न कहा जा सके उसे नहीं कहना चाहिए, जैसा कि पुराने सारे दर्शन कहते हैं कि ब्रह्म है, लेकिन उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। तो वह विटगिन्स्टीन कहता है कि कृपा करके इतना भी मत कहो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि 'ब्रह्म है'। कम से कम इतना तो तुम कहते ही हो, और इतना भी कहते हो कि उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता । मगर तुमने काफी कह दिया। इतना भी मत कहो । इससे उपद्रव पैदा होता है । लेकिन विटगिन्स्टीन यह जरूर मानता है कि कुछ है, जो नहीं कहा जा सकता । उससे इंकार नहीं । उसे कहो मत, लेकिन उससे इंकार नहीं, वह है ।"[१३]

इसी तरह मूल्यवाद भी ओशो के चिंतन में देखा जा सकता है । संगमलाल पाण्डेय मूल्यवाद को स्वातंत्र्योत्तर युग की सबसे प्रबल दार्शनिक धारा मानते हुये कहते हैं- "जैसे पश्चिम में तार्किक प्रत्ययवाद का विकास मूल्यात्मक प्रत्ययवाद में हुआ, वैसे भारतीय प्रत्ययवाद का भी विकास परमार्थवाद या परम मूल्यवाद में हुआ है । परम मूल्यवाद ने एक ओर भावाद्वैत, आत्माद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद आदि के संघर्षों को शांत कर दिया है, क्योंकि वे सभी एक परमार्थ में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर इसने परमार्थ में प्रकारता भेद मानकर यथार्थवाद, प्रत्ययवाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद आदि के विवाद को भी समाप्त कर दिया है ।[१५] फिर वे सत्यं, शिवं, सुंदरम् के अतिरिक्त मानवतावाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि कई प्रकार के मूल्यों की चर्चा करते हैं । ओशो की अमूर्त दार्शनिक कृतियों में ये सारे मूल्य किसी-न-किसी रूप में उपस्थित दिखाई देते हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर युग की इन सभी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त ओशो दर्शन की एक और प्रमुख विशषेतः है - दार्शनिक सिद्धान्तों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या। यद्यपि निकट अतीत तक मनोविज्ञान दर्शन के अन्तर्गत ही था, परन्तु फ्रायड के बाद उसका विकास स्वतंत्र ढंग से हुआ और आज वह दर्शन से सर्वथा पृथक् रूप में स्थापित हो चुका है । इसलिए आज का युग जितना वैज्ञानिक है उतना ही मनोवैज्ञानिक भी । पदार्थ विवेचन से प्रारंभ होकर लम्बे काल में विज्ञान आज भौतिक उपलब्धियों के जिस दीर्घ युग पर पहुँचा है, मनोविज्ञान अपेक्षाकृत बहुत कम समय में मानव मन की गुत्थियों को दूर और गहरे तक समझने में सफलता प्राप्त की है । इसीलिए आज जीवन की उलझनों को सुलझाने के लिए मनोविज्ञान और उसकी पद्धतियों का प्रयोग काफी हद तक किया जाने लगा है । ओशो भी युग के अनुकूल अपने दार्शनिक चिंतन में इस मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग बडी कुशलता से करते हैं । इसीलिए उनकी व्याख्याएँ सर्व सम्मत होने से साथ-साथ मनोवैज्ञानिक भी होती हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वे अपने प्रवचनों में अपने विचारों को तर्क से पुष्ट करते हुए मानव-मन की गाँठों को खोलते भी चलते हैं । परंतु मूलतः वे दार्शनिक हैं, इसलिए उनकी स्थापनाओं की परिणति अंततः दर्शन में होती है । वे केवल उसकी व्याख्या और उसके प्रस्तुतीकरण में मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं । ओशो के इस कार्य को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय युग के दार्शनिक चिंतन में एक विशिष्ट योगदान माना जायेगा ।

परंतु अफसोस है कि इन प्रवृत्तियों और योगदानों के बावजूद ओशो को दर्शन की दुनिया में अभी तक अपेक्षित स्थान नहीं मिल पाया है । संभवतः ऐसा उनके इर्द-गिर्द फैले विवादों के कारण हुआ है । वे जब तक जीवित रहे, विवादों में घिरे रहे । निश्चित ही विवाद के अपने कारण होंगे । परंतु विवादास्पद होने का अर्थ मूल्यांकन के योग्य नहीं होना, नहीं है । अब वे जीवित नहीं हैं । इसलिए उनके आसपास उठने वाले विवादों पर विराम लग गया है । अब जरूरी है कि उन विवादों के धुंध को परे हटा कर उनके चिंतन का निष्पक्ष अध्ययन किया जाए तथा उनके विचारों को सूत्रबद्ध कर उनका मूल्यांकन करते हुए उन्हें दर्शन जगत् में प्रतिष्ठित किया जाए । वे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन में अप्रतिम हस्ताक्षर हैं ।

श्रीकृष्ण नगर, खबडा, सरोज कुमार वर्मा
मुजफ्फरपुर - ८४२००१
बिहार

टिप्पणियाँ

१. कुमार प्रशान्त, *मौन हुये रजनीश*, धर्मयुग, वर्ष ४१, अंक ६, ११ फरवरी १९९०, पृ. ११-१२

२. प्रमोद कुमार, *आधुनिक भारतीय दर्शन*, भारतीय दर्शन देवराज, न. वि. (संपा.), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकाडमी प्रभाग), लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९८३, पृ. ६४१

३. भगवान श्री रजनीश द्वारा धीरेन्द्र अस्थाना को दिये गये एक साक्षात्कार से उद्धृत 'तीसरा विश्व युद्ध अमेरिका और बाकी संसार के बीच लडा जायेगा' 'दिनमान', अंक ४९, ८-१४ दिसम्बर १९६५, पृ. १७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. पाण्डेय, संगमलाल, *समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियां*, समकालीन भारतीय दर्शन, संपादक- डॉ. लक्ष्मी सक्सेना, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८३, पृ. ४
५. निशान्त केतु, '*रजनीश का भाषानुशासन और भाषिक-शिल्प*', 'प्रिय आत्मन्' धारावाहिक - ३, गंगा पुस्तकालय, पटना, पृ. १२
६. 'दिनकर की डायरी', प्रस्तुति - मा शीला भारती, 'प्रिय आत्मन्', धारावाहिक -३, पृ. १४
७. वही, पृ. २८
८. वही, पृ. २४
९. डा. रामचन्द्र प्रसाद, 'आचार्य रजनीश : समन्वय, विश्लेषण और संसिद्धि', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९७३, पृ. २०५
१०. भगवान श्री रजनीश, क्रांति बीज, पुष्पी कार्यालय, इलाहाबाद
११. वही, पृ. १९
१२. भगवान श्री रजनीश, ओम, क्रांतिः क्रान्तिः क्रान्तिः, प्रिय आत्मन्, गुरु पूर्णिमा अंक, जुलाई १९८७, पृ. १६
१३. भगवान श्री रजनीश, भारत के जलते प्रश्न, रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड, पूना, १९७९
१४. भगवान श्री रजनीश, देख कबीरा रोया, रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड, पूना, १९७९, पृ. ५३५-३६
१५. वही, पृ. २२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म की सामाजिक उपादेयता

धर्म की समाज के लिए उपादेयता का प्रश्न अत्यन्त जटिल है, क्योंकि इसका उत्तर बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि हम 'उपदेयता' से क्या समझते हैं ? यदि उपदेयता की कसौटी भौतिक सुख, भौतिक समृद्धि है तब स्वभावतः धर्म समाज के लिए उपादेय नहीं है । मार्क्स, एंजल्स और उनके अनुयायी धर्म को समाज के लिए हानिकारक ही मानते हैं । समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज ने भी अपनी पुस्तक 'सोसायटी' में यही मत व्यक्त किया है । उनके अनुसार "मनुष्य ने विज्ञान से पहले के कालों में प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध में अज्ञान और भ्रामक धारणाओं के कारण भय के वश अतिप्राकृतिक शक्तियों की कल्पना कर ली, इसलिए उसके धार्मिक विधि-निषेध का तंत्र उसकी सामाजिक आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित नहीं करता। इस तंत्र ने प्रायः ही सामांजिक संबंधों को दूषित किया और सामाजिक प्रगति को हानि पहुँचाई ।"[१] धर्म पर यह एक अत्यन्त टिपिकल टिप्पणी है । दूसरी ओर धर्म की परिभाषा की गई है– "जिससे अभ्युदय, अर्थात् भौतिक और निःश्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति की सिद्धि होती है वह धर्म है ।" और "जो विश्व को, समाज को, व्यक्ति को धारण करता है, उसे आधार और स्थिति देता है, वह धर्म है ।" इन परिभाषाओं के अनुसार धर्म केवल उन्नति और कल्याण ही दे सकता है, और जिसका फल इसके विपरीत होता है, अर्थात् जिससे व्यक्ति और समाज की अवनति होती है, वह अधर्म है । किन्तु स्पष्टतः धर्म की ये परिभाषाएँ उसकी ऐतिहासिक वस्तुथिति की द्योतक नहीं हैं । मैकाईवर और पेज का, अथवा मार्क्स और एंजल्स का, धर्मका निरूपण उसकी ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का निरूपण ऐतिहासिक रूप से है, वह निरूपण सही है या गलत यह दूसरी बात है ।

किन्तु जब हम धर्म की ऐतिहासिक वस्तुस्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तब पाते हैं कि धर्म का न तो रूप ही कोई एक है और न उसके प्रभावों में ही कोई एकरूपता मिलती है । यदि 'अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास' को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म कहें तो बौद्धधर्म इसके सर्वथा विपरीत है । वह न केवल अतिप्राकृतिक शक्तियों को ही नहीं मानता, वह प्राकृतिक वस्तुओं की सत्ता भी नहीं मानता। वेदान्त से प्रभावित बहुत से अन्य भारतीय धर्म भी अतिप्राकृतिक शक्तियों को नहीं मानते । यदि कहा जाए कि किसी लोकोत्तर तत्त्व में विश्वास धर्म के लिए आवश्यक है, तो यह कसौटी आदिम धर्मों पर लागू नहीं होती, क्योंकि उनमें लोक और लोकोत्तर का कोई भेद नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त, अप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास को अन्धविश्वास कहने के पीछे यह पूर्वाग्रह है कि आधुनिक विज्ञान और उससे प्रेरित दृष्टिकोण के अविर्भाव से पहले का सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन भ्रांतिग्रस्त था, क्योंकि विज्ञान के आविर्भाव के पहले मुख्यतः धर्म ही सत्य-संबंधी विचार और धारणाओं का आधार था । किन्तु यह कोई स्वतः स्पष्ट बात नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण सत्य है और इससे भिन्न दृष्टिकोण असत्य हैं । यदि इसकी सत्यता इतनी स्पष्ट होती तो कम से कम वैज्ञानिक दृष्टि के उदय के बाद सब उस दृष्टि को स्वीकार कर लेते, जबकि हम देखते हैं कि स्वयं यूरोप में भी लोग धर्म की ओर अधिकाधिक आकर्षित हो रहे हैं, उससे भी अधिक विज्ञान से विमुख हो रहे हैं । इस प्रकार धर्म के संबंध में किसी एक परिभाषा, अथवा किसी एक निरूपण, अथवा किसी एक साधारणीकरण से काम नहीं चल सकता, सही स्थिति को समझते के लिए हमें धर्म के विभिन्न रूपों और उसके विभिन्न प्रभावों को देखना होगा।

धर्म का एक आदिम रूप है । यह रूप आदिम मानव के सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण दृष्टिकोण का निर्धारण करता है । दुर्खीम के शब्दों में, "लगभग सभी सामाजिक संस्थाएँ धर्म से ही उद्‌भूत होती हैं ।"[२] किन्तु यह कहने का अर्थ है कि धर्म समाज से पहले है, जो सही नहीं है । यह कहना उतना ही सही है कि आदिम मानव की जीवन-दृष्टि पूर्णतः धार्मिक थी, परिणामतः उसका समाज भी धर्म-मूलक था । यह आदिम धार्मिक दृष्टि किस प्रकार की थी ? उसके लिए प्रकृति उससे भिन्न जड सत्ता नहीं होकर प्राण और चेतना से परिव्याप्त थी । तब फिर प्राणिजगत् के भिन्न होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । सामाजिक संस्थाओं और सम्बन्धों के प्रति भी उसकी दृष्टि धार्मिक थी । इस प्रकार सामाजिक संस्थाओं का अस्तित्व उसके लिए दैविक था और उनके अनुशासनों का पालन नहीं करना पाप था । भारतीय यज्ञ की अवधारणा इसका एक विकसित रूप है, किन्तु यह उस भाव का बहुत सुंदर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरण है । यज्ञानुष्ठान का अर्थ अग्नि में हवि डालना और खाद्यान्न और मांस आदि का भाग उसमें डालना और शेष को बाँट कर खाना है । अग्नि में डाली गयी वस्तुएँ देव-सृष्टि के लिए थीं । इसी भाव से पशु-पक्षियों की भी बलि डाली जाती थी । इस प्रकार यज्ञ और बलि मनुष्य को सम्पूर्ण सृष्टि के साथ जोडते थे । इसके अतिरिक्त, आदिम व्यक्ति समाज से पृथक् अपनी कल्पना नहीं कर सकता था, समाज उसके लिए आर्केस्ट्रा के समान था । उसका सुख सामूहिक गायन, नृत्य और उत्सव का रूप लेता था और दुःख सामूहिक उपचार के उपाय का । यह सहमति, सहयोग, सहकर्म धर्मदृष्टि के द्वारा अनिवार्यता, पावनता और सार्वलौकिकता का रूप ले लेता था । खेती करने के बाद उत्सव मनाया जाता था और वह उत्सव भूमि को उर्वर बनाता था, उत्पन्न अन्न को विपुल और तोषप्रद बनाता था, पृथ्वी, पाताल और द्यु-लोक को उसके उपभोग में सम्मिलित कर उसकी पोषकता का संवर्धन करता था ।

स्वभावतः यह धर्म-दृष्टि मनुष्य के लिए, और इस प्रकार उसके समाज के लिए भी, न केवल उपादेय ही थी बल्कि उसी की धारक भी थी । धर्म के इस आदिम रूप के बाद कुछ समाजों में विकसित धर्मों का आविर्भाव हुआ । ये धर्म बडे समाजों में प्रकट हुए और उन्होंने एक पृथक् संस्था का रूप लिया । इसका अर्थ यह नहीं है कि यह धर्म सामाजिक या वैयक्तिक जीवन के अन्य पक्षों को प्रभावित नहीं करता था, अथवा उनमें इसे स्थान नहीं था, किन्तु यह अब जटिल विचार-व्यवस्था और जटिल अनुष्ठान-व्यवस्था के रूप में विकसित होकर स्वतंत्र भी हो गया था । उन समाजों में धार्मिक अनुष्ठानों के लिए एक विशिष्ट विशेषज्ञ वर्ग बन गया था । धर्म ने अब सब कार्यों में आन्तरस्पन्दन के रूप में रहने के बजाय वन्दना-पूजा के पृथक् स्थान मंदिर बने । इस धर्म की एक बडी विशेषता सिद्धान्तवाद का विकास था । सिद्धान्तवाद का एक लक्षण यह होता है कि यह अपने से भिन्न सिद्धान्तों के अनुयायियों को शत्रुओं के रूप में देखता है । इस कारण धर्म के इस रूप के कारण धार्मिक कलहों और युद्धों का आविर्भाव भी हुआ, दूसरी ओर इसके एक स्वतंत्र दर्शन, स्वतंत्र क्रिया-विधि और स्वतंत्र संगठनों का विकास भी हुआ । मुस्लिम और ईसाई धर्म इन विशेषताओं के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं । किन्तु भारत के विभिन्न धर्मों में भी लक्षण कुछ सीमा तक दिखायी देते हैं। उदाहरणतः ब्राह्मण समाज ब्राह्मण-दर्शनों में पर्याप्त मतभेद होने के बावजूद उन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सब मतों का न्यूनाधिक आदर करता था, किन्तु बौद्धदर्शन के अनेक विचारों का वेदान्त से साम्य होने पर भी वह उसे शत्रु के रूप में ही देखता था। इसी प्रकार जैन धर्म और दर्शन के लिए भी कह सकते हैं। ब्राह्मण धर्मानुयायियों के लिए यह आदेश था कि "यदि हाथी भी पीछा कर रहा हो तो भी जैन मंदिर में बचाव के लिए भी नहीं जाना चाहिए।" यूरोप में रोमन कॅथॉलिकों और प्रोटेस्टंटों के, संसार भर में मुस्लिमों और अमुस्लिमों के, शियाओं और सुन्निओं के, भारत में शैवों और वैष्णवों के और ब्राह्मणों और बौद्धों के संघर्ष होते रहे हैं; यह बात और है कि भारतीय धर्मों में परस्पर वैसी मार-काट नहीं हुई जैसी ईसाईयों और मुस्लिमों के सम्प्रदायों में हुई और जैसे मुस्लिमों ने अमुस्लिमों पर धर्म के नाम पर अत्याचार किए। इन धर्मों की दूसरी विशेषता रूढिवादिता रही है। इस प्रकार यह धर्म सामाजिक प्रगति में बाधक भी बने हैं। मुसलमानों में तो हम आज भी नये विचारों और नयी प्रवृत्तियों का प्रतिरोध देखते हैं, यहाँ तक कि जिन देशों में इनकी सरकारें हैं वहीं मध्ययुगीन धार्मिक कानून और रीति-नीतियाँ पुनः प्रतिष्ठापित की जा रही हैं। हिन्दुओं में भी जो लोग विशेष धार्मिक हैं वे उसी पुरानी जीवन-विधि और पुरानी मान्यताओं को, उनके कितने ही अप्रासंगिक होने के बावजूद, अपनाए हुए हैं और इस प्रकार वे प्राचीन अवशेषों के मानवीय प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण ही धर्म उस आलोचना का विषय बना है जो मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी लोग इसकी करते हैं। धर्म का यह रूप आदिम धर्मों में उतना दिखायी नहीं देता।

किन्तु धर्म की यह आलोचना उचित नहीं है। वास्तव में यह किसी भी सिद्धान्तवाद की प्रवृत्ति है कि वह अपने से भिन्न सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णु और परिवर्तन-विरोधी होता है। आज यही प्रवृत्ति हम मार्क्सवाद और कुछ अन्य उग्रपंथी सिद्धान्तवादों, जैसे नाजीवाद आदि में भी पाते हैं। किन्तु पिछले युगों में धर्म जहाँ गति-विरोधक और कठमुल्लापन का पोषक रहा है, वहीं वह नये विचारों और सामाजिक क्रान्तियों का आधार भी बना है। ईसाई धर्म ने यूरोप के विभिन्न समाजों और समुदायों को एक सांस्कृतिक आधार दे कर उसे महान् सभ्यता का रूप दिया। इसी प्रकार मुस्लिम धर्म ने मध्य एशिया के विभिन्न आदिम समाजों को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोकर एक महान् शक्ति बनाया, भारत में बौद्ध धर्म ने प्राचीन काल में भारतीय और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एशिया के अधिकांश समाजों को रूढि और जडता से मुक्त किया तथा इसकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न विभिन्न ब्राह्मण-आन्दोलनों ने बौद्ध धर्म से आयी स्थिरता और जडता का निवारण किया । उत्तरमध्यकाल में विभिन्न सन्तों ने भारतीय समाज को गतिशीलता और दृष्टि प्रदान की । आधुनिक युग में आर्य-समाज और ब्राह्मो-समाज ने भारत में जिन क्रांतिकारी-आन्दोलनों का सूत्रपात किया उनसे हम परिचित ही हैं । किन्तु कुछ समय बाद स्वयं ये आन्दोलन भी रूढि बन गये और सामाजिक प्रगति में पिछड गये ।

इस प्रकार धर्म गति और गतिहीनता दोनों का स्रोत रहा है । किन्तु यह कोई धर्म की विशेषता नहीं है, यह किसी भी सामाजिक आन्दोलन के लिए स्वाभाविक है कि उसका प्रेरक विचार आरम्भ में तत्कालीन सामाजिक रूढि के विरुद्ध उत्पन्न होता है और पीछे इसके परिणामस्वरूप बनी परम्पराएँ या रीतियाँ अपनी क्रांत-दृष्टि खो कर जड परम्पराएँ और रीतियाँ मात्र रह जाती हैं और सामाजिक प्रगति के प्रवाह में पत्थर की तरह पडी रहती हैं । उदाहरण के लिए विवाह-संस्था या कानून को ही लें । विवाह-संस्था अपने-आप में एक धार्मिक संस्था नहीं है । यह एक सामाजिक संस्था मात्र है । विभिन्न समाजों में इसके विभिन्न रूप और इसकी अनुष्ठान-विधियाँ मिलती हैं । इसकी अनुष्ठान-विधियों के पीछे स्पष्टतः कोई विचार नहीं है, किन्तु तब भी वे विधियाँ शताब्दियों तक प्रायः अपरिवर्तित चली चलती हैं । जहाँ तक स्वयं विवाह-संस्था का प्रश्न है, मूलतः यह एक सामाजिक आवश्यकता है, किन्तु क्या यह एक अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता है ? यह बात विचारणीय हो सकती है । हम देखते हैं कि आज यूरोप और जापान में यह संस्था टूट रही है, किन्तु इस टूटने के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं को उसी प्रकार रूढिवादिता कहा जा सकता है जिस प्रकार धार्मिक प्रतिक्रियाओं को कहा जाता है । कानून के लिए भी यही बात है । कानून किसी सामाजिक परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित होता है, किन्तु उस परिस्थिति के बदल जाने पर भी कानून ज्यों का त्यों बना रहता है । एक गौण स्तर पर यह बात विश्वविद्यालय की उपाधियाँ लेने के लिए विहित पहरावे और न्यायालय में वकीलों के लिए विहित पहरावे सम्बन्ध में भी देखी जा सकती है । ये पहरावे परम्परा मात्र हैं, जिनका वास्तविक स्थिति से कोई संबंध नहीं है ।

एक दूसरा उदाहरण भाषा का लिया जा सकता है । भाषा लोक-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साधारण परम्परा में निरन्तर परिवर्तनशील होती है, किन्तु साथ ही साथ, विशेषतः शिक्षित समाज की लिखित परम्परा में, इस परिवर्तन के विरूद्ध प्रवृत्ति होती है । क्रमशः लोकपरम्परागत भाषा-प्रवाह जब बहुत आगे बढ जाता है तब शिक्षित समाज, प्रायः आक्रोश और झिझक के साथ इस परिवर्तन को स्वीकार करने लगता है । इसका उत्कृष्टतम उदाहरण संस्कृत भाषा है, जो भाषा की लोक-परम्परा से अप्रभावित जैसी की तैसी बनी रही जबकि लोक-भाषाएँ इसे छोडकर आगे बढ गईं। इसी प्रकार इंग्लैंड का शिक्षित समाज सतरहवीं शताब्दी तक अधिकांशतः लैटिन भाषा ही बोलता था और विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी बोलना दण्डनीय माना जाता था ।

इस प्रकार परम्परानुगतता और रूढिवादिता धर्म की विशेषताएँ नहीं होकर सामाजिक जीवन की ही विशेषताएँ हैं जो धर्म के सामाजिक पक्ष में भी परिलक्षित होती हैं । यदि रूढिवादिता को धर्म की विशेषता माना जाए तो धर्मों द्वारा नये क्रांतिकारी विचारों का प्रवर्तन किस की विशेषता कही जायेंगी ? सामाजिक प्रथा और विचार-परम्परा दोनों का ही यह स्वभाव है कि ये अपनी सत्यता के प्रति आग्रही होते हैं, किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियाँ, इच्छाएँ, स्वार्थ और दृष्टियाँ क्रमशः उस प्रथा से सामाजिक जीवन को आगे ले जाती हैं और तब प्रथा और नई दृष्टि में संघर्ष होता है जिसमें प्रथा देर तक विजयी रहती है । इसी प्रकार एक विचार पिछले विचार की अयुक्तता या अप्रासंगिकता दिखा कर अपने को प्रतिष्ठित करता है और अपनी अयुक्तता के विरुद्ध आपत्तियों का प्रतिरोध करता है । किन्तु क्रमशः इसकी अयुक्तता प्रकट हो जाती है और तब इसका प्रतिरोध क्षीण होकर नष्ट हो जाता है ।

तब धर्म क्या है और इसका सामाजिक संदर्भ क्या है ? धर्म एक-साथ अनेक रूपात्मक है और उसके अनुसार ही इसके अनेक सामाजिक संदर्भ हैं । पीछे हमने आदिम धर्म के संबंध में देखा कि वह समाज का धारक और प्रेरक प्राणतत्त्व था । किन्तु यदि हम धर्म को परिभाषा देना चाहें तो हम इसे 'मनुष्य की अपनी लौकिक जीवन की अपूर्णता का बोध और एक उत्कृष्टतर स्तर पर उसकी पूर्ति की अभीप्सा' कह सकते हैं । पूर्ति की यह अभीप्सा लोक को अलौकिक के साथ, पार्थिव को दिव्य के साथ एक तारतम्य में स्थापित करती है । यह दृष्टि समाज को प्रत्यक्षतः लाभ नहीं पहुँचती। यदि लाभ की कसौटी लौकिक सुखों को ही माना जाए तो बहुत बार यह प्रत्यक्षतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके लिए हानिप्रद भी हो जाती है । प्राचीन काल में समाज का एक बडा वर्ग, और वह भी उत्कृष्टतम वर्ग, आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक कार्य (पूजा-पाठ) में लगा रहता था, भारत में साधु-सन्तों की भी भरमार थी, भारत के एक प्रमुखतम धर्म - बौद्धधर्म ने असंख्य लोगों को संसार-त्यागी बना दिया। किन्तु सम्भवतः कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज को हानि पहुँचाई - कम से कम अपने शैशव और यौवन काल में, अथवा मुस्लिम धर्म ने आरम्भिक शताब्दियों में अपने अनुयायियों को हानि पहुँचाई। किन्तु यदि यह मान भी लें कि लौकिक सुख-समृद्धि की दृष्टि से धर्म ने मनुष्य और उसके समाज को हानि पहुँचाई तो यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न होगा कि तब क्यों मनुष्य धर्म को सबसे अधिक महत्त्व देता रहा ? स्वभावतः इसका उत्तर होगा कि मात्र लौकिक सुखों को मनुष्य ने कभी सर्वोच्च सुख नहीं माना। राजा से उसने संत को, सेठ से उसने निर्धन विद्वान को, बाहुबली से लेखनी के बली को उसने सदैव अधिक महत्त्व दिया है, इसी से अग्रगामी समाज वह नहीं माना जाता जिसके सदस्य कपडा अच्छा पहनते हों और भोजन अच्छा खाते हों, बल्कि वह माना जाता है जिसने दर्शन, धर्म, कला या वैज्ञानिक चिन्तन में उच्चतर उपलब्धियाँ की हों ।

किन्तु यह भी सही नहीं है कि धर्म लौकिक प्रगति में सहायक नहीं होकर बाधक होता है । समाज की संहति लौकिक सुखों की खोज के आधार पर नहीं टिकी है, लौकिक सुखों की खोज तो व्यक्तिगत स्वार्थों के अन्वेषण को ही पनपा सकती है, जिसके परिणामस्वरूप समाज का केवल विघटन ही हो सकता है, संगठन नहीं रह सकता । जो लोग समाज को व्यक्तिगत स्वार्थों के बीच सन्तुलन का समझौता (कान्ट्रेक्ट) मानते हैं वे यह भूल जाते हैं कि यह भाव कर्तव्य और नैतिक आदर्श को आधार नहीं दे सकता । उदाहरण के लिए राम 'स्वार्थों में समझौते' के आधार पर राज्य छोडकर नहीं जा सकते थे और भरत इस सिद्धान्त पर चल कर राजगद्दी पर उनकी पादुकाएँ नहीं रख सकते थे । समाज का धारण ये आदर्श ही करते हैं, स्वार्थों के सन्तुलन नहीं। इसी कारण भारत में पुरुषार्थों (मूल्यों) में धर्म को सबसे प्रथम और उसके बाद अर्थ और काम को रखा गया है । इसका आशय यही है कि धर्म के बिना अर्थ और काम भी सिद्ध नहीं हो सकते । इसकी पुष्टि महाभारत के श्लोक से भी होती है —

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उर्ध्वबाहुर्विरौम्येश न च कश्चित् श्रृणोति माम् ।
धर्मात् अर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ।।

अर्थात् मैं बाहें उठाकर पुकार रहा हूँ, किन्तु मेरी बात कोई नहीं सुन रहा है कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, तब इस धर्म का अनुसरण क्यों नहीं करते हो?

यह अवश्य है कि तथाकथित धार्मिक लोग अनैतिक आचरण करने में नहीं झिझकते, बनिया गणेश की और हनुमान की नित्य पूजा करता है किन्तु व्यवसाय में बेईमानी से नहीं चूँकता । किन्तु यह धर्म का जड रूप है । इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्य बोलना और निःस्वार्थी होना धर्म है, यह नैतिकता है, किन्तु यह नीति लोक-व्यवहार मात्र नहीं रहकर मनुष्य की आध्यात्मिक गरिमा में प्रतिष्ठित हो जाती है । जहाँ तक जड धर्म का प्रश्न है, वह भी विश्वासों और क्रिया-कर्मों की एक सर्वसामान्य व्यवस्था के रूप में सामूहिक गठन का आधार बनता है । उदाहरण के लिए आधुनिक सिक्खों को लिया जा सकता है । यद्यपि सिक्खों के पाँच ककारों (कडा, कच्छ, केश, कंघा, कृपण) की आज कोई प्रासंगिकता नहीं है, न गुरु-ग्रंथसाहिब में व्यक्त भक्तिभाव से उनका कुछ लेना-देना है, किन्तु तब भी ये उनके संगठन के लिए एक आधार देते हैं । यही बात यूरोप के ईसाई धर्म के लिए कही जा सकती है ।

किन्तु स्वभावतः धर्म का यह जड रूप जितना उपयोगी है उससे कहीं अधिक घातक है, क्योंकि सबसे पहले तो, यह विचारहीनता पर आधारित है और दूसरे, जहाँ यह हमें एक-दूसरे से समूह में बाँधता है, वहीं दूसरे समूह से हमें विरोध में भी खडे करता है । जीवित धर्म इसके विपरीत मनुष्य को जागृत बनाता है और उसे न केवल मनुष्य मात्र से बल्कि सम्पूर्ण सत्ता से स्नेह और आदर के संबंध में स्थापित करता है । सृजनात्मक धर्म के उत्कृष्टतम उदाहरण महात्मा बुद्ध, कबीर, तुलसीदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और महात्मा गांधी को कहा जा सकता है ।

८१३ बरकत नगर, डॉ. मधुमती जुनेजा
किसान मार्ग, जयपुर ३०२०१५

टिप्पणियाँ

१. Maciver and Page, Society, pp. 170-171.
२. Elementary Forms of Religious Life, p. 466

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पूर्ण क्रान्ति : एक दार्शनिक विवेचन

सम्पूर्ण क्रान्ति के आवश्यक तत्त्वों का बिना विश्लेषण किये हुए हम सम्पूर्ण क्रांन्ति को नहीं समझ सकते हैं । जयप्रकाश को हम व्यावहारिक दर्शन के प्रणेता के रूप में समझना चाहते हैं, क्योंकि उन्होंने सम्पूर्ण क्रांन्ति दर्शन का वास्तविक धरातल पर प्रयोग किया । व्यावहारिक दर्शन की मान्यता है कि जो दार्शनिक सिद्धान्त की रूपरेखा हमारे पास है उसको जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग करना । वर्तमान युग में दार्शनिक परिकल्पनात्मक एवं सैद्धान्तिक बातों में अधिक उलझे रहते हैं और जीवन की सच्चाई और उसकी व्यवहारिकता की ओर कम ध्यान देते हैं । किन्तु, समसामयिक जीवन की समस्याओं को, समाज की समस्याओं को कोई भी दार्शनिक नजरअंदाज करके बहुत दिन प्रासंगिक नहीं रह सकता । सम्पूर्ण क्रांन्ति-दर्शन की चर्चा करते समय मैंने उसे मात्र दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित न रख उसके व्यवहारिक पक्ष पर बल दिया है। दार्शनिकों के लिए यह एक चुनौती है कि समाज के व्यवहारिक क्रिया-कलाप में दर्शन की सैद्धान्तिक रूपरेखा का प्रयोग कैसे करे। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रांन्ति के सैद्धान्तिक पक्ष तक ही अपने को सीमित नहीं रखा बल्कि उसे समाज में प्रस्तुत किया। यदि दर्शन का पारंपरिक अर्थ लें तो दार्शनिक का केन्द्रबिन्दु मात्र सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यवहारिक है। जयप्रकाश अमूर्तचिंतक नहीं थे बल्कि उनकी दृष्टि व्यवहारिक थी । उन्होंने सम्पूर्ण क्रांन्ति दर्शन की अवधारणा की रचना के साथ उसे समाज की बदहाल स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रयोग भी किया। जयप्रकाश का सम्पूर्ण क्रांन्ति-दर्शन मानव समाज के सम्पूर्ण विकास की बात करता है। जिस प्रकार एक चिकित्सक चिकित्सकशास्त्र के अध्ययन के उपरान्त बीमार व्यक्तियों का इलाज करता है ठीक उसी प्रकार जयप्रकाश ने भारत की बीमार सामाजिक स्थिति जिसमें भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, नैतिक मूल्यों का क्षरण, सांस्कृतिक अस्मिता का अवसान, आर्थिक बदहाली, लोकतांत्रिक मूल्यों का छिन्नभिन्न होना कुछ ऐसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्वलंत समस्याओं के समाधान के लिए ही सम्पूर्ण क्रांन्ति की घोषणा की। इसी कारण हम उन्हें तकनीकी अर्थ में दार्शनिक भले ही न मानें पर व्यवहारिक दार्शनिक के रूप में नजरअंदाज नहीं कर सकते। जयप्रकाश कोरे सैद्धान्तिक विश्लेषण में विश्वास नहीं करते थे। परंतु व्यवहार के लिए एक 'आइडियोलाजिकल' आधार अवश्य चाहिए। जयप्रकाश के लिए वह आधार साम्यवाद या पूँजीवाद नहीं है। जयप्रकाश की आस्था लोकतंत्र में थी और उनकी क्रान्ति की अवधारणा भी मार्क्स की अवधारणा से सर्वथा भिन्न है। जयप्रकाश की क्रान्तिविधि भी मार्क्स की क्रान्तिविधि से भिन्न है। सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा का आवश्यक तत्त्व मूल्यों के प्रति आग्रह है।

सम्पूर्ण क्रान्ति पर जब हम विमर्श करते हैं तो उसके साथ ही लोकनायक जयप्रकाश की सम्पूर्ण चिंतनधारा, उनका संघर्ष हमारे समक्ष उपस्थित होता है। पटना के गांधी मैदान से ५ जून १९७४ को सर्वप्रथम जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति का आवाहन किया। इस सम्पूर्ण क्रान्ति के पीछे समाज-क्रान्ति की कल्पना थी जिसे उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति की संज्ञा दी। उनकी चिंतन धारा जिसमें उन्होंने आर्थिक समानता एवं शोषणमुक्त समाज की कल्पना की, वह विभिन्न रास्तों से होकर गुजरी और उस पर विभिन्न समाज वैज्ञानिकों का स्पष्ट प्रभाव पडा किन्तु, सम्पूर्ण क्रान्ति की कल्पना जो उनके प्रारंभिक चिंतन में विद्यमान् थी, वह नहीं बदली। शोषणविहीन समाज की कल्पना की तरंग में बहकर जयप्रकाश नारायण मार्क्सवाद के कट्टर समर्थक रहे हैं। उन्होंने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया तथा मार्क्स की तरह आर्थिक समानता एवं शोषणमुक्त समाज की कल्पना की। जयप्रकाश नारायण मानते थे कि मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ समाज एवं गरीबी से मुक्ति भी आवश्यक है।

अमेरिका से भारत वापिस आने के पश्चात् भारतीय साम्यवादी दल से जयप्रकाश नारायण के मतभेद हो गये। भारतीय साम्यवादी की दोहरी चाल तथा उसके मार्क्सवाद के बारे में अधकचरे ज्ञान से जयप्रकाश नारायण समझौता नहीं कर पाये। मार्क्सवाद के जिन सिद्धान्तों से वे संतुष्ट नहीं थे उनका परित्याग कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे गाँधी तथा विनोबा की ओर झुके। जयप्रकाश नारायण जिस समय स्कूल में थे तभी से उनके मन में क्रांति के विचार अंकुरित होते रहे हैं। उस समय उसका स्वरूप राष्ट्रीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रान्ति, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विचार थे । उनके शब्दों में, "…. क्रान्ति करने की जो तीव्रता मुझ में थी, वह मुझे मार्क्सवाद की ओर तथा राष्ट्रीय आजादी के आंदोलन से गुजर कर लोकतांत्रिक समाजवाद की ओर फिर विनोबा जी की 'प्रेस के क्रान्ति' की ओर खींच ले गई ।"[१] सम्पूर्ण क्रान्ति का पक्ष रखते हुए लोकनायक जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि १९७४ में जब विहार में छात्रों के आंदोलन ने जोर पकडा, उसकी पुकार उठी और कुछ हद तक जनता की, ग्रामीण जनता की भी सहानुभूति एवं समर्थन प्राप्त हुए तब उन्होंने इस आंदोलन को सम्पूर्ण क्रान्ति की तरफ मोडने का प्रयास किया। जब आंदोलन में विपक्षी दलों ने भी सम्पूर्ण क्रान्ति से सहमति प्रकट की तो व्यापक रूप से संघर्ष का लक्ष्य मान लिया गया। फिर क्या था, पूरे बिहार में यह नारा और गीत गुंजने लगा "सम्पूर्ण क्रान्ति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है ।"

जीवन के पूर्वार्ध में जयप्रकाश नारायण कट्टर मार्क्सवादी थे, किन्तु बाद में उन्हेंने मार्क्सवाद की त्रुटियों को समझने की चेष्टा की । वे एक अंधभक्त न होकर एक आलोचक बन गए । सैद्धान्तिक एवं वैचारिक स्तर पर भी वे मार्क्सवादी विचार से भिन्न दीखते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त की आधारशिला आर्थिक यंत्रवादी सिद्धान्त है । इसके अनुसार सारे मानवीय संबंध भी उसी उत्पादन के साधन पर आधारित है । जयप्रकाश नारायण ने सारे मानवीय संबंधों को उत्पादन के साधनों से श्रेष्ठ माना है । मार्क्सवाद की कमजोरी तब खुलकर सामने आती है जब वह मानव को अपने आर्थिक यंत्रवादी सिद्धान्त की परिधि से निष्कासित कर देता है । जयप्रकाश नारायण का मत है कि मानव का इतिहास मात्र आर्थिक कारकों से निर्धारित नहीं होता है। वैचारिक और आर्थिक दोनों शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए । जयप्रकाश नारायण के विचार एम. एन. राय के विचार से मेल खाते हैं। एम.एन. राय भी अपने जीवन के पूर्वार्ध में राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी थे । उस समय उन्होंने बम और हथियार के माध्यम से देश को स्वतंत्र कराना चाहा था । अपने जीवन के दूसरे चरण में वे कट्टर मार्क्सवादी के रूप में उपस्थित होते हैं और जीवन के तीसरे चरण में उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा की त्रुटियों को बतलाते हुए नवमानवतावादी दर्शन को प्रतिपादित किया । जे. पी. के जीवन दर्शन पर जब हम नजर डालते हैं तो वे भी जीवन के पूर्वार्ध में क्रान्तिकारी के रूप में तत्पश्चात् मार्क्सवादी और फिर मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए सर्वोदय की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओर अग्रेसर होते हैं । १९४० इ. मे. एम. एन. राय जब विदेश से भारत लौटे तो 'रॅडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' के ग्रीष्मकालीन सम्मेलन में उन्होंने अपने को मार्क्सवादी कहा । किन्तु बाद में रॅडिकल डेमॉक्रेटिक पार्टी का जन्म मार्क्सवाद के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण के कारण हुआ । एम. एन. राय भी मानव को सारे उत्पादनों से श्रेष्ठ मानते हैं । उनका कहना है कि साम्यवाद और फासिस्टवाद दोनों ही समूहवाद में विश्वास करते हैं। साम्यवाद का सामूहिक अहम् सर्वहारा वर्ग है और फासिस्टवाद का अहम् राष्ट्र है । दोनों ही सामूहिक अहं की वेदी पर व्यष्टि की हत्या करते हैं । सामूहिक अहं वर्ग हो या राष्ट्र, व्यक्ति की स्थिति नगण्य ही रहती है । जे. पी. का कहना है कि सभी प्रकार के मानवीय रिश्ते को उत्पादन के साधन द्वारा निर्धारित बतलाना मानव की गरिमा की अवहेलना करना है। एम.एन. राय के अनुसार मानव का इतिहास मात्र आर्थिक कारकों से निर्धारित नहीं होता है । विचारों की गतिशीलता और आर्थिक विकास की द्वंद्वात्मकता दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। मानव के अंतर्गत स्वतंत्रता की भावना सर्वोच्च है। मार्क्स ने विचारों को नगण्य मानते हुए आर्थिक संबंध को एकमात्र संबंध बतलाया है जो कि एम. एन. राय एवं जे. पी. राय को मान्य नहीं है ।

वर्गसंघर्ष मार्क्सवाद का आधारभूत सिद्धान्त है । प्रत्येक वर्ग को दो विरोधी वर्गों में विभाजित कर मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को ही विकास या प्रगति का द्योतक माना । पुनः मार्क्सवादी यह भी कल्पना करता है कि साम्यवाद की परिणति वर्गहीन समाज की स्थापना में है । यह सही है कि एक विशेष समाज दो वर्गों में विभाजित हो सकता है । लेकिन जब एक वर्ग का हित दूसरे वर्ग के हित से टकराता है तो वैसी स्थिति में वर्गसंघर्ष नहीं रहता है । समाज में कुछ लोगों की स्वतंत्रता, चाहे वे अल्पसंख्यक हो या बहुसंख्यक, कोई अर्थ नहीं रहता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति द्वेष की भावना लेकर समाज की प्रगति की बात नहीं सोच सकता । समाज की प्रगति में सभी वर्गों का योगदान आवश्यक है, द्वेष एवं हिंसा के माध्यम से प्रगति की कल्पना कार्ल मार्क्स ही कर सकते हैं। जयप्रकाश नारायण एम.एन. राय की तरह ही मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के स्वरूप को नकारते हैं । उनके अनुसार यदि वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है तो वर्ग-संघर्ष हो लेकिन उसे मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष की तरह हिंसात्मक नहीं होना चाहिए । उनके शब्दों में, '... जिसके सामने हमारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संघर्ष है उसको, उसके दिल को हम बदलने की कोशिश करेंगे, उसके प्रति हमारा भाव स्नेह का रहेगा, उसको कोई दुश्मन हम नहीं मानेंगे, यह नई बात उस संघर्ष में होगी जो आम तरह से क्लास-स्ट्रगल में नहीं होती।'[३] एम.एन. राय ने भी मार्क्स के वर्ग संघर्ष को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार समाज की प्रगति में सभी वर्गों का रहना आवश्यक है, बिना आपसी सहयोग के मानवीय संबंध टूट जायेगा, सभ्यता का विकास रुक जायेगा । उन्होंने मार्क्स के वर्गसंघर्ष की जगह वर्ग-समन्वय की बात की है । मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि कट्टर साम्यवादी सिद्धान्त स्वतंत्रता एवं प्रगति के दरवाजे खोलने के बजाय बंद कर देता है । मानवीय सिद्धान्त की प्रक्रिया में एक दिन ऐसा आयेगा जब शोषणविहीन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना होगी । एम.एन.राय इसे अवैज्ञानिक भविष्यवाणी कहते हैं। जे.पी. की तरह ही इनका भी मानना है कि समाज की प्रगति आपसी मेल-जोल से अधिक होती है न कि आपसी द्वेष से । जिस समाज में हिंसा, खून-खराबा, द्वेष व्याप्त रहेगा क्या वह सच्चे अर्थों में प्रगति कर सकता है?

जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की कल्पना हमारे काम की नहीं है । मार्क्सवादियों ने वर्ग-संघर्ष संगठित करने की योजनाबद्ध कोशिश की फिर भी पूर्ण सफलता उन्हें नहीं मिल पाई । मार्क्स ने जो कुछ कहा था वह औद्योगिक समाज पर लागू होता है लेकिन भारतवर्ष, जो कि एक कृषिप्रधान देश है, वहाँ वैसा वर्गीकरण संभव नहीं है । किन्तु, भारत में जो हल चलाते हैं, उनकी जमीन न हो यह भी अन्याय है । जयप्रकाश नारायण का कहना है कि जब तक नीचे वर्गों में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा तब तक ऊपर के वर्गों को बदलना संभव नहीं है । लेकिन यह संघर्ष पूर्णरूपेण शांतिप्रद होना चाहिए । उनके शब्दों में, "मेरी कल्पना के वर्ग-संघर्ष में हिंसा को कोई जगह नहीं है । मैं मानता हूँ कि वर्ग-संघर्ष में हिंसा को दूर रखा जा सकता है । वह शांतिमय संघर्ष के रूप में, असहयोग के रूप में, सत्याग्रह के रूप में हो सकता है । जयप्रकाश नारायण ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में गाँधी के सर्वोदय दर्शन को गहराई से समझा एवं उसे आत्मसात् किया है । सामाजिक चिंतन तथा समाज-परिवर्तन के विधि-विज्ञान को सम्पूर्ण क्रान्ति के रूप में जयप्रकाश नारायण की अमूल्य देन है। सम्पूर्ण क्रान्ति का स्वरूप एवं उसका अर्थ देश की परिस्थिति, समय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की आवश्यकता एवं सत्ता के लिए संघर्षरत शक्तियों के विश्लेषण के आधार पर ही निर्धारित होता है । अतः भिन्न-भिन्न समय में सम्पूर्ण क्रान्ति की प्रक्रिया है ।

सम्पूर्ण क्रान्ति का प्रथम पहलू जिसमें मार्क्सवादियों की दिलचस्पी होनी चाहिए वह है मूल्यों के प्रति आग्रह । मार्क्सवादियों के अनुसार साध्य ही साधन का औचित्य सिद्ध करता है। जयप्रकाश नारायण ने मार्क्सवादियों के साध्य-साधन के संबंध को लेकर भी अपने मतभेद प्रकट किए हैं । उनके अनुसार अच्छे साध्य के लिए अच्छे साधन की उपयोगिता आवश्यक है । बुरे साधनों से शुभ साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है । उनका मत हिंसात्मक क्रान्तिकारियों से मेल नहीं खाता है । एम.एन. राय किसी भी क्रान्ति में नैतिकता को मुख्य स्थान देते हैं । मार्क्स की धारणा कि साध्य की प्रवित्रता साधन को पवित्र बना देती है, एम.एन.राय इसे नकार देते हैं । मार्क्स ने शोषणविहीन समाज की स्थापना के लिए खूनी क्रान्ति जैसे साधन को वांछनीय माना है किन्तु एम.एन. राय का कहना है कि कोई भी गलत साधन के द्वारा सही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । एम.एन. राय अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर कहते हैं कि अनैतिक साधन कोई भी शुभ लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता है । सोवियत रूस का उदाहरण देते हुए राय कहते हैं कि साम्यवाद की स्थापना एक साधन था । राज्यविहीन समाज की स्थापना उसका साध्य था । विडंबना यह है कि साम्यवाद अपने आप एक साधन बन गया । आज भी कोई आशा की किरण दिखाई पडती जो सोवियत रूस के राज्यविहीन समाज की स्थापना करे ।[५] महर्षि अरविन्द भी कहते हैं कि हमारा साधन उतना ही शुभ होना चाहिए जितना हमारा साध्य । गाँधी ने साध्य-साधन को पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार सामान्यतः साधन के द्वारा ही साध्य की पहचान कर सकते हैं । जयप्रकाश नारायण भी गाँधी की तरह राजनीति एवं मानवीय जीवन में उचित साधन को अपनाने की बात करते हैं। मानव की पहुँच के भीतर साधन होता है, साध्य तो दूर एवं अनिर्धारित रहता है । उसकी सिद्धि पूर्ण निश्चित नहीं की जा सकती । जबकि साधन हमारे हाथ में हैं । इसलिए अनुचित साधन अपनाना हमारे मानव जीवन पर कलंक है । जीजस के प्रसिद्ध कथन को गाँधी ने उद्धृत किया है, ''काँटों से इन्सान अंजीर नहीं तोडते और न झरबेरी से अंगूर चुनते हैं'' ।[६] बाइबल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कहा गया है कि सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य मिल जाने से भी हमारा क्या लाभ होगा यदि हमारी आत्मा ही दब गई ? नैतिक जीवन के लिए गाँधी भी इस सूत्र को मानते हैं ताकि स्वतंत्रता प्राप्ति के आंदोलन में हिंसा और घृणा पर आधारित कोई पद्धति अपनायी न जाए । जयप्रकाश भी गाँधी की तरह इस बात को समझते थे कि गलत साधनों के आधार पर क्षणिक सफलता राष्ट्र को नीचे गिरायेगी और उसे रक्तपात एवं सर्वनाश के अनन्त गर्त में ढकेल देगी। साम्यवादी देशों में सत्ता के लिए जो संघर्ष हुए, उनके फलस्वरूप ऐसे सर्वसत्तावादी समाज की स्थापना हुई जो समाजवाद के प्रवर्तकों द्वारा घोषित सामजिक क्रान्ति के लक्ष्य से बिल्कुल भिन्न है। इन नीतिशून्य राजनैतिक दर्शन की बीभत्सताओं का निदान सम्पूर्ण क्रान्ति प्रस्तुत करती है। जयप्रकाश नारायण ने रूस, चीन एवं फ्रान्स की क्रान्ति के विषय में कहा कि सामजिक क्रान्ति का केवल अर्थ यही नहीं है कि पुराने समाज को तोड दिया जाए, क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक ऐसा राज्य भी बनाना चाहिए जिसमें आर्थिक, राजनैतिक सत्ता प्रत्यक्षरूप से जनता के हाथ में हो । रूस, फ्रांस, चीन में ऐसा नहीं हुआ । उन्होंने कहा कि हिंसक क्रान्ति का परिणाम अनिवार्यतः वही होता है जो रूस और फ्रांस में तथा अन्य देशों में हुआ । हिंसक क्रान्ति का एक कालिकामय पक्ष यह है कि क्रान्ति के बाद हिंसा और भी संगठित रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। सम्पूर्ण क्रान्ति का दूसरा पहलू है क्रान्तिकारी विधि-विज्ञान। गाँधीजी के पहले तक शोषितों के पास शोषक से लडने का एकमात्र साधन हिंसक साधन था। गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रही के तरीके रूप में शोषितों को संघर्ष की एक नई प्रक्रिया दी । जयप्रकाश नारायण ने गाँधी की तरह अहिंसक क्रान्ति पर बल दिया है। अहिंसात्मक क्रान्ति में इतनी शक्ति है कि पुराने समाज को बदलने और नये समाज को गढने का काम साथ-साथ होता रहता है। इस प्रकार अहिंसक प्रक्रिया में यह गुण है कि परिवर्तन और नव-निर्माण दोनों एक साथ चल सकते हैं । उन्होंने मार्क्स की हिंसक क्रान्ति के विरुद्ध कहा कि हिंसक क्रांति यदि सफल भी हो जाए तो उस सफलता का एकमात्र अर्थ है पुरानी समाज व्यवस्था का ध्वस्त होना और ध्वंस किसी भी क्रान्ति का लक्ष्य नहीं हो सकता । उन्होंने नई समाज व्यवस्था के निर्माण पर बल दिया है। हिंसक क्रान्ति के सफल होने के बाद क्रान्तिकारी एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। जयप्रकाश नारायण का कथन है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजनीतिक हिंसा क्रान्तिकारी और प्रतिक्रान्तिकारी भी हो सकती है । यह निश्चित नहीं है कि हिंसक क्रान्तिकारी आंदोलन हमेशा सामाजिक क्रान्ति की तरफ ही हमें ले जाएगा । उससे प्रतिक्रिया भी पैदा हो सकती है और अंत में वह एक फासिस्ट तानाशाही का रूप ले सकती है । उनसे अराजकता, कट्टरता, राष्ट्रीय विघटन एवं आर्थिक संकट पैदा हो सकते हैं। जयप्रकाश कहते हैं कि मार्क्सवादियों को इन संभावनाओं पर विचार करना चाहिए कि क्रान्तियाँ क्रान्तिकारियों की बिल्कुल मर्जी पर ही नहीं हुआ करती हैं । क्रान्ति की सफलता के लिए सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियाँ परिपक्व होनी चाहिए। उसमें पूरी शताब्दी लग सकती है जैसा कि इतिहास गवाह है। जयप्रकाश नारायण का कहना है कि क्रान्ति जब भी होती है तो सत्ता को प्राप्त करना उसका लक्ष्य रहता है । लेकिन सत्ता हमेशा क्रान्ति करने वालों में से ऐसे मुट्ठी भर लोगों द्वारा हड़प ली जाती है, जो सबसे ज्यादा निर्मम होते हैं । ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि हिंसक क्रान्ति की बंदूक सामान्य जनता के हाथ में नहीं होती बल्कि हिंसा के उन संगठित तंत्रों के हाथ में रहती है जो हर सफल क्रान्ति से क्रान्तिकारी सेना तथा उसकी जमातों के रूप में पैदा होते हैं। इन तंत्रों पर जिनका नियंत्रण होता है, उनके ही नियंत्रण में सत्ता रहती है। यही कारण है कि हिंसक क्रान्ति हमेशा किसी न किसी प्रकार की तानाशाही को जन्म देती है । वे कहते हैं कि क्रान्ति के बाद शासकों एवं शोषकों का एक नया विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग कालान्तर में पैदा हो जाता है, जिसके अधीन बहुसंख्यक जनता फिर एक बार गुलाम बन जाती है। इसलिए उन्होंने हिंसा को कभी स्वीकारा नहीं है । गाँधी की तरह वे भी सत्याग्रह को एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में मानते हैं । सत्याग्रह का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में भी कर सकते हैं। सत्याग्रह कमजोरों का हथियार नहीं है बल्कि सत्याग्रह उन लोगों के लिए है जिनमें आत्मशक्ति तथा नैतिक बल हो । सम्पूर्ण क्रान्ति का तीसरा पहलू है - विकेन्द्रीकरण । जयप्रकाश नारायण का आग्रह है कि आर्थिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। भारत में विकेन्द्रित उद्योग की आवश्यकता है । पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनों बडे कारखानों के केन्द्रीकरण एवं औद्योगीकरण में विश्वास करते हैं । दूसरी तरफ जयप्रकाश नारायण गाँधी तथा विनोबा की तरह आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं। जे. पी. ऐसे विकेन्द्रीकरण का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, जिसके द्वारा राजकीय, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति संभव है । यहाँ जयप्रकाश नारायण ने गाँधी की आर्थिक नीति को साम्यवाद के विरुद्ध अपनाया है और उनकी मान्यता है कि नगर एवं गाँव में आर्थिक उदारता होनी चाहिए । जयप्रकाश नारायण का कहना है कि सम्पूर्ण क्रान्ति गाँवों में आरंभ होनी चाहिए । दलित किसान, गरीब मजदूर क्रान्ति के सूत्रधार हो सकते हैं । बडे-बडे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों से यह आशा नहीं की जा सकती क्योंकि उनका ध्येय सीमित रहता है और वे क्रान्ति नहीं कर सकते ।

जयप्रकाश नारायण सर्वोदय दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग करना चाहते थे। उनका ऐसा विश्वास है कि विनोबा द्वारा चलाया गया अभियान सफल नहीं रहा । विनोबा जी ने कुछ वर्षों तक अपूर्व चमत्कार दिखाया और लगा कि समाज परिवर्तन तथा निर्माण की एक नई गाँधी विचारनिष्ठ प्रक्रिया आरंभ हुई है । परंतु 'भूदान-तूफान' के बाद न ग्रामदान, न ग्रामस्वराज्य, न किसी अन्य ही कार्यक्रम का अतितूफान कौन कहे मंद समीर भी नहीं बहा । जब जयप्रकाश नारायण को यह विश्वास हो गया कि भूदान-यज्ञ समाज में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं ला सकेगा तब उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति की घोषणा की । छात्रों, युवकों और नागरिकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि यह क्रान्ति है मित्रों, सम्पूर्ण क्रान्ति है । यह कोई विधानसभा विघटन का आंदोलन नहीं है । यह तो एक मंजिल है जो रास्ते में है, दूर जाना है दूर । यहीं से सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार दर्शन सामने आया । सर्वोदयी जयप्रकाश एक समर्थ क्रान्तिकारी के रूप में समाज के सामने आए। देश में राजनीतिक घटनाएँ तेजी से घटित हो रही थीं। एक तरफ तानाशाही का दमनचक्र चल रहा था और दूसरी तरफ लोकशाही की पुनः स्थापना के लिए आंदोलन । चीन में माओ-त्सेतुंग ने भी क्रान्ति का नारा दिया था । लेकिन समाज के सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिए की गई वह क्रान्ति खूनी-क्रान्ति थी । जयप्रकाश नारायण ने माओ के त्याग, बौद्धिकता, संगठन क्षमता की प्रशंसा की है किंतु अपने आप को वे हिंसात्मक क्रान्ति से जोड नहीं पाए। सम्पूर्ण क्रान्ति के अपने विचार को अहिंसात्मक तरीकों से चलाने पर बल दिया है । उनके अनुसार जहाँ कानून विफल होता है वहाँ अहिंसा से ही आगे बढा जा सकता है । हिंसक और अहिंसक क्रान्ति में अंतर है । हिंसक क्रान्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जहाँ बंदूकों के बल पर की जाती है, अहिंसक क्रान्ति व्यक्ति के विचार-परिवर्तन द्वारा होती है । उनके शब्दों में, "हिंसक क्रान्ति के बाद जनता पंगु बना दी जाती है .... लेकिन यदि अहिंसा के रास्ते से क्रान्ति होती है तो जनता के पंगु होने का खतरा नहीं रहता । अहिंसक क्रान्ति के दौरान जनता के हाथ में बंदूक नहीं होती, जिसके छिन जाने पर वह पंगु बन जाए । इसलिए मेरी बुद्धि कहती है कि अगर अहिंसक ढंग, विचार-परिवर्तन के द्वारा और आवश्यकता पडे तो सत्याग्रह के द्वारा, लेकिन मुख्यतः विचार-परिवर्तन से ही समाज में क्रान्ति होती है जो वह सही क्रान्ति होगी। उसके परिणामस्वरूप आम जनता के हाथ में वास्तविक सत्ता आयेगी और उसे कोई छिन नहीं सकेगा ।"[७] सम्पूर्ण क्रान्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन की एक लम्बी प्रक्रिया है । जयप्रकाश नारायण के अनुसार सात प्रकार की क्रान्तियाँ मिलकर सम्पूर्ण क्रान्ति होती है - सामाजिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति, वैचारिक अथवा बौद्धिक क्रान्ति, शैक्षणिक क्रान्ति एवं आध्यात्मिक क्रान्ति। जयप्रकाश नारायण के अनुसार सात की संख्या को घटाया जा सकता है । जैसे सांस्कृतिक में शैक्षणिक एवं वैचारिक क्रान्तियाँ सन्निहित हो सकती हैं । यदि सांस्कृतिक का मानवशास्त्रीय अर्थ लिया जाए तो उसमें लगभग सभी कुछ आ जाता है । उसी प्रकार सामाजिक क्रान्ति को यदि मार्क्सवाद के 'सोशल रिवोल्यूश' के अर्थ में लिया जाए तो आर्थिक, राजनीतिक क्रान्तियाँ उसमें आ जाती है । इसी प्रकार इन सात क्रान्तियों की संख्या में वृद्धि भी की जा सकती है । एक-एक क्रान्ति पक्ष को तोडकर अनेक किया जा सकता है । आर्थिक क्रान्ति के बदले में औद्योगिक क्रान्ति, कृषि क्रान्ति, यांत्रिक क्रान्ति आदि भेद किए जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्धिक क्रान्ति का विभेद वैज्ञानिक क्रान्ति एवं आध्यात्मिक क्रान्ति कर सकते हैं । फिर आध्यात्मिक क्रान्ति के दो विभेद कर सकते हैं । नैतिक क्रान्ति तथा सांस्कृतिक क्रान्ति । जयप्रकाश नारायण ने क्रान्ति का अर्थ सम्पूर्ण क्रान्ति से समझा है । उनके शब्दों में "क्रान्ति शब्द में परिवर्तन और नवनिर्माण दोनों ही अभिप्रेत हैं ।"[८]

जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति ट्राटस्की के परमानेंट रिवोल्यूशन से बहुत कुछ मिलती है । रूस के क्रान्तिकारियों ने जब गद्दी संभाली तो ट्राटस्की की सतत क्रान्ति को दबा दिया । किंतु जयप्रकाश क्रान्ति के बाद सत्ता से पृथक्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहे, अतः उनकी सतत क्रान्ति आज भी जीवित है । उनके अनुसार ग्राम सभाओं के माध्यमों से सतत क्रान्ति की प्रक्रिया शुरु होती है । जयप्रकाश के शब्दों में "यदि क्रान्तिकारिता का प्रभाव कायम रह सका तो वह ग्राम सभा 'परमानेंट रिवोल्यूशन' (सतत क्रान्ति) के लिए एक उत्तम साधन बन सकेगी ।"[९]

सम्पूर्ण क्रान्ति केवल साम्यवादी विचारधारा से ही नहीं बल्कि कुछ अर्थों में समाजवादी विचारधारा से भी भिन्न है। समाजवादी लोकतंत्र में राज्यसत्ता के उपयोग द्वारा समाज परिवर्तन की अवधारणा रखते हैं और उनकी मान्यता में जनशक्ति की परिवर्तनकारी भूमिका का अभाव है । जबकि सम्पूर्ण क्रान्ति में जनशक्ति की ही परिवर्तन में अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका है तथा राज्यसत्ता की मात्र सहयोगी की भूमिका है ।

सम्पूर्ण क्रान्ति की विचारधारा कुछ अर्थों में सर्वोदय विचारधारा से भी अलग है । सर्वोदय आंदोलन के विषय में जयप्रकाश के शब्दों में, "विनोबाजी ने वर्ग संघर्ष की जगह वर्ग निराकरण की बात की थी और हम उस दिशा में प्रयत्नशील भी रहे । क्या फल रहा उसका ? आंकडा देखें हम। कितनी जमीन बाँटी और कितने कब्जे में रह गई ? जिन्हें जमीन मिली उनकी सामजिक हैसियत में कोई परिवर्तन हुआ ? इन सवालों के पीछे सर्वोदय आंदोलन की उपलब्धियों से इंकार करने जैसी कोई बात नहीं है । बात है तो सिर्फ इतनी कि हम क्रान्ति जिस दिशा में बढना चाह रहे हैं, उसका समाज पर कोई परिणाम दिखाई देता है या नहीं । मैं सारे प्रश्नों को कुछ इस तरह से देखता हूँ - समाज में दो शक्तियाँ हैं, एक कमजोर दूसरी मजबूत । सर्वोदय आंदोलन में हमने मजबूतों को ही ध्यान में रखा और समझा कर उन्हें बदलना चाहा । कमजोर जो हैं, पिछडे जो हैं उनकी सर्वोदय आंदोलन में बहुत कम भूमिका रही । इस प्रक्रिया में व्यक्तिगत रूप से कुछ लोगों का मानस बदला लेकिन वर्ग के रूप में वे बदलेंगे ऐसा नहीं लगता, जो नीचे दबे हैं, जब तक अपनी ताकद का प्रतिपादन नहीं करते, जब तक उनमें आत्मसम्मान की भावना पैदा नहीं होती, तब तक ऊपरवाले का परिवर्तन करना कठीन है.... वर्ग संघर्ष से बचा नहीं जा सकता । ... जो हल चलाता है उसकी जमीन नहीं हो, यह बडा अन्याय है । लेकिन यह अधिकार हल चलाने वाले को कैसे प्राप्त हो ? इसका जबाब तो यही लगता है कि वह अपने अधिकारों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का दावा करें । इस तरह मैं दोहरे दबाव की कल्पना करता हूँ । ईमानदार और निःस्वार्थ युवक, कार्यकर्ताओं द्वारा लोकशिक्षण का दबाव और पिछडे, दबे लोगों के व्यापक वर्ग संगठन का दबाव । दबाव की यह दोहरी ताकद सामन्ती परंपराओं एवं शोषण की व्यवस्था को तोडेंगी । इस प्रकार सम्पूर्ण क्रान्ति में लोकतांत्रिक संघर्ष की आवश्यकता है ।[१०]

कुछ आलोचकों का कहना है कि जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार अस्पष्ट है । बडे आश्चर्य की बात है कि आचार्य कृपलानी जैसे व्यक्ति भी 'सम्पूर्ण क्रान्ति' को ठीक तरह से समझ नहीं पाये। सम्पूर्ण क्रान्ति का यदि सही ढंग से विश्लेषण किया जाए तो गाँधी के 'सर्वोदय दर्शन' का ही यह व्यावहारिक रूप है । सर्वोदय दर्शन के सभी पहलुओं को इसमें समाहित किया जाता है । जब आचार्य कृपलानी गाँधी के सर्वोदय को समझते है और जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति को नहीं समझते तो किसी भी व्यक्ति के मन में एक गंभीर प्रश्नचिह्न उभरता है । क्या ऐसा तो नहीं है कि वे सम्पूर्ण क्रान्ति को समझ कर भी नहीं समझने का स्वांग रच रहे थे ?

कुछ आलोचकों ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' को अव्यावहारिक बतलाया है । इस प्रकार की आलोचना दो कारणों से की जाती है - पहली बात यह है कि व्यावहारिकता का सही अर्थ नहीं समझने के कारण । दूसरा कारण सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा गाँधीवाद के संदर्भ में समानांतर मानकर छद्म विरोध के कारण की गई । सम्पूर्ण क्रान्ति में जयप्रकाश ने मार्क्स तथा गाँधी की त्रुटियों को दूर कर तथा दोनों की ग्राह्य बातों को ग्रहण करने का प्रयास किया है । मार्क्स की हिंसा के स्थान पर गाँधी की अहिंसक पद्धति को अपनाया है । जहाँ मार्क्स की क्रान्ति में नैतिक मूल्य का अभाव है, जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति का आधार नैतिकता है । जहाँ मार्क्स तथा माओ-त्सेतुंग ने मात्र आर्थिक ढाँचा बदलने के लिए क्रान्ति की, वही पर जयप्रकाश 'मानव' को बदलने के लिए प्रयत्नशील है । आर्थिक संरचना के परिवर्तन मात्र से कोई सफल क्रान्ति नहीं हो सकती है जब तक कि मानव में परिवर्तन न हो। जयप्रकाश की सतत क्रान्ति में रुढिवादिता को तोडने तथा समाज में नये मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है । मार्क्स और माओ की क्रान्तियों में विध्वंस के बाद नव-निर्माण की प्रक्रिया शुरु होती है, किंतु ऐसी बात जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति में नहीं है । सम्पूर्ण क्रान्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक सतत प्रक्रिया है । जयप्रकाश ने अपने जीवन के बहुत कीमती क्षणों को सम्पूर्ण क्रान्ति का दीपक जलाने में लगाया है, अर्पित कर दिया है । उन्हीं के शब्दों में-

> "किंतु मुक्त क्रान्तिशोधक के लिए
> कुछ अन्य ही पथ मान्य थे, उद्दिष्ट थे
> पथ त्याग के, सेवा के, निर्माण के
> पथ संघर्ष के, सम्पूर्ण क्रान्ति के ।"[११]

दर्शन विभाग,
पटना विश्वविद्यालय,
पटना

प्रो. विजयश्री

टिप्पणियाँ

१. श्री सच्चिदानन्द (संपादन एवं अनुवाद), कारावास की कहानी, बिहार सर्वोदय मंडल, पटना, प्रथम संस्करण, १९७७, पृ. २८
२. वही, पृ. २९
३. आचार्य राममूर्ति (संपादन), जयप्रकाश का वर्ग-संघर्ष, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७७, पृ. ११-१२
४. वही, पृ. १७
५. It is an empirical truth that immoral means necessarily corrupt the end. In the Soviet Union, proletarian dictatorship promises to be a permanent institution. It has become identical with communism. The means have become the end. The state does not hold out any hope of the withering away ....
न्यू ह्यूमॅनिझम, पृ. ४०
६. राधाकृष्णन् (संपादन), महात्मा गाँधी, पृ. १००
७. श्री सच्चिदानन्द (संपादन), क्रान्ति : सामाजिक और सम्पूर्ण, लोकतंत्र प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण, १९७४, पृ. ३८-३९
८. जेल डायरी, पॉप्युलर [illegible], १९७५, पृ. १३७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. कान्तिभाई शाह(संपादन एवं संकलन), सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९७४, पृ. ७८
१०. छात्र युवा संघर्ष वाहिनी बुलेटिन, १९८५, पृ. ३-४
११. जेल डायरी, पॉप्युलर प्रकाशन, १९७५, पृ. १३२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्पनालोक की कविता
बनाम
कविता का कल्पनालोक

कला और ज्ञान समाजवाद के अन्तर्गत न केवल बरकरार रहेंगे बल्कि बडी तेजी से फलेंगे -फूलेंगे। शोषण की पूँजीवादी व्यवस्था के जंजीरों से मुक्त होकर मनुष्य जिन दो शक्तिशाली सृजनात्मक शक्तियों को विकसित करने में समर्थ हुआ वे हैं कल्पना और ज्ञान । समाजवाद के अन्तर्गत समाज्ञ का तीव्र विकास उस प्रक्रिया को तेज करने में मददगार होगा जिसके द्वारा मनुष्य अपनी कल्पना और ज्ञान को विकसित कर सकता है । वस्तुतः कविता की रचना के लिए कल्पना की आवश्यकता पर अधिकांश चिन्तक एकमत से दिखाई पडते हैं । इनमें पाश्चात्य चिंतक अरस्तू से लेकर भारतीय चिंतक भरतमुनि तक शामिल हैं । यूनानी परम्परा का प्रतिपादन करते हुए अरस्तू ने कला को प्रकृति की अनुकृति माना है । प्लेटो ने कला को प्रकृति की अनुकृति स्वीकार कर मानवता के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया है । सामाजिक दृष्टि से भट्ट लोल्लट का जो आरोपवाद है, उसे अनुकृतिवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं है । अगर कविता और कला को केवल अनुकृति की उपज मान लिया जाए तो कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । यद्यपि अनुकृति कुछ और नहीं बल्कि उसे एबर क्राम्बो एक प्रकार की तकनीक मानते हैं । जबकि शैली के अनुसार कविता 'कल्पना की अभिव्यक्ति है । संस्कृत के आचार्य कविता को रसात्मक वाक्य एवं रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द मानकर कल्पना के औचित्य पर मौन रह गये हैं । वे आचार्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को कविता की रचना प्रक्रिया के घटक मानते हैं । वे प्रतिभा को एक विशेष प्रकार का संस्कार मानते हैं । फिर भी प्रतिभा के अन्तर्गत कल्पना का समाहार होता है । क्योंकि 'नवोन्मेषिनी' अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को ही प्रतिभा माना गया है । वर्डस्वर्थ ने कल्पना को सबल अनुभूति का सहज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रवाह मानकर कल्पना के लिए जगह दी है । क्योंकि भावों को चर्वणा के लिए उस मानसिक अवस्था में पहुँचने की जरुरत है, जिसमें संवेदनशील रागात्मक आवेश प्राप्त हुआ था। रागात्मक आवेश की तीव्रता मूर्त करने के लिए उदात्त कल्पना की जरुरत है । चेम्बर्स के अनुसार - संगीतमय शब्दों में कल्पनाजन्य और रागप्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला ही कविता है । रस्किन के अनुसार कविता कल्पना के माध्यम से रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है । अरस्तू के बाद के विचारकों ने कविता के लिए कल्पना की अनिवार्यता स्वीकार की । शेक्सपीयर ने तो स्पष्ट लिखा है कि– पागल, प्रेमी और कवि की कल्पनाएँ एक-सी होती हैं । कुछ आलोचक तो यहाँ तक मानते हैं कि पागलपन की अवस्था में भी श्रेष्ठतम कविता लिखी जा सकती है । जॉन प्रेस ने प्रमाण स्वरूप स्मार्ट की सर्वश्रेष्ठ कविता 'हाऊस मेन' का हवाला देकर कहा है कि वह पागलपन की अवस्था में लिखी गई है । स्वप्न में कविता लिखने की जनश्रुति कालिदास और कालीरज के संदर्भ में प्रसिद्ध है । कल्पना स्मृति को प्रतिमा में रूपान्तरित करती है और उसे अनेक स्मृतियों के संयोजन से किसी नवीन रूप में प्रस्तुत करती है । प्रायः स्मृत प्रत्यक्ष में कवि के सामने जो प्रतिमा आती है, वह हू-ब-हू नहीं होती बल्कि उसकी प्रतिनिधि होती है। कई बार वह नये रूप में भी दिखाई देती है । क्योंकि कवि का विजन कल्पना से केवल घटित ही नहीं, अघटित का भी समापन करता है । इसमें कहीं न कहीं उसकी आस्थाएँ और विश्वास जुड जाते हैं ।

आधुनिक हिन्दी काव्य-जगत् में छायावादी कवियों की कविता में कल्पना का तत्त्व अधिक दिखाई देता है । महादेवी वर्मा ने स्वयं लिखा है कि, बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन में जिन क्षणों में विश्राम मिलता है, उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचती ही रही हूँ, जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है । वस्तुतः बाह्य उत्तेजना के अभाव में अनुभूति का आवेश कल्पना की उपज है । इसलिए पंत का मानना है कि, कल्पना में है कसकती वेदना/अश्रु में जीता सिसकता गान है । पंत ने वियोगी होगा पहला कवि कहकर वियोगी को पहला कवि घोषित किया है । सिसकते गान के मूल में आँसू हैं और उन आँसुओं को जन्म देने वाली वेदना काल्पनिक नहीं, अपितु कल्पना का आवेश है । इससे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट होता है कि कविता के मूल में कल्पना का आवेश और अविष्ट वेदना है । वस्तुवादी मोह के कारण कल्पना को 'व्योम कुंजों की परी' मानने वाले कवियों के प्रति जब विद्रोह की भावना जगी तो छायावादी कविता की वायवीय कल्पना को देखकर आधुनिक कवि ने वस्तुवादी कल्पना का तिरस्कार करने का निश्चय किया। लेकिन यह भावना उसे संभव नहीं हो सकी । उसी को नजर में रखते हुए दिनकर ने लिखा है—

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने,
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
उड न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक,
शक्ति है तो फिर बसा अलका यहीं ॥

दिनकर की इन पंक्तियों को पढने के बाद सहज ही यह सवाल उठता है कि वस्तुतः कल्पना किसे कहते हैं ? उसका निश्चित रूप क्या है ? वह कविमानस को किस रूप में और कहाँ तक प्रभावित करती है ? प्रायः कवि के मस्तिष्क में दो प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ निरंतर कार्यरत रहती हैं । जो एक ओर उसे अवचेतन के आदिम मनोलोक में डूबने को प्रेरित करती है, जहाँ उसे अस्तव्यस्त इमेजरी और फंतासी प्राप्त होती है, जहाँ दिवा स्वप्नों की असंबद्ध भाषा बिखरी है । दूसरी ओर कवि उस तरफ प्रेरित होता है जहाँ उसे प्रभावशाली प्रवृत्तियों और संगत संसार की रचना करनी होती है। जब ये दो प्रवृत्तियाँ सामंजस्य प्राप्त करती हैं तभी एक सम्पूर्ण कविता प्रत्यक्ष होती है । कवि कल्पना के स्वरूप का विवेचन करते हुए शेक्सपीयर ने कहा है कि कवि की दृष्टि उल्लास से भर कर पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती है और जैसे-जैसे कल्पना स्फुरित होती है वैसे-वैसे कवि की लेखनी जिनका अस्तित्व तक नहीं वैसे अलक्ष्यों को लक्षित कर उन्हें नामरूप देती है । हर्बट रीड भी मान्यता है कि आनंद की अवस्था में भी इमेज की स्वीकृति या अस्वीकृति का क्रम चलता रहता है । इसकी प्राप्ति के साथ ही रचना कर्म पूरा हो जाता है । कवि का अवचेतन इस इमेज प्राप्ति की प्रतीक्षा इसलिए करता है, क्योंकि कवि का हृदय सद्भावनाओं का भण्डार है, उसका अवचेतन कोई गंदगी का गढा नहीं । कवि का अवचेतन स्वयं संवेदनाओं का संचय है जो बाह्य अभिव्यक्ति के क्षणों की प्रतीक्षा करता है । कलात्मक क्षण वह क्षण है जिसमें कलाकार की प्रतीक्षा पूरी होती है । वस्तुतः कल्पना का मूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुभव है । इसलिए कविता की रचना-प्रक्रिया कोई एक तरफा युद्ध नहीं बल्कि वह चौतरफा युद्ध है, बहुत सावधान और जोखिम से भरा युद्ध !

वैज्ञानिकों की खोज में भी कल्पना का पुट सम्मिलित है । लेकिन उनकी कल्पना का मूलाधार वैज्ञानिक के चेतना का प्रयोगात्मक स्वरूप है । अति काल्पनिक कहे जानेवाले ''रोमान्सवादी कहानियों एवं जासूसी कथाओं में भी अविष्कार की भावना निहित होती है । इसलिए क्लपना को तीन श्रेणियों में देख सकते हैं - बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और व्यावहारिक । बुद्धि के आधार स्वरूप जिस कल्पना का निर्माण होता है वह बौद्धिक चेतना से सम्पन्न होती है । इस बौद्धिक कल्पना से वैज्ञानिक अपना काम लेते हैं । जिस कल्पना से सौंदर्यनिर्माण, सौंदर्यबोध और सौंदर्यानुभूति का एहसास होता है, उसे सौंदर्यात्मक कल्पना कह सकते हैं । वास्तव में कला की सफलता सौंदर्य और उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति पर निर्भर करती है । सौंदर्यानुभूति कला की आत्मा है और अभिव्यक्ति उसका कलेवर । इसलिए कलाकार इसी कल्पना का पुजारी और उपासक है । संस्कृत के आचार्यों के अनुसार इसे ही कारयित्री कल्पना और सहज प्रतिभा कहना तर्कसंगत होगा । प्रकारान्तर से कल्पना की कारयित्री शक्ति इन्द्रिय संबंधी मूर्त विधान के मेल से नव निर्माण करने में अभिव्यक्त होती है । यहाँ ब्लेक का कहना सही लगता है कि, तब तक हम उस अज्ञात सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते जब तक ज्ञात प्रकृति को भरपूर प्यार करना नहीं सीख लेते । इसलिए सारे रोमाण्टिक कवियों के ऐन्द्रिय ज्ञान की महत्ता स्वीकार करनी पडी है । क्रोचे के अनुसार कविता बाह्य यथार्थ से सर्वथा अन्तर्मुख होकर आत्मा की स्वायत्त सत्ता में लीन होना है । और फ्रांस के प्रतीकवादियों के अनुसार शुद्ध ऐन्द्रिय सत्य ही सब कुछ है । क्रोचे ने कविता की रचनाप्रक्रिया को एक विशुद्ध मनोमय व्यापार मानकर मन के कार्य को दो भागों में बाँटा है -१) धारणा निर्मात्री क्रिया २) मूर्ति निर्मात्री क्रिया। क्रोचे ने मूर्ति विधान को मन की पहली क्रिया माना है । मूर्तियों की उत्पत्ति सहज चेतना अथवा प्रतिभ ज्ञान के गर्भ से होती है। कल्पना का क्षेत्र इसी सहज-चेतना अथवा प्रातिभ ज्ञान का क्षेत्र है । क्रोचे ने कल्पना को एक प्रकार से अन्तर्दृष्टि का पर्याय बना दिया है । इन्द्रिय ज्ञान की उपेक्षा करके उसने कल्पना को और भी संकीर्ण बना दिया है । तीसरी प्रकार की कल्पना व्यावहारिक कल्पना है । उपयोगी कला का आधार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यावहारिक कल्पना है । कल पुर्जो और उपयोगी औद्योगिक कला वस्तु के लिए इसकी जरुरत है ।

कविता में कवि अपनी भीतरी और बाहरी दुनिया के अर्थ और मूल्यों की खोज करता है । यह खोज ही कविता का गहरा आन्तरिक कारण है । वैसे तो अर्थ और मूल्य विल्कुल अलग नहीं है । कविता का जन्म जिन मूल्यों की खोज में होता है, वह सम्पूर्ण आन्तर्बाह्य संसार की सार्थकता की खोज है । इस सार्थकता की खोज में कवि की 'विवश इच्छा' भी मौजूद रहती है। ऐसा इसलिए होता है कि अगर इच्छा नहीं होती तो वह कुछ सृजन करना नहीं चाहता । सृजन की इच्छा अपने आप में अकेलेपन का तिरस्कार भी है। भौतिक धरातल पर इस 'विवशता' या 'इच्छा' में एक प्रकार की पीडा होती है। वही 'पीडा' कविता को जन्म देती है। इसलिए कविता की रचना-प्रक्रिया एक प्रकार से 'प्रसव-पीडा' से गुजरने की प्रक्रिया है । संस्कार और वातावरण से मस्तिष्क जो शक्ति और विस्तार पाता है उसके अन्तर्गत ही मुख्य रूप से वह सोचने-समझने के लिए विवश है । मगर उसकी प्रतिभा इस सीमा का अतिक्रमण करके नयी जमीन तक संचरण कर सकती है । अपनी कविता के द्वारा कवि जिंदगी की पुनर्रचना करके उसकी नश्वरता को खत्म कर देता है । सत्य के मूल्य का आधार उसकी नैतिक उदात्तता एवं सामाजिक उपादेयता है । सत्य वही है जिससे व्यक्ति एवं समाज के नैतिक और सामाजिक जीवन को शक्ति प्राप्त हो, अगर ऐसा नहीं है तो वह असत्य होने के कारण त्याज्य है । क्योंकि सत्य का न कोई बाप होता है न कोई माँ । वह तो सिर्फ चमकता हुआ सूरज है, देख सके तो उजाला न देख सके तो अंधेरा । अतः किसी भी प्रकार का आदर्शात्मक सृजन जनता से असंबद्ध नहीं है । इसलिए कविता का संबंध भी हमारी स्थिति से है, हमारी मानसिक और सामाजिक भूख-प्यास से है। इसलिए मुक्तिबोध ने 'कल्पना' को कविता में न केवल सृजनात्मकता का साधन माना है बल्कि उसे 'अमूर्तिकरण' के लिए भी उत्तरदायी ठहराया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कविता को अमूर्त कला के रूप में स्वीकार किया है- काव्य या साहित्य पर्याप्त अमूर्तकला है । उसकी मूर्तिमानता उसकी बुनियादी विलगीकरण क्रिया पर आधारित है। विलगीकरण क्रिया ही अमूर्तिकरण है । मुक्तिबोध ने अमूर्तिकरण की प्रक्रियात्मक व्याख्या करके उसे साधारणीकरण या सामान्यीकरण का माध्यम ही नहीं बल्कि अंग भी माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। पुनर्रचित जीवन (विधायक कल्पना द्वारा) और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव है उसकी जो पृथक्-पृथक् स्थिति है, उस अलगाव और पृथक् स्थिति के कारण ही कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद उस कला में मूलबद्ध रूप से एक अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न होता है। रचनाकार की विधायक कल्पना को प्रमुख भूमिका के कारण 'कविता' वास्तव की मात्र 'प्रतिकृति' न होकर जीवन के सारभूत तल से समन्वित होते हुए सामान्यीकृत होती है। इस तथ्य को भी मुक्तिबोध ने कई स्थानों पर उद्घाटित किया है। उनके अनुसार - काव्य सत्य भावना-प्रसूत है किन्तु उस काव्य सत्य का नैतिक उत्तरदायित्व है। हम उसे केवल काव्य-सत्य कहकर टाल नहीं सकते। वह सत्य हमारे व्यक्तित्व से कुछ माँग करता है। अर्थात् काव्य सत्य केवल भावनापूर्ण काल्पनिक लोक का विचरण नहीं हो सकता। वह जीवन से सम्पृक्ति का नैतिक आधार लेखक चलता है। 'एक साहित्यिक की डायरी' के 'कुटुयान और काव्य सत्य' शीर्षक निबन्ध में लेखक का मित्र लेखक से प्रश्न करता है कि काव्य सत्य को मैं बदनाम नहीं करना चाहता। मेरा प्रश्न सीधा-सादा है। काव्य में जीवन के कुछ मूल्य और दृष्टि प्रकट होती है। मेरा प्रश्न यह है कि क्या इन मूल्यों से आपके आचरण का सामंजस्य है। यहाँ मित्र के द्वारा मुक्तिबोध ने अप्रत्यक्ष रूप से कविता के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। साथ ही साथ रचनाकार द्वारा संकेतित जीवन-मूल्यों को उसके आचरण से संगति एवं सामंजस्य की अपेक्षा रखते हैं। यही काव्य-सत्य की विश्वसनीयता का आधार है। लेकिन 'वास्तविक सत्य' को अनुभूत करने वाला कवि एक व्यक्ति है। और वह यह वास्तविक सत्य है क्या ? यह एक बडा गंभीर दार्शनिक प्रश्न है। इस दार्शनिक ऊहापोह को लेकर यथार्थवाद की विशद अवधारणाएँ साहित्य में उपस्थित हुई। प्लेटो ने कविता को नकल (प्रकृति, जो ईश्वर की प्रतिकृति) की नकल कहकर निरादर किया था। लेकिन कविता प्रकृति के साथ, संसार के साथ, मनुष्य के संबंध की अभिव्यक्ति है। 'कविता क्या है?' शीर्षक निबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र जटिल और सघन होता गया त्यों-त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढती गई। ऐसी स्थिति में बडे-बडे कवि ही उसे संभालते आए हैं। शुक्ल जी के अनुसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मण्डल बाँधता चला आ रहा है, जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध कभी नहीं रख सकता । इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए कविता मनुष्य जाति के संग लग गई । यहाँ हम पाते हैं कि कविता सिर्फ रोजमर्रे का तथ्यात्मक सत्य नहीं अपितु विशिष्ट अभिव्यक्ति करती है और सामाजिक विश्व से उसका संबंध होता है । सिर्फ प्रकृति और समाज ही नहीं बल्कि स्वयं रचना भी रचना का कारण बनती है। समाज में अधिकतर लोग कविता को भावुकता और कल्पना का विषय मानते हैं । लेकिन ऐसा नहीं है, बल्कि साहित्य (कला) तथा सौंदर्यात्मक अनुभूति समाज सापेक्ष होती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है। मार्क्स के अनुसार साहित्य और कला का उद्‌भव उनका सामाजिक आधार, सामाजिक जीवन के साथ उनका घनिष्ठ अंतःसंबंध सामाजिक जीवन के विकास और उसके क्रान्तिकारी रूपान्तरण में उनका योग, साहित्य और कला की प्रयोजनीयता, आर्थिक, भौतिक धरातल से उनके संबंध साहित्य और कला की समाज सापेक्ष स्वायत्तता है ।

कला की रचना प्रक्रिया के संबंध में विचार-विमर्श की बात बहुत पुरानी है । पाश्चात्य काव्य-चिंतन में प्लेटो में भी इस चर्चा के बीज निहित हैं । किन्तु आधुनिक युग से पहले के एतत्संबंधी चिंतन में तार्किक विश्लेषण का अभाव दीखता है। आधुनिक युग तर्क एवं बौद्धिक विश्लेषण का युग है। इसलिए आज का चिंतक किसी बात को यथावत् स्वीकार करने के पहले उसे तर्क की कसौटी पर कसता है । वह कला की रचना-प्रक्रिया को किसी दैवी रहस्य-चेतना से न जोडकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के माध्यम से ही उसकी व्याख्या करके समझने की कोशिश करता है। सृजनप्रक्रिया की प्रकृति जटिल और गूढ होने के कारण ही आधुनिक युग के पहले चिंतक उसे किसी मानवेतर दैवी स्रोत से संबद्ध कर देते थे। आज भी यह विचारधारा मौजूद है । अरविंद ने अपने एक पत्र में लिखा है कि कवि उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणों में अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता वरना अन्तःकरण की प्रेरणा से देवताओं के प्रवक्ता की भाँति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिखता है । इस रहस्यमयी प्रेरणा से नयी कविता के अग्रणी कवि अज्ञेय भी अछूते नहीं रहे । अपनी लम्बी कविता 'असाध्य-वीणा' में कला की सृजन-प्रक्रिया को समझाते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि कलाकार सचेत मानस द्वारा कला की रचना नहीं करता अपितु कोई अव्यक्त सत्ता (महामौन) अपने को कलाकार के माध्यम से प्रकट करती है, कलाकार केवल माध्यम है । जयशंकर प्रसादजी ने भी काव्य को आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति कहकर उसकी व्याख्या की एवं अंतःप्रेरणा पर आध्यात्मिक रहस्य का रंग चढा दिया है । प्रसाद जी के अनुसार काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विधान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा है । मूलतः सर्जनात्मक कृतियाँ किसी सर्जनशील प्रक्रिया की परिणतियाँ होती हैं और वह प्रक्रिया मूलतः समस्या-स्थापना से समस्या समाधान की ओर जाती है। विभिन्न मनो-वैज्ञानिकों ने एकल अथवा सामूहिक प्रयासों द्वारा रचना-प्रक्रिया की विकासमान अवस्थाओं का यत्र-यत्र निर्धारण किया है।

यद्यपि मनोविज्ञान को पूरी तरह विज्ञान का दर्जा हासिल नहीं है फिर भी रचना-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक तर्कसम्मत माना जाता है । इसलिए पश्चिम के अनेक चिंतकों ने रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण और अध्ययन मनोविश्लेषण के धरातल पर किया है । मनोविश्लेषण के प्रख्यात चिंतक फ्रायड ने सृजनप्रेरणा का संबंध अवचेतन की अंध गलियों में दमित काम-वृत्ति से जोडकर बताया है कि कला के द्वारा कलाकार अपनी दमित आकांक्षाओं का उदात्तीकरण करता है । कार्ल जुंग ने मनुष्य की समस्त सृजनात्मक कला को जागतिक अतृप्तियों की क्षतिपूर्ति अथवा कुंठाओं के उन्नयन का माध्यम घोषित किया । फ्रायड ने व्यक्ति मानस के अन्तर्विभाग करके चेतन मन को अवचेतन तथा अचेतन के अधीन माना । अचेतन मन की प्रवृत्तियों के मूल में वह व्यक्ति की अतृप्त वासना या यौन प्रवृत्ति मानते हैं । कला सृजन के द्वारा ये अवचेतन प्रवृत्तियाँ ही अधिकतर प्रकाश में आती हैं और चेतन मानव की अतृप्त वासनाओं के परोक्ष प्रतिबिम्बों और दूसरे कल्पना बिम्बों के संदर्भ में चर्चा करते हुए बतलाया हैं कि उनका भी वास्तविकता से संबंध होता है । फ्रायड के अनुसार स्वप्न भी दो तरह के होते हैं - एक हम सचमुच सोते हुए देखते हैं, दूसरे हम जागते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सोचते हैं - जहाँ हम एक मनोराज्य बनाते हैं जागते हुए । जागते हुए आदमी का मनोराज्य इस तरह का होता है कि उसमें व्यावहारिक तर्कबुद्धि काम नहीं करती, जहाँ कविता और व्यवहार जगत् अलग होते हैं । व्यवहार जगत् के तर्क जहाँ समाप्त हो जाते हैं वहाँ भी आदमी का सोचना, समझना चलता है । वहीं से फंतासी की शुरुआत होती है, वहीं से कविता की शुरुआत होती है। जार्ज थामसन् के अनुसार Poetry is a sort of dream world. फ्रायड ने स्वप्न की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को निरूपित किया है और अनेक स्थलों पर काव्य को स्वप्न की भाँति अवचेतन की सृष्टि माना है । 'एक साहित्यिक की डायरी' में भी मुक्तिबोध ने काव्य की मनोवैज्ञानिक रचना-प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए रचना का केन्द्रबिन्दु फंतासी को माना है ।

मूलतः स्वप्न-चेतना आकुंचन, रूपान्तरण-आरोपन, विस्तारण एवं मूर्तिकरण का काम करती है । लेकिन स्वप्नगत भावनाओं और दबी वासनाओं का विश्लेषण साधारण मनुष्य के लिए संभव नहीं होता । कुछ विशेष प्रकार के व्यक्ति ही इन भावनाओं को सृजन के स्तर पर ला सकते हैं । स्वप्न से जिस आनंद की प्राप्ति होती है कुछ उसी प्रकार का आनंद कविता से प्राप्त होता है । इसलिए हरिवंशराय बच्चन ने लिखा है-

स्वप्नों ने ही मुझको लूटा,
स्वप्नों का ही मोह न छूटा
मेरे नीड-नयन में आओ
कर लो प्रेयस् रैन बसेरा ।

स्वप्न अचेतन मन के संघर्ष का फल है । मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का प्रयत्नकृत रूप भी माना है । कविता की रचना में ऐसी कल्पना के कारण ही कवि संवेदनशील होता है । कभी-कभी कल्पना में ही अपने शत्रु को गाली देने से मनुष्य का मन शांत हो जाता है । मेक्सबीयरबाम अपनी कल्पना में उसे नाराज करनेवाले लोगों को चिट्ठी लिखता था, कभी-कभी वह वास्तविक चिट्ठियाँ भी अपने क्रोध के आवेश में आकर लिख डालता था । इस प्रकार उसके पत्र लिखने से ही उसका क्रोध समाप्त हो जाता था । निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि केवल क्रिया के कारण ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं बल्कि उद्देश्य के सदृश्य इसे भी कल्पना और स्वप्न का अविच्छिन्न संबंध है ।

कल्पना कविता में अनुभूति को स्पष्टता, गंभीरता, तीव्रता, संवेग और आवेश देती है । वस्तुतः कल्पना स्वतंत्र सृष्टि नहीं कर सकती, बल्कि एक नवीन रूप उपस्थित करती है, जिसे देखकर सहृदय चमत्कृत हो उठता है । कल्पना कोई कपोलकल्पित स्वप्न सुंदरी नहीं है, बल्कि कवि के अनुभव की जमीन से उसका जन्म होता है । इसलिए कविता का कल्पना लोग स्थूल नहीं एक मानसिक व्यापार है, तथा संपूर्णतः स्पष्ट होने से कभी-कभी यह रहस्यमय भी प्रतीत होता है । परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि कविता कवि की निजी मनःस्थितियों या मनोदशाओं की धुंदली-सी रहस्यमय अभिव्यक्ति है । कविता एक आत्मिक प्रयास है मगर कविता का कल्पना लोक निरपेक्षतः व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की देन नहीं है, क्योंकि कवि का मनोजगत् का वस्तुजगत् आत्मसात्कृत रूप है । वस्तुजगत् के विभिन्न अनुभव एवं ज्ञान कवि के अन्तर्व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बनकर उसके निजी बन जाते हैं । वहाँ समाज का अस्तित्व एक सूक्ष्मस्तर पर सेंसर का काम करता है । कविता इस तरह सामाजिकता प्राप्त करती है ।

हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - ५०००४६

डॉ. एस. आर, मूने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

* पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

* परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

* यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

* प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

* पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

* अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २५ अंक १ दि.-ज.-फ.२००३-४

	:	संपादकीय
डॉ. निर्मला जैन	:	ए. जे. एयर के 'अतीत के ज्ञान' की अवधारणा की समीक्षात्मक व्याख्या
डॉ. हरिश्चन्द्र	:	भगवद्गीता एवं सांख्यदर्शन में प्रकृतिसिद्धान्त
डॉ. शिवशंकर मिश्र	:	अभाव मीमांसा
डॉ. महेश्वर मिश्र	:	मीमांसकों का वाक्यार्थ सिद्धान्त
डॉ. बी. कामेश्वर राव	:	भारतीय संस्कृति की खोज
सरोज कुमार वर्मा	:	स्वातंत्र्योत्तर भारत में ओशो का दार्शनिक चिंतन
डॉ. मधुमती जुनेजा	:	धर्म की सामाजिक उपादेयता
प्रो. विजयश्री	:	सम्पूर्ण क्रान्ति : एक दार्शनिक विवेचन
डॉ. एस. आर. मूने	:	कल्पनालोक की कविता *बनाम* कविता का कल्पनालोक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २४, अंक २

मार्च - अप्रैल - मई २००३

भारतीय सौर फागुन-चैत्र -वैशाख- शके १९२४

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanaşi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलाहकार संपादक मण्डल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १०००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १२५/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १००/-
एक प्रति का मूल्य		३५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

जीवमात्र की सामान्य प्रवृत्ति होती है कि जब उस पर आघात होता है तब वह प्रत्याघात पर उतर आता है । आघात से प्रत्याघात का द्वन्द्व नियत चलनेवाला क्रम हो सकता है और इसके दायरे में एकबार अटक जाने से उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है । किसी भी आघात से जीव के अहं को ठेस पहुँचती है, अतः प्रत्याघात अनिवार्य एवं तीव्र होता है । आघात के पीछे आघातकर्त्ता की मनोभूमिका क्या है इसपर सोचना अलग बात है । प्रतिक्रिया की मानसिकता के समय सोचना प्रायः कम ही होता है । और आघातग्रस्त की सोच आघातकर्ता की मनोभूमिका को सहीरूप से पहचान पाने की संभावना कहाँ तक सही साबित करे यह भी निश्चित नहीं होता है । क्योंकि दो मनोभूमिकाओं का मेल बहुतसी अन्य बातों पर निर्भर रहता है। इसलिए आघातकर्ता की मनोभूमिका समझ लेने की कोशिश को प्राथमिकता नहीं मिलती है ।

जब हम तरह-तरह की हिंसाओं का हमारे सामाजिक परिवेश में अनुभव करते हैं तब उसे समझना तथा उसे रोकना जरुरी होता है । लेकिन क्या हमें प्रत्याघात को रोकना है ? या प्रत्याघात की प्रवृत्ति को रोकना है ? या आघात को रोकना है ? या आघात की प्रवृत्ति को रोकना है ? मनुष्यमात्र का निरंतर अनुभव रहा है कि रोकने से बातें न ज्यादा देर तक ठहरती हैं न वे हमेशा के लिए खत्म होती हैं । रोकने के लिए भी अत्यधिक जोर देना पडता है । उस जोर को कहाँ और कैसे लगाना उचित होगा ?

आघात मनुष्य की हिंस्रवृत्ति का प्रदर्शन है । मनुष्य को स्वभाव से हिंस्र मानना संभव नहीं है । फिर भी मनुष्य-स्वभाव से हिंस्रता अत्यधिक जुडी हुई दिखाई देती है । किसी भय के कारण जब कोई जीव खुद की रक्षा करता है तब वह अन्यों पर आक्रमण कर के हिंसा पर उतर आता है । यह मनुष्यमन की कमजोरी है कि वह भयग्रस्त होता है और भयग्रस्तता उसे हिंस्र बनाती है । मनुष्य अपने अस्तित्व को कहाँ जोडता है इसपर उस का भय निर्भर करता है । राजनैतिक जीवन जीनेवाला मनुष्य राजनैतिक ओहदों तथा कामयाबियों से अपनी पहचान बनाने की कोशिश में जुटा रहता है । जब उसकी राजनैतिक पहचान को क्षति पहुँचती है या क्षति पहुँचने की आशंका पैदा होती है तब वह उस से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बचने के लिए हिंस्र रूप धारण करता है । जब आदमी की अपनी असली पहचान हो जाती है तब वह भयमुक्त जीवन जी सकता है । भयमुक्त जीवन जीने में आजादी का जो एहसास है वह अन्य किसी अवस्था में नहीं आ पाता है । जब आदमी अपनी पहचान के लिए अपने से अन्य और बाहर की किसी वस्तु का आलंबन बनाता है तब वह अक्सर क्षतिग्रस्त होता रहता है । अपना खुद का स्वभाव और क्षमताओं के आधार पर अपनी पहचान बनानेवाले को न किसी बात का भय रहता है न किसी बात की आशंका रहती है ।

यह सच है कि हरेक कौम का अपना इतिहास होता है । किसी भी इतिहास का कोई एक रूप होता है और हमें कभी भी संपूर्ण इतिहास प्राप्त नहीं होता है । जो रूप सामने है वह अपूर्ण इतिहास है और उस से अलग कोई रूप सामने आए तो पहले से बनायी पहचान क्षतिग्रस्त हो जाती है । यही कारण है कि इतिहास से बनी पहचान रखनेवाले मनुष्य को अपनी पहचान बनाए रखने के लिए हिंसा के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं होता है । और जब हिंसा से किसी पर आघात होता है तो क्षति असल में आघातकर्ता को पहुँचती है । इतिहास का दूसरा रूप दिखानेवाला कोई अपने जैसा ही मनुष्य होता है । उस का दूसरा रूप दिखाने का मतलब है हमारे सामने आईना रखना । आघात कर के आईना फोड दिया जाता है, आईना नष्ट नहीं होता है । टूटे-फूटे आईने में दिखाई देनेवाला आघातकर्ता का रूप और भी विकृत दिखाई देता है । हिंसा पर उतर आने से क्षति पहुँचती है अपने खुद को । जिसपर आघात किया जाता है वह अपने से इतना जुडा रहता है कि वह अपनी पहचान का ही हिस्सा होता है । उसे तोड कर अपनी पहचान बनाने की कोशिश में कैसी समझदारी होगी?

जब हम पुरानी कौमों की उभरती पहचानों को देखते हैं, अपनी पहचान बनाए रखने के हेतु उनके हिंस्र व्यवहारों को देखते हैं, तब ये सारे सवाल हमारे मन में उठते हैं । सवाल सिर्फ इतने ही नहीं हैं, यह तो बस एक शुरुआत है। लेकिन देखना है कि शुरुआत अब हिंसा-पर्व की रहेगी या अहिंसा-पर्व की !

- सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विट्गेन्स्टाइन के "अर्थ" सम्बन्धी विचारों में क्रमिक-विकास

'भाषा', मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है । यह विचारों की अभिव्यक्ति का न केवल ए क सशक्त माध्यम है बल्कि यह एकमात्र इतना समर्थ माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान को व्यक्त कर सकते हैं । हम भाषा (अपनी मातृभाषा) का प्रयोग करते हुए यह कदापि नहीं सोचते कि अमुक भाव को व्यक्त करने के लिए अमुक शब्द का प्रयोग करना है अथवा इस वस्तु को बताने के लिए इस शब्द का प्रयोग करना होगा, आदि । हम भाषा में, उसके साथ विकसित हुए हैं । यह एक पद्धति है जिसमें हम ढल चुके हैं । अतः किसी वस्तु को बताने के लिए क्या बोलना है, यह हमें सोचना नहीं पड़ता है और न ही हमें कोई सिखाता है । फिर भी यह सामान्य मानसिक धारणा है कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ है और हम उंसी निश्चित अर्थ में उस शब्द का प्रयोग करते हैं ।

'भाषा' के सन्दर्भ में यही धारणा कदाचित् पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन[१] की भी थी जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक "ट्रेक्टेटस-लॉजिको-फिलसॉफिक्स' में "चित्रण-सिद्धान्त" (Picture Theory) के नाम से व्यक्त किया है । किन्तु कालान्तर में विट्गेन्स्टाइन ने स्वयं इस बात का अनुभव किया कि भाषा तो परिवर्तनशील है, वह हर क्षण हमारे बदलती जीवन-शैली के साथ साम्य रखने के लिए संवर्धित होती रहती है । ऐसे में यदि हम मान लें कि प्रत्येक शब्द, जगत् में विद्यमान किसी वस्तु की ओर संकेत करता है और प्रत्येक शब्द एक ही निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होता है तो इससे भाषा का परिवर्तनशील स्वरूप बाधित होता है । "चित्रण सिद्धान्त" की इस भ्रान्ति को समझ कर विट्गेन्स्टाइन ने १८ वर्षों बाद अपनी दूसरी पुस्तक "फिलसॉफिकल इन्वेस्टीगेशन" के प्रथम भाग में अपने ही "चित्रण सिद्धान्त" का खण्डन किया और "शब्द" के अर्थ के लिए उसके प्रयोग को महत्त्व देते हुए "प्रयोग सिद्धान्त" (Use Theory of Meaning) दिया । भाषा में शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में विट्गेन्स्टाइन के ये विचार "फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स" के भाग दो में और भी अधिक परिपक्व रूप में सामने आए हैं । "अर्थ" के सम्बन्ध में विट्गेन्स्टाइन के विचारों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के इस क्रमिक परिवर्तन और विकास का निरूपण करना ही इस लेख में मेरा उद्देश्य है ।

पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन का मानना है कि एक प्रतिज्ञप्ति को उसके सरलतम अंशों में विभक्त किया जा सकता है । ये सरलतम अंश, शब्द हैं जो जगत् में अण्विक तथ्यों की ओर संकेत करते हैं । अब यदि वाक्य के ये सरलतम अंश अर्थात् "शब्द" अर्थपूर्ण हैं और एक व्याकरणिक तथा तार्किक दृष्टि से इन शब्दों को जोड़ा गया है तो इससे बनने वाली प्रतिज्ञप्ति अर्थपूर्ण होगी।

शब्दों के व्याकरणिक दृष्टि से जुड़े होने का अर्थ है उस निश्चित भाषा के व्याकरण के अनुरूप होना तथा तार्किक दृष्टि से इन शब्दों को जोड़ा गया है तो इससे बनने वाली प्रतिज्ञप्ति अर्थपूर्ण होगी ।

शब्दों के व्याकरणिक दृष्टि से जुड़े होने का अर्थ है उस निश्चित भाषा के व्याकरण के अनुरूप होना तथा तार्किक दृष्टि से सम्बद्ध होने का अर्थ है शब्दों को उनकी निश्चित श्रेणी के अन्दर ही प्रयोग करना।[२] किंतु इन दो विशेषताओं के साथ-साथ वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का अर्थपूर्ण होना भी आवश्यक है । प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी शब्द के अर्थपूर्ण होने का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन कहते हैं कि कोई शब्द तभी अर्थपूर्ण है जब वह बाह्य जगत् में उपस्थित किसी "विषय" (Object) की ओर संकेत करता हो । विट्गेन्स्टाइन के अनुसार प्रत्येक अर्थपूर्ण शब्द किसी विषय का चित्र है और यदि कोई ऐसा शब्द है जो किसी विषय को चित्रित नहीं करता, तो वह अर्थहीन शब्द है । जैसे "बूबूबू" एक अर्थहीन शब्द है। क्योंकि यह संसार में उपस्थित किसी विषय को चित्रित नहीं करता । "अर्थ" सम्बन्धी विट्गेन्स्टाइन के इस मत को "चित्रण सिद्धान्त" कहा गया है । किंतु कालान्तर में विट्गेन्स्टाइन को अपने ही इस मत में अनेक विसंगतियाँ दिखाई दी । यथा -

(१) सर्वप्रथम यदि प्रत्येक "शब्द" किसी "विषय" का नाम है अथवा वह उस विषय को चित्रित करता है तो इससे "शब्द" और "विषय" की उपस्थिति मात्र से "अर्थ" का ज्ञान हो जाना चाहिए परंतु ऐसा व्यवहार में नहीं होता है । किसी "लड़की" की ओर संकेत करके यदि हम कहते हैं कि यह एक "घरेलू लड़की" है तो मात्र इतना संकेत कर देने से "घरेलू लड़की" का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है जब तक किसी शब्द को एक संदर्भ में न समझा जाय तब तक उस शब्द के समग्र अर्थ को जानना असम्भव है ।[३]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२) पुनः हम प्रायः ऐसे वाक्यों का भी प्रयोग अपनी भाषा में करते हैं यथा - ''दिनेश की मृत्यु हो गयी ।'' यहाँ यदि हम ''चित्रण सिद्धान्त'' को स्वीकार करते हैं तो यहा वाक्य निरर्थक होना चाहिए क्योंकि ''दिनेश'' शब्द जिस विषय/व्यक्ति को चित्रित करता है वह तो इस संसार में है ही नहीं । परंतु वास्तविकता तो यह है कि हम ऐसे वाक्यों का अर्थपूर्ण ढंग से व्यवहार में प्रयोग करते हैं ।

(३) ''चित्रण सिद्धान्त'' को स्वीकार कर लेने से भाषा मृतप्राय हो जायेगी । यह ''चित्रण सिद्धान्त'' की तीसरी महत्त्वपूर्ण विसंगति है । कोई भी भाषा सहसा ही उत्पन्न नहीं होती है वह धीरे-धीरे विकसित होती है । विकास के इस क्रम में शब्द कई बार नवीन अर्थ धारण करते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो पूर्णतः नये होते हैं । भाषा की प्रकृति ही ऐसी है । वह समाज में लोगों की जीवन-शैली से प्रभावित और संवर्धित होती हैं । भाषा के इस स्वभाव के साथ ''चित्रण-सिद्धान्त'' का साम्य स्थापित नहीं किया जा सकता है ।

उपरोक्त समस्याओं को देखते हुए विट्गेन्स्टाइन ने एक पूर्णतः भिन्न दृष्टिकोण अपनी दूसरी पुस्तक ''फिलसॉफिकल इन्वेस्टीगेशन्स' के भाग एक में प्रस्तुत किया है । इसे अर्थ सम्बन्धी ''प्रयोग सिद्धान्त'' कहा गया है । इसके अनुसार शब्द किसी वस्तु का चित्र नहीं है न ही इसका कोई एक निश्चित अर्थ है। एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह भाषा का सौन्दर्य है कि उसके शब्दों को विविध सन्दर्भों में (शब्द के मूल अर्थ को सुरक्षित रखते हुए) प्रयोग किया जा सकता है ।

इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के अनुसार शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं होता बल्कि एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है । परंतु प्रश्न यह है कि हमें कैसे ज्ञान होता है कि कोई शब्द किन संभव संदर्भो में प्रयोग किया जा सकता है । कुछ लोग इस प्रश्न का यह उत्तर देना चाहेंगे कि हमारे मस्तिष्क में प्रत्येक शब्द से सम्बन्धित उसके सम्भव प्रयोगों की हल्की छाया (A 'Corona' Of Lightly Indicated Uses) रहती है। उसी से हमें ज्ञान होता है कि कोई शब्द किन संभव संदर्भों में प्रयुक्त किया जा सकता है । परंतु उत्तर कालीन विट्गेन्स्टाइन इस उत्तर से सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ भी आंतरिक नहीं है ।[४] अगर हम मान भी लें कि किसी शब्द के जितने भी सम्भव प्रयोग हो सकते हैं उसकी एक प्रतिकृति मस्तिष्क में रहती है तो समस्या यह है कि हम भाषा का प्रयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब बातचीत के लिये करते हैं तब हम सामने के व्यक्ति के बारे में कैसे आश्वस्त रह सकते हैं कि किसी शब्द का जो अर्थ मेरे दिमाग में है वही उसके दिमाग में भी है? इस प्रकार तो हमारा सम्भाषण असम्भव हो जायेगा ।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि उसे शतरंज खेलना आता है और यह उसे एक आंतरिक प्रक्रिया द्वारा ज्ञात है तो हमारे लिये उसके इस आंतरिक ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है । शतरंज सम्बन्धी उसके ज्ञान का पता हमें तभी चल सकता है जब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से खेल में अभिव्यक्त हो । अतः शब्द का अर्थ अथवा उसके विभिन्न प्रयोग किसी आंतरिक प्रक्रिया से ज्ञात नहीं होते हैं ।

वस्तुतः एक शब्द विभिन्न संदर्भों में प्रयोग तो किया जा सकता है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई शब्द किसी भी अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है । एक शब्द के जितने भी सम्भव प्रयोग हो सकते हैं उनमें एक ''पारिवारिक सादृश्यता'' होती है । जिस प्रकार एक ही परिवार के सभी सदस्यों की शक्ल एक ही नहीं होती है किंतु एक जैसी होती है । उनमें एक सादृश्यता तो रहती है किंतु वे एक ही नहीं हैं । इस सादृश्यता को ''पारिवारिक सादृश्यता'' कहते हैं । एक ही शब्द के विभिन्न प्रयोगों में ऐसी ही सादृश्यता पायी जाती है ।

परन्तु ऐसा भी नहीं है कि एक शब्द के चारों ओर एक निश्चित परिधि है और उस परिधि के भीतर ही शब्द का प्रयोग होता है । अन्य शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि यदि आज ''पानी'' शब्द के (हिन्दी भाषा में) दस प्रयोग होते हैं तो सदैव इन्हीं दस अर्थों में उसका प्रयोग होता रहेगा । सम्भव है कल को ''पानी'' शब्द का कोई और नवीन प्रयोग किया जा सके । किंतु यह नवीन अर्थ (अथवा प्रयोग) भी ऐसा ही होगा जो पानी शब्द के मूल अर्थ (Premitive Meaning) से संगत हो । जैसे निम्न त्रिभुज के चित्र को देख कर हम इसे विभिन्न रूपों, विभिन्न अर्थों में ग्रहण कर सकते हैं । हमें यह एक गिरती हुई त्रिभुजाकार वस्तु लग सकती है, हमें यह एक ठोस त्रिभुजाकार वस्तु दिख सकती है; हम इसे एक चिह्न के रूप में भी देख सकते हैं इत्यादि ।

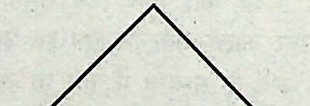

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परन्तु हम कभी भी इस आकृति को वृत्त के रूप में नहीं देख सकते हैं अर्थात् हमारा कोई भी प्रत्यक्षीकरण उसके मूल स्वरूप के बिल्कुल विरुद्ध नहीं हो सकता ।

पुनः किसी वाक्य में ''शब्द'' उच्चारण के तरीके से भी शब्द का अर्थ और उस सम्पूर्ण वाक्य का भाव बदल जाता है यथा -

''मैं तुमको अपनी कलम नहीं दूँगा ।''

यहाँ जब हम मैं शब्द पर बल देकर वाक्य बोलते हैं तो इसका अर्थ होता है कि मैं नहीं, लेकिन कोई और तुमको कलम दे देगा । जब हम तुमका शब्द पर ज़ोर देकर बोलते हैं तो इसका अर्थ होता है कि मैं किसी और को तो कलम दे दूँगा पर तुम्हें नहीं दूँगा । इसी प्रकार अन्य शब्दों पर बल देकर बोलने से वाक्य का अर्थ बदल जाता है । तात्पर्य यह है कि शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं होता है । अनेक कारक हैं (जैसे संदर्भ, उच्चारण) जो शब्द के अर्थ को प्रभावित करते हैं ।

पुनः शब्दों का अर्थ उस जीवन-शैली से भी प्रभावित होता है जिसमें उसका प्रयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ यदि हमसे कोई कहता है कि वह ''अगर'' (if) और ''लेकिन'' (but) शब्दों को उच्चारित करते समय एक जैसा अनुभव करता है अर्थात् उसके लिये ''अगर'' तथा ''लेकिन'' एक हैं तो विट्गेन्स्टाइन प्रश्न करते हैं कि क्या हम कह सकते हैं कि वह व्यक्ति गलत है ? क्या हम उस पर अविश्वास करेंगे ? नहीं । हम मात्र इतना ही सोच सकते हैं कि 'यह व्यक्ति तो बहुत विचित्र है । हो सकता है ये जिस समाज में रहता है वहाँ इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता हो किंतु हमारे यहाँ तो ऐसा नहीं होता है ।[५] वस्तुतः भाषा में हमारी जीवन-शैली प्रतिबिम्बित होती है ।

शब्दों के साथ न तो कोई एक निश्चित भावना जुड़ी रहती है न ही कोई एक निश्चित अर्थ । सम्भव है कि किसी गीत में कोई शब्द ऐसा हो जिसको सुनने से कोई भाव उत्पन्न होता है और जिसका मैं अनुभव भी करती हूँ किंतु उस गीत के बाहर जब वही शब्द सामान्य बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होता है तो उसको सुनने से वही भाव उत्पन्न नहीं होता है ।

इस स्थल पर विट्गेन्स्टाइन के ''किसी रूप विशेष में देखना'' (Seeing as) सम्बन्धी मत का उल्लेख करना असंगत न होगा । विट्गेन्स्टाइन के अनुसार जब हम कुछ देखते हैं अथवा सुनते हैं तो वहाँ हम मात्र शुष्क संवेदनाओं (raw

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

feels) को ग्रहण नहीं करते । उस "शब्द" अथवा उस "दृश्य" को किसी रूप में (see it as) सुनते अथवा देखते हैं । इसमें कभी हमारी कल्पना निहित रहती है तो कभी हमारी संवेदनशील प्रकृति । एक कल्पनाशील और संवेदनशील व्यक्ति ही, मन की पीड़ा को "बादल" और अश्रुओं को "वर्षा" के रूप में देख सकता है ।[६]

परन्तु "शब्द" के किसी नये भाव को ग्रहण करने के लिये आवश्यक नहीं कि व्यक्ति कवि-हृदय ही हो । आवश्यकता है, दिये गये संदर्भ की पूर्णता में उस "शब्द" को समझने की और जैसे ही व्यक्ति ऐसा करने में सक्षम होता है उसे एक नया अर्थ उसी शाब्दिक प्रत्यक्ष में दिखाई देने लगता है । इसे विट्गेन्स्टाइन "एक नये पथ का अवतरण" कहते हैं जिसमें हमारा शब्दिक अथवा दृश्यात्मक प्रत्यक्ष तो वही रहता है किंतु हम उसमें एक नवीन पक्ष, एक नया अर्थ, एक नया संगठन देखने लग जाते हैं ।

वस्तुतः विट्गेस्टाइन के अनुसार शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में हमारी जो समस्या है उसका स्वरूप "क्यों" नहीं है, बल्कि "कैस" है । यह प्रश्न कि "इस शब्द का अर्थ यह क्यों है" इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना महत्त्वपूर्ण यह प्रश्न है कि "हम कैसे अमुक शब्द का अमुक अर्थ ग्रहण करते हैं ?" और विट्गेन्स्टाइन के मत में इस प्रश्न का उत्तर है - "क्योंकि हम उस शब्द को किसी निश्चित सन्दर्भ में सुनते और समझते हैं ।" यह सारा कार्य सम्प्रत्यात्मक स्तर पर सम्पन्न होता है न कि तथ्यात्मक स्तर पर । यद्यपि तथ्यात्मक स्तर की अवहेलना नहीं की जा सकती किंतु दार्शनिक दृष्टि से शब्दों के अर्थ निर्धारण में सम्प्रत्यात्मक स्तर की अधिक भूमिका है ।

उपरोक्त विवेचन के अन्तर्गत अर्थ के सम्बन्ध में, विट्गेन्स्टाइन के विचारों के क्रमिक परिवर्तन को देखा जा सकता है । वस्तुतः इसे, विचारों का परिवर्तन कहने के स्थान पर विचारों का क्रमिक विकास कहना अधिक उपयुक्त होगा । उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन जब यह कहते हैं कि किसी शब्द के अर्थ को जानने का तात्पर्य है उस शब्द का भाषा में विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न प्रयोग करने में सक्षम होना (किंतु यह काम भी हम तभी कर सकते हैं जब हम उस शब्द के आरम्भिक अर्थ को जानते हों) तब विट्गेन्स्टाइन के इन विचारों से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने शब्द का "प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्त" अपने "चित्रण-सिद्धान्त" के ही क्रम में दिया था न कि "चित्रण सिद्धान्त" का खण्डन करके दिया था ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम "चित्रण सिद्धान्त" में "चित्र" शब्द को अधिक महत्त्व देने लगते है । "चित्रण सिद्धान्त" को यदि हम शब्दशः न लें तो वास्तव में कोई समस्या ही नहीं है । यह ठीक है कि जब तक कोई व्यक्ति "आँखों का तारा होना" अथवा "मैं तुम्हारे लिये तारे तोड़ कर ला सकता हूँ" आदि वाक्यों का भाषा में (सन्दर्भ के अनुसार) प्रयोग करना नहीं जानता है तब तक हम नहीं मान सकते कि उसे "तारा" शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात है किंतु इतना होने पर भी "तारा" शब्द के उस आरम्भिक अर्थ की अवहेलना नहीं की जा सकती । जो उस शब्द का एक मात्र सुनिश्चित अर्थ है ।

अतः कहा जा सकता है कि शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विट्गेन्स्टाइन ने अपने विचारों के विकास के क्रम में ही "चित्रण-सिद्धान्त" के बाद "प्रयोग सिद्धान्त" दिया है । "चित्रण सिद्धान्त" शब्द के प्रारम्भिक अर्थ पर बल देता है और "प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्त" शब्द के वास्तविक और समग्र अर्थ पर बल देता है ।

नन्दिनी सिंह

एम.फिल. छात्रा
दर्शनशास्त्र-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

टिप्पणियाँ

१. विश्लेषणात्मक दर्शन के अग्रणी दार्शनिकों में लुडविग विट्गेन्स्टाइन का नाम विशेष रूप से लिया जाता है । इनकी प्रमुख दार्शनिक कृतियों में से दो सर्वाधिक विशिष्ट रचनाएँ हैं - (i) ट्रेक्टेटस-लॉजिको -फिलसॉफिकस एवं (ii) फिलसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स
इन दोनों ही पुस्तकों के लिखे जाने के मध्य में १८ वर्षों का अन्तराल है । दोनों ही पुस्तकों में शब्दों के अर्थ का विश्लेषण किया गया है किंतु इसके सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचार पर्याप्त भिन्न हैं । अत एव पहली पुस्तक में जो विचार व्यक्त हुए हैं उन्हें पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन के विचार और दूसरी पुस्तक में जो विचार व्यक्त हुये हैं उन्हें उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन के विचार कहा जाता है ।

२. "Ceaser is a prime number' ऐसा ही एक उदाहरण है जिसमें तार्किक नियम का उल्लंघन हुआ है ।

३. शब्दों के अर्थ को उसके संदर्भ से जोड़कर समझने का प्रयास किसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रसंग-विशेष में हमारे ज्ञान को न केवल आधिक उपयुक्त बना देता है बल्कि उसे अधिक सार्थक और व्यापक भी बना देता है । इसके अभाव में विचार एकान्तिक हो जाते हैं । उनमें एकान्तवाद (Fallacy of exclusive particularity) का दोष उत्पन्न हो जाता है । अमेरिका के नव्य वस्तुवादियों (Neo-realistic) ने इस दोष से मुक्त होने की, स्याद्वाद-सिद्धान्त के रूप में जैसी युक्ति भारतीय दर्शन के जैन दार्शनिकों ने निकाली है वैसी किसी भी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने नहीं दी है ।

४. "If God had looked into our minds he would not have been able to see there whom we were speaking of." विट्गेन्स्टाइन, लुडविंग, फिलॉसाफिकल इन्वेस्टीगेशन्स (PI, II, XI, p. 217).

5. "We might think it strange". "He doesn't play our game at all", one would like to say. Or even : "This is a different type of man." वही, (PI, II, VI, p. 182).

६. कवि जयशंकर प्रसाद की पंक्तियाँ इसी का सुन्दर उदाहरण है -
"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आयी ।" -आँसू ।

७. पठनीय : विट्गेन्स्टाइन लुडविंग, फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स, अंग्रेजी अनुवाद, एन्सकोम्ब, जी. ई. एम. ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, यू. के. १९९५ (अंग्रेजी पुनर्मुदा)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तर्कशास्त्र की आधारहीनता (फाउन्डेशनलेसनेस) पर विट्गेन्स्टाइन के विचार

विट्गेन्स्टाइन ने विश्लेषणात्मक दर्शन को एक नई दिशा और दशा प्रदान की । 'बीसवीं सदी के प्लेटो' जैसे विशेषणों से अत्यधिक प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने और सम्पूर्ण विश्व में जितके दर्शन पर लगभग आधी सदी तक शोध के बावजूद उनके तर्कशास्त्र सम्बन्धी विचारों पर उत्तर-विट्गेन्स्टाइनियनों में एकमत की कमी रही है । कतिपय दार्शनिक उन्हें व्यवहारवादी, बाह्य प्रत्यक्षवादी या जडवादी मानते हैं तो अन्य दार्शनिक उन्हें मनवादी (मेन्टलिस्ट) की संज्ञा देते हैं । विट्गेन्स्टाइनियनों में क्रिप्के और मैगिन का विवाद सर्वविदित है । इस विवाद से उपर उठकर यदा-कदा यह देखने का भी प्रयास होता रहा है कि विट्गेन्स्टाइन वास्तव में तर्कशास्त्र और गणित की आधारहीनता (फाउन्डेशनलेस-नेस) की तरफ संकेत करते हैं । प्रस्तुत शोधपत्र इसी दिशा में एक प्रयास है । यह विट्गेन्स्टाइन के तर्कशास्त्र और गणित की आधारहीनता के विचारों की व्याख्या और विश्लेषण करता है ।

तर्कशास्त्र को मूलतः निगमनात्मक और आगमनात्मक अनुमानों के रूप में देखा जाता है । ये अनुमान कुछ पूर्व-स्थापित नियमों पर आधारित होते हैं। ये नियम तर्कशास्त्र के आधार होते हैं । इनके बिना तर्कशास्त्र संभव नहीं । निगमनात्मक अनुमान से व्याघात, मध्य-परिहार तथा तादात्म्य के नियमों तथा आगमनात्मक अनुमान से मिल की विधियों का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में होता ही है । विट्गेन्स्टाइन ने नियमों की पूर्व-स्थापित व्याख्या को स्वीकार नहीं किया । विट्गेन्स्टाइन के अनुसार प्रत्येक कथन या प्रतिज्ञप्ति किसी सन्दर्भ या भाषा खेल में ही सत्य या असत्य होते हैं । कथनों का सत्य या असत्य होना किसी पूर्व-स्थापित नियम (जैसे निगमन के उपर्युक्त नियम) के कारण नहीं होता । दूसरे शब्दों में प्रत्येक कथन का अर्थ और उनका सत्य या असत्य होना मूलतः एक स्वतन्त्र क्रिया या घटना है । उदाहरण के लिए किसी तार्किक या गणितीय कथन २+२=४ का सत्य होना किसी तर्कशास्त्रीय नियम या अनिवार्यता के कारण नहीं होता है बल्कि इसलिए होता है क्योंकि हम ऐसा मानते हैं । 'सत्य' और 'असत्य' शब्दों को हम जिन अर्थों में प्रयोग करते हैं उन्हीं अर्थों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और सन्दर्भों में ही वे सत्य या असत्य होते हैं । ये सन्दर्भ भाषा-खेल के द्वारा निर्धारित होते हैं और तर्कशास्त्रीय नियमों से पूरी तरह स्वतन्त्र होते हैं ।

विट्गेन्स्टाइन का मन्तव्य यह स्थापित करना है कि सार्वभौमिक और सार्वजनीन नियम जैसी कोई सत्ता नहीं है । ऐसा कोई नियम नहीं जिसे सभी सन्दर्भों में समान रूप से लागू किया जा सके । इसका तात्पर्य यह नहीं कि नियम होते ही नहीं । अपितु इसका अभिप्राय यह है कि नियमों को परिभाषित नहीं किया जा सकता । नियमों को परिभाषित करना उसी रूप में असंगत है जैसे कि यह कहना कि मानक मीटर की लम्बाई एक मीटर होती है । इसी कारण विट्गेन्स्टाइन मानते हैं कि 'नियम को जानना', 'नियम को समझना', 'नियम का अर्थ', 'नियम के अनुरूप व्यवहार' जैसे सम्प्रत्यय भ्रांतिपूर्ण होते हैं । ये सम्प्रत्यय भ्रांतिपूर्ण इसलिए होते हैं क्योंकि ये किसी स्थिती के बार-बार प्रयोग में आने को सार्वभौमिक नियम समझ लेते हैं । 'सार्वभौमिक नियम' जैसी कोई सत्ता नहीं होती, केवल सार्वभौमिक नियमों के प्रयोग (Uses) होते हैं । विट्गेन्स्टाइन ने *फिलॉसोफिकल इन्व्हेस्टीगेशंस* में यह स्थापित किया है कि इन प्रयोगों से परे 'नियम', 'अर्थ', 'ज्ञान' या 'अभिप्राय' जैसे सम्प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं होता है । हम इन प्रयोगों के इतने आदी हो चुके होते हैं कि इन्हें इनके प्रयोग से भिन्न सार्वभौमिक रूप में निरपेक्षतः देखने लगते हैं । हम अपनी इस दृष्टि पर तब तक कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाते जब तक कि हमसे कोई यह प्रश्न नहीं करता कि प्रयोगों से भिन्न निरपेक्षतः इनका अर्थ क्या है ? वस्तुतः प्रयोगों से भिन्न इन सम्प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं होता। इनके प्रयोग ही इन्हें अर्थ प्रदान करते हैं ।

किसी सम्प्रत्यय के अर्थ को समझने के लिए उस सम्प्रत्यय के प्रयोग को महत्त्वपूर्ण मानने के कारण व्यवहारवादी यह मानते हैं कि विट्गेन्स्टाइन वस्तुतः व्यवहारवादी थे और उन्होंने किसी सम्प्रत्यय के अर्थ के निर्धारण के लिए व्यवहार को मापदण्ड (क्रायटेरिया) माना । उदाहरण के लिए विट्गेन्स्टाइन द्वारा दिए गये इस दृष्टान्त को लीजिए : प्रत्येक बार 'दो जोडो' या '$a_n = a_{n-1} + 2$'. किसी भी व्यक्ति को लगातार दो जोडने में सफल होता हुआ देखकर यह कहा जाता है कि इसमें नियम का पालन हुआ है और उसे असफल होता हुआ देखकर यह कहा जाता है कि नियम का पालन नहीं हुआ है । समीकरण या प्रतीक को ही नियम के पालन होने या न होने का मापदण्ड माना जाता है । इस प्रकार प्रतीक को नियम माना जाता है । प्रश्न उठता है कि यदि प्रतीक नियम हैं तो एक ही नियम को भिन्न-भिन्न प्रतीकों में कैसे व्यक्त किया जा सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि नियम वस्तुतः प्रतीक नहीं होते बल्कि प्रतीकों के अर्थ होते हैं । प्रत्येक सफल प्रतीक, नियम के अर्थ को समाहित किए होता है ।

परन्तु, प्रश्न उठता है कि प्रतीक के अर्थ का क्या तात्पर्य है ? प्रतीक का अर्थ प्रतीकीकरण (Symbolization) की क्रिया या व्यवहार में निहित होता है या प्रतीकीकरण करने वाले कर्ता के मस्तिष्क में होता है ? प्रश्न उठता है कि यदि प्रतीकीकरण एक व्यक्तिनिष्ठ प्रक्रिया है तो ऐसी स्थिति में प्रतीक का अर्थ, कर्ता के व्यवहार पर आधारित होता है या संवेदना पर ? व्यवहारवादियों की मान्यता है कि प्रतीक का अर्थ, विट्गेन्स्टाइन के अनुसार, व्यवहार पर निर्भर करता है जबकि मनवादियों के अनुसार प्रतीक का अर्थ कर्ता के मन या संवेदना पर निर्भर करता है ।

एक व्यवहारवादी उदाहरण लेते हैं । किसी बच्चे को लगातार 'दो जोडना' सिखाते हैं । दो-चार बार बच्चा गलती करता है तो उसे समझाते हैं । फिर एक ऐसी स्थिति आती है जबकि बच्चा 'दो जोडना' सीख लेता है । इस प्रकार एक स्थिति के बाद बच्चे का व्यवहार यह निर्धारित कर देता है कि बच्चा वास्तव में सीख गया है । दूसरे शब्दों में व्यवहारवादियों के अनुसार बच्चे का व्यवहार ही उसका ज्ञान है । परन्तु व्यवहारवादियों की इस व्याख्या को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि बच्चे के व्यवहार की वह सीमा क्या है जिसके बाद यह माना जाएगा कि वह सीख गया है । अर्थात् बच्चे के व्यवहार के कितने उदाहरण यह साबित करेंगे कि वहा 'दो जोडना' सीख गया है ? मान लीजिए बच्चा १०० तक सही जोडता है परन्तु १०० के बाद १०४, १०८, ११२ करने लगता है । तब ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जाएगा कि बच्चा पहले 'दो जोडना' जानता था परन्तु अब भूल गया है । वस्तुतः ऐसा कहना इस तथ्य को अनदेखा करना है कि बच्चे के व्यवहार को देखकर हमारा यह निर्णय कि वह सीख गया है, त्रुटिपूर्ण था । हम अपने निर्णय को त्रुटिपूर्ण न मानकर यह आसानी से कह देते हैं कि बच्चा भूल गया । जबकि हमारा ऐसा कहना असंगत है । इसका तात्पर्य यह है कि व्यवहार प्रतीक का अर्थ नहीं होता है ।

मनवादी व्यवहार को नहीं बल्कि मानव मस्तिष्क में स्थित संवेदना (feeling या image) को प्रतीक के अर्थ के रूप में लेते हैं । इनके अनुसार मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है । जब कोई कथन सत्य या असत्य होता है तब उसी के अनुरूप मानव मस्तिष्क में प्रक्रिया उत्पन्न होती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। उपरोक्त उदाहरण में जब तक बच्चा सही जोडता है तब तक उसे पता होता है और जब वह गलत जोडता है तब भी उसे पता होता है । परन्तु मनवादियों की ऐसी मान्यता तर्कसंगत नहीं है क्योंकि ऐसा हो सकता है कि गलत संवेदना के बावजूद कोई व्यक्ति किसी नियम का सही पालन करता जाए (उसे ऐसा महसूस हो कि वह नियम का पालन नहीं कर रहा है जबकि वास्तव में वह पालन कर रहा होता है) । इसी प्रकार ऐसा भी हो सकता है कि कोई मनुष्य सही संवेदना के बावजूद नियम का पालन न कर रहा हो (उसे ऐसा लग रहा हो कि वह नियम का पालन कर रहा है परन्तु वास्तव में वह पालन नहीं कर रहा है)। इसी कारण विट्गेन्स्टाइन ने यह स्वीकार किया कि यह सोचना कि मैं नियम का पालन कर रहा हूँ, वास्तव में नियम का पालन करना नहीं होता है ।[१] क्योंकि नियम का पालन मानसिक क्रिया या व्यक्तिनिष्ठ धारणा नहीं है । इस प्रकार वास्तव में विट्गेन्स्टाइन ने व्यवहार और संवेदना दोनों को ही प्रतीक के अर्थ का मापदण्ड नहीं माना । उनके अनुसार न तो व्यवहार और न ही संवेदना किसी प्रतीक या नियम का अर्थ हो सकता है ।

पुनश्च, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विट्गेन्स्टाइन ने अर्थनिर्धारण और संवेदना दोनों की ही भूमिका को पूरी तरह से नकार दिया । उनका अभिप्राय केवल इतना है कि अर्थ को न तो व्यवहार और न ही संवेदना में बाँधा जा सकता है । अर्थ कोई बाह्य वस्तु नहीं बल्कि इन दोनों में भी पाई जाती है । परन्तु इसे इन दोनों तक सीमित नहीं किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में प्रयोग से परे न तो व्यवहार और न ही संवेदना के द्वारा अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है । अर्थ का प्रयोग व्यवहार और संवेदना दोनों को अपने में समाहित किए होता है ।

कोवन ने इसे एक सटीक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है । इस दृष्टान्त में कोवन ने एक कहावत का आश्रय लिया है ।[२] किसी भी समस्या के बारे में प्रायः ऐसा कहा जाता है कि पुल को उस समय पार करेंगे जब नदी आएगी । नदी आने के पहले उसे पार करने के पुल का निर्माण वास्तव में हवाई-पुल बनाना होता है । इसी प्रकार अर्थ का निर्धारण प्रयोग के सन्दर्भ से परे होकर नहीं किया जा सकता । ऐसा करना त्रुटिपूर्ण और भ्रामक होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में नियम का पालन नहीं होता है । विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, '' 'इस नियम का पालन करने पर परिवर्तन स्वरूप मनुष्य इस परिणाम को प्राप्त करेगा', ऐसी भविष्यवाणी नहीं चलती - बल्कि वह ऐसा परिणाम तब प्राप्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता है जब हम कहते हैं कि नियम का पालन कर रहा है ।"[3] इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन ने अर्थ के निर्धारण के लिए नियमपालन के मापदण्डस्वरूप न तो व्यवहार और न ही संवेदना को आधार बनाया । तर्कशास्त्र में वर्णित नियम वस्तुतः आधशरहीन होते हैं । जिन प्रतीकों के द्वारा इन्हें व्यक्त किया जाता है वे न तो व्यवहार और न ही संवेदना द्वारा स्थापित किए जा सकते हैं । तर्कशास्त्रीय नियमों को हम नियम इसलिए मानते हैं क्योंकि हम इनका इसी रूप में प्रयोग करते रहे हैं । प्रश्न उठता है कि बिना किसी आधार के तर्कशास्त्र के नियम किस प्रकार प्रयोग में आते हैं या किस प्रकार अब तक टिके हुए हैं ? दृष्टान्त स्वरूप 'सूचना' का उदाहरण लिया जा सकता है । मान लीजिए हम किसी ऐसे द्वीप में स्थित हैं जहाँ से बाहरी जगत् का सम्बन्ध केवल मोबाइल फोन के जरिए होता है । इस प्रकार केवल मोबाइल ही हमारे और बाहरी जगत् के बीच सूचना का आधार है । प्रश्न उठता है कि मोबाइल फोन किस प्रकार कार्य करता है ? उत्तर में मोबाइल के कार्य करने के ढंग की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है (जैसा कि व्यवहारवादी और मनवादी नियम के पालन के अर्थ निर्धारण की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करते हैं) परन्तु ऐसा हो सकता है कि वैज्ञानिक व्याख्या अधूरी हो क्योंकि यह तो सर्वमान्य है कि किसी बिन्दु पर आकारविज्ञान व्याख्याहीन हो जाता है । ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मोबाइल फोन के कार्य करने से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता है परन्तु यह कहा जा सकता है कि वह इसी प्रकार कार्य करता रहता है । यहाँ यद्यपि मोबाइल फोन के कार्य करने के आधार की व्याख्या नहीं दी जा रही है फिर भी यह आधारहीनता उसके कार्य में बाधक नहीं । इसी प्रकार नियम के पालन के अर्थ की व्याख्या की आधारहीनता अर्थ को प्रभावित नहीं करती । प्रश्नकर्ता यह कह सकता है कि 'किसी भी समय बाहरी जगत् से हमारा मोबाइल फोन का सम्बन्ध टूट सकता है क्योंकि ऐसा सम्बन्ध आधारहीन है ।' परन्तु हम, द्वीप के निवासी, आधारहीनता पर ध्यान नहीं देते क्योंकि शायद इसी के द्वारा हमारा जीवन निर्देशित होता है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विट्गेन्स्टाइन ने निगमनात्मक तर्कशास्त्र पर कुछ उसी प्रकार प्रहार किया जैसा कि डेविड ह्यूम ने आगमनात्मक तर्कशास्त्र पर किया था । डेविड ह्यूम ने यह स्थापित किया था कि आगमनात्मक अनुमान जो कि कारणता के सिद्धान्त पर आधारित होता है वास्तव में आधारहीन होता है क्योंकि कारणता अर्थात् कारण और कार्य के बीच का सम्बन्ध अनिवार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं होता बल्कि हमारी आदत पर निर्भर करता है । कार्य और कारण की घटनाओं को लगातार एक साथ अनुभव करते रहने से आदतन हम एक के बाद दूसरी घटना के घटित होने की आशा करते हैं । डेविड ह्यूम की तरह ही विट्गेन्स्टाइन ने यह स्थापित किया कि हमारे तर्कशास्त्रीय नियम वास्तव में आधारहीन होते हैं । निष्कर्षस्वरूप जोसेफ कोवन की इस स्वीकारोक्ति को उद्धृत किया जा सकता है कि ऐसा नहीं है कि हम सदैव आधार की खोज में रहते हैं । परन्तु हम जब यह सोचते हैं कि हमारे पास ऐसा एक आधार होना चाहिए तब हम ऐसे आधार की खोज करते हैं । किसी ऐसे कल्पित आधार की आधारहीनता पता चलने पर हम दूसरे आधार की खोज करने लगते हैं । परन्तु हमें हमारी इस प्रवृत्ति को हमारे निर्णय को प्रभावित नहीं करने देना चाहिए चाहे हमें कोई आधार मिले या नहीं, क्योंकि आदतन हम ऐसे निर्णय बिना किसी आधार के लेते रहते हैं ।

स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है कि क्या विट्गेन्स्टाइन ने तर्कशास्त्र की आधारहीनता सिद्ध करके तर्कशास्त्र का निराकरण कर दिया ? क्या तर्कास्त्र की कोई संभावना नहीं ? जिस सत्ता का कोई आधार ही न हो उसका अस्तित्व कैसे संभव है ? परन्तु ऐसा नहीं है । विट्गेन्स्टाइन वस्तुतः एक विशिष्ट प्रकार के तर्कशास्त्र के सम्प्रत्यय की व्याख्या करते हैं । यह एक ऐसा तर्कशास्त्र है जिसे स्वयं को खडा करने के लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं । यह आधारहीन तर्कशास्त्र है । यह ऐसा तर्कशास्त्र है जिसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी पूर्वस्थापित नियम की आवश्यकता नहीं होती । इसीलिए वे ट्रैक्टेटस में कहते हैं, 'तर्कशास्त्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी चाहिए ।'[४] इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन पारम्परिक तर्कशास्त्र की इस मान्यता को नकार देते हैं कि तर्कशास्त्र के नियमों को प्रतीकों के अर्थ की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है और इस प्रकार उन्होंने एक नवीन तर्कशास्त्र के सम्प्रत्यय की नींव डाली ।

इस नवीन तर्कशास्त्र में विट्गेन्स्टाइन ने जी.ई. मूर के पैराडॉक्स 'बारिश हो रही है परन्तु मैं विश्वास नहीं करता' के साथ-साथ व्याघात के नियम (p.~p) को भी तर्कशास्त्र के अन्तर्गत शामिल करना अस्वीकार कर दिया ।[५] ट्रैक्टेटस में उन्होंने तर्कशास्त्र को भाषा से सम्बद्ध माना । उनके अनुसार तर्कशास्त्र का सम्बन्ध प्रस्तुतीकरण के तरीकों से है । उनके अनुसार तर्कशास्त्र में भाषा-खेल के सभी नियम शामिल होते हैं । इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन ने विंचार के नियमों के स्थान पर नवीन तर्कशास्त्र में भाषा-खेल से सम्बन्धित नियमों (जो कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपरम्परागत अर्थ में ही नियम कहे जा सकते हैं) को महत्त्वपूर्ण माना । विट्गेन्स्टाइन का तर्कशास्त्र और गणित का सम्प्रत्यय वस्तुतः तर्कशास्त्र और गणित के लिए अप्रासंगिक है - जैसा कि कोवन मानते हैं ।[६] परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण से इस निष्कर्ष का निगमन अधिक सुसंगत प्रतीत होता है कि विट्गेन्स्टाइन का तर्कशास्त्र का संप्रत्यय एक विशिष्ट सम्प्रत्यय है । विट्गेन्स्टाइन स्वयं कभी भी 'तर्कशास्त्र' सम्प्रत्यय के प्रयोग से विरत नहीं हुए । हाँ, उनका तर्कशास्त्र आकारिक के स्थान पर अ-आकारिक कहा जा सकता है ।

व्याख्याता, दर्शन विभाग, काली चरण पाण्डेय
राजकीय महाविद्यालय,
धर्मशाला - १७६२१५ (हि. प्र.)

टिप्पणियाँ

*. इस लेख का आधार मैंने जोसेफ कोवन के लेख 'विट्गेन्स्टाइन फिलॉसोफी आव लॉजिक' को बनाया । इस लेख में कोवन ने विट्गन्स्टाइन द्वारा *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में दिए गए तर्कशास्त्र की आधारहीनता के तर्कों की माइकेल डमेट द्वारा की गई आलोचना का उत्तर देने का प्रयास किया है ।
Joseph L. Cowan, 'Wittgenstein's Philosphy of Logic', *Philosophical Review,* Vol. 70, July, 1961, pp. 362-75.

1. L. Wittgenstein, *Philosophical Investigations,* tr. by G.E.M. Anscombe, Basil Blackwell, Oxford, 1976, Par. 202.
2. Joseph L. Cowan, *Op. Cit.* p. 367.
3. L. Wittgenstein, *Remarks on the Foundations of Mathematics,* ed. by G.E.M. Anscombe et. all, tr. by G.E.M. Anscombe, Basil Blackwell, Oxford, 1956, Pt. II, Par. 66 Quoted in Ibid. p.367.
4. L. Wittgenstein, *Tractatus-Logio-Philosophicus,* tr. D.F. Pears and B.F. McGuiness, Routldge & Kegan Paul, London, 1961, Sec. 5.473
5. Cf. Hans-Johnn Glock, *A Wittgenstein Dictionary.* Blackwell, 1996, p. 202.
6. Joseph L. Cowan, *Op. Cit.* p. 374.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति

- ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

☆

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय दर्शन में काल की अवधारणा

संसार में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों की अवस्थाविशेष के बोध के लिये और अवस्थाओं के पूर्वापार सम्बन्ध के ज्ञान के लिये काल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । काल के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है । वहाँ कहा है कि परम पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, शिर से आकाश उत्पन्न हुआ, पैरों से पृथिवी उत्पन्न हुई तथा कान से दिशाएँ उत्पन्न हुईं । इस प्रकार समस्त लोकों की सृष्टि हुई, -

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन् ।। १०.९०.१३

देवताओं ने जब पुरुषरूप हविष् से यज्ञ किया, उस समय वसन्त उस यज्ञ का घी था, ग्रीष्म उस यज्ञ का इन्धन था और शरत् उस यज्ञ का हविष् था -

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ।।१०.९०.१४

यह सब जो हो गया तथा जो होगा, पुरुष ही है और वह अमरत्व का स्वामी है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।१०.९०.२

इस प्रकार ऋग्वेद में काल को पुरुष के रूप में स्वीकारा है और उस कालरूप पुरुष को समस्त सृष्टि का कर्ता बतलाया है ।

अथर्ववेद में काल परम देवता के रूप में स्थित है । इस वेद के अनुसार काल ही स्रष्टा है, काल ही भर्ता है तथा काल में सब कुछ प्रतिष्ठित है । काल से विश्व का विकास हुआ है -

काले भूतिमसृजत् काले तपति सूर्यः ।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ।।१९.५३.६
कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ।।१९.५४.१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न्यायदर्शन काल को समस्त कार्यों का हेतु मानता है - जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः[१], जबकि वैशेषिक दर्शन में पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि लिङ्गों के द्वारा काल की सत्ता का अनुमान होता है - कालः परापरव्यतिकर-यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । तेषां विषयेषु पूर्वप्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अन्य-निमित्ताभावाद्यदत्र निमित्त स कालः ।[२]

सांख्य दर्शन के अनुसार व्यवहार की सुविधा के लिये भूत, भविष्यत् इत्यादि क्रियाएँ काल की उपाधि के रूप में मानी जाती हैं, क्योंकि अभिन्न (अखण्ड) काल से व्यवहार सम्भव नहीं है, अतः उपाधि ही मुख्य है । काल नाम की किसी वस्तु की बाह्य सत्ता नहीं है और यदि उसके कल्पित रूप की आवश्यकता होगी, तो भी उसका स्वरूप बौद्धिक ही होगा । काल का लक्षण इस मत के अनुसार बुद्ध्यनुसंहारात्मक है अर्थात् बुद्धि के द्वारा चिर, क्षिप्र आदि क्रियाओं का जो संकलनात्मक काल्पनिक रूप है, वही काल है - कालश्च वैशेषिकाभिमते एको नानागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तपितुमर्हति । तस्मादयं यैरूपाधिकभेदैरनागतादिभेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाद्ययो येनागतादिव्यवहारहेतवः कृतमन्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्यः[३], अपि च, कलात्रिः पृथगर्थाभिः प्रविभक्तं स्वभावतः । केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते ।[४]

योगदर्शन के अनुसार एक परमाणु पूर्वदेश को छोडकर उत्तरदेश के साथ जब तक संयोग प्राप्त करता है, उस काल को क्षण कहते हैं । क्षण के निरन्तर प्रवाह को क्रम कहते हैं । क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नहीं है, क्योंकि क्षण अयुगपत् होते हैं, इसलिये बौद्धिक समाहार माना जाता है । वही बौद्धिक समाहार मुहूर्त, अहोरात्र आदि के रूप में जान पड़ता है । काल अयथार्थ है । वह बुद्धिनिर्मित है और भ्रान्तिवश यथार्थरूप में प्रतिभासित होता है । अर्थात् जितने क्षणसन्तान बुद्धि के द्वारा संकलनात्मक रूप से एक के रूप में गृहीत होते हैं तब तक एक काल होता है और इसी आधार पर मास, वर्ष आदि का विभाग होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे ब्रह्मादि देवता तथा अङ्गिरा आदि ऋषि सृष्टि तथा प्रलय से उत्पत्ति-नाश वाले होने से कालपरिच्छिन्न हैं, वैसे परमेश्वर नहीं, क्योंकि वह सदा विद्यमान रहने से काल-परिच्छेद से रहित है - पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरूः । यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ।[५]

अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्मतत्त्व क्रमरहित है, परन्तु अविद्यावश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रम रूप में उसका विवर्त होता है और विवर्त देश तथा काल में होता है । कोई भी वस्तु सर्वप्रथम किसी देश तथा काल में ही होती है । काल की वास्तविक सत्ता नहीं है । परब्रह्म में अध्यारोपित उसकी प्रातिभासिक सत्ता है । काल के आधार पर जो भेद-प्रभेद किये जाते हैं वे सभी अविद्याजन्य हैं । विद्या के आविर्भूत होने पर सभी प्रपञ्चों का विलय हो जाता है । काल का भी विलय हो जाता है और शेष रह जाता है निरुपाधिक परब्रह्म - ब्रह्मणः स्वप्रकाशसच्चिदानन्दरूपस्य स्वतन्त्रपदार्थत्वात्कालस्य चाविद्यात्मकत्वस्वीकारादिति दिक्[७], अपि च, शक्त्यांत्मदेवतापक्षैर्भिन्न कालस्य दर्शनम् । प्रथमं तदविद्यायां यद्विद्यायां न विद्यते ।[८]

आचार्य पाणिनि ने काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाने के कारण कालविशेष द्योतक अनद्यतन आदि शब्दों की परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, फलतः पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाता है - पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् ।[८]

शेषावतार महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के अनुसार तरु, तृण, लता आदि का कभी उपचय देखा जाता है और कभी अपचय । पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास से काल का अनुमान होता है । उपचय और अपचय कालकृत हैं । इसी काल का किसी क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर दिन और रात्रि आदि नाम पड़ते हैं । वह क्रिया भाष्यकार के अनुसार आदित्य-गति है ।[९] वस्तुतः क्रिया ही काल है । क्रिया से काल का बोध होता है, अतः क्रिया को ही काल मानना चाहिये - नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानकाला व्यज्यन्ते ।[१०]

आचार्य कैय्यट प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते हैं, जो अप्रसिद्ध परिमाणवाली दूसरी क्रिया की परिच्छेदिका है - कालो हि प्रसिद्धपरिमाणा क्रियाऽप्रसिद्धपरिमास्य क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका ।[११] क्रिया का प्रसिद्ध परिमाण सूर्यादिकर्तृक है; अर्थात् सूर्यादि सञ्चार ही लोक में दिन-रात के रूप में निश्चित परिमाण के द्वारा प्रसिद्ध है । जैसे 'दिवसमधीते' इस वाक्य में 'दिवस' शब्द से सूर्य की गतिक्रिया अभिप्रेत है जो उदय से लेकर अस्त-काल तक व्याप्त है । वह दिवस अध्ययन क्रिया का परिच्छेदक है, अतः उसे काल कहते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया बाह्य क्रियान्तर की परिच्छेदिका होती है । जैसे 'गोदोहमास्ते' इस वाक्य में गो-दोहन क्रियाविशेष है । उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह ज्ञात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाणवाली है । इसलिए वह देवदत्त के ठहरने की क्रिया की परिच्छेदिका है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फलतः वह गोदोहन रूप प्रसिद्ध परिमाणभूत क्रिया 'काल' कहलाती है ।

आचार्य भर्तृहरि के मत में काल 'शक्तिविशेष' है । स्वातन्त्र्य शक्ति को काल कहा जाता है । स्वातन्त्र्य शक्ति के आश्रय से जन्मादि षड् भावविकार विश्व के विकास में सहायक होते हैं -

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ।। वाक्यदीप १.३

कालशक्ति लोकयन्त्र का सूत्रधार है । काल विश्वात्मा है । भर्तृहरि के अनुसार सत्य पदार्थ परब्रह्म है । उसमें नानाशक्तियोग समाविष्ट है । उस शक्तियोग के द्वारा वह भावों (पदार्थों) की कला को बिखेरता है इसलिये उसे काल कहते हैं ।[१२]

भर्तृहरि की कालविषयक अवधारणाओं के सम्यक् बोध हेतु डॉ. के. एस. सुब्रह्मणम् अय्यर के कुछ निष्कर्षों को भी यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा, जिसमें उन्होंने काल को ब्रह्म (शब्द-तत्त्व) की महत्त्वपूर्ण शक्तियों में हे एक माना है । यह वह शक्ति है जो प्रपञ्च का आविर्भाव एक खास तरीके से करती है, क्योंकि विश्व का निबन्धन काल तथा देश के क्रम में व्यवस्थित अनन्त संख्यक विकारों से तथा उसके वाचक शब्दों से हुआ है । डॉ. अय्यर के मत में काल प्रत्येक वस्तु का सहकारी कारण है । इसकी तुलना उस सूत्रधार से की जा सकती है जो कठपुतली के नाच को अपनी स्वेच्छानुसार नचाया करता है ।

आचार्य नागेश के अनुसार काल एक नहीं है, क्योंकि काल को एक एवं अखण्ड शक्ति मानने पर कार्य-वैचित्र्य नियामकता सिद्ध नहीं हो सकती । अतः काल की सत्तानित्यता प्रवाहनित्यता के आधार पर उसका एकत्व समूह के आधार पर माना जाना चाहिये - वस्तुवस्तु एकत्वे तस्य कार्यवैचित्र्य-नियामकत्वानुपपत्तिरिति भाष्योक्तलक्षणानुपपत्त्या क्षणधारारूपः काल इति युक्तम् । क्षणानां चाशुविनाशित्वात्कथमहरादिविभाग इति चावतरणं युक्तं कैय्यटेऽपि । नित्यं प्रवाहनित्यतया एकः समूहरूपेण ।[१३]

सारमञ्जरीव्याख्याकार पण्डित आशुबोध विद्याभूषण ने काल को सर्व नियामक माना है - तत्रादौ सर्व नियामकलया कालमेव निरूपयति तत्रेति ।[१४] तात्पर्य यह है कि काल समस्त शक्तियों और परिवर्तनों का नियन्त्रक अथवा उन शक्तियों एवं परिवर्तनो तथा विभिन्न अवस्थाओं का कारण है ।

वेदविज्ञानवेत्ता पण्डित मोतीलाल शास्त्री की दृष्टि में त्रिभावापन्न यह काल ही लोक का कलनात्मक व्यवच्छेद करता है । अपने व्यवच्छेदात्मक इस कलन-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म से ही यह 'काल' कहलाया है । देवता, ऋषि, सिद्ध, किन्नर आदि सब इस काल के ही वशवर्ती हैं । यह काल साक्षात् भगवान् है, परमेश्वर है । सम्पूर्ण विश्व का उत्पादन, पालन एवं विलयन इसी काल पर निर्भर है । परस्पर पृथक् रहनेवाले पदार्थों के लिये काल समान है । यही सम्पूर्ण भूतों की सुषुप्ति है, यही जाग्रदवस्था है एवं यही स्वप्नावस्था है । काल में ही कालान्तर में सब विलीन हो जाते हैं ।[३५]

इस प्रकार उपरि निर्दिष्ट कालविषयक विभिन्न परिभाषाओं को देखने से निष्कर्ष यह निकलता है कि सांख्य, योग और वेदान्त दर्शन 'काल' की सत्ता को स्वीकार नहीं करते । ये काल का बौद्धिक अथवा प्रातिभासिक आस्तित्व मानते हैं । इन दर्शनों का मन्तव्य यह है कि प्रयोक्ता 'काल' का प्रयोग व्यवहार रूप में न करके उसकी उपाधियों का प्रयोग करता है और इन उपाधियों का नित्य और अखण्ड शक्ति तो माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि काल का भेद इत्यादि समस्त प्रपञ्च अज्ञानात्मक हैं; जबकि दूसरी ओर ऋग्वेद, अथर्ववेद इत्यादि ग्रन्थ तथा आचार्य पतञ्जली, भर्तृहरि प्रभृति आचार्य-वर्ग काल की सर्व नियामकता और सृष्टिकर्तृता को स्वीकार करते हैं । न्याय दर्शन के मत में काल सभी का हेतु है और वैशेषिक लिङ्ग के द्वारा उसका अनुमान मात्र करता है; जबकि आधुनिक वेदविज्ञानवेत्ता पण्डित मोतीलाल शास्त्री काल को परमेश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं ।

वस्तुतः काल एक, नित्य और विभु शक्ति है । वह समस्त जगत् का सूत्रधार और अखण्ड कर्ता है । काल के विभिन्न भेद जगद्व्यवहार के सौकर्य के लिये किये जाते हैं, यथार्थतः उसमें कोई भेद-प्रभेद नहीं है । इस प्रकार काल ब्रह्म (शब्द-तत्त्व) की सहायक शक्ति के रूप में वह महासत्ता है जो सभी पदार्थों पर नियन्त्रण रखते हुए अवसरानुकूल सभी भावों का विकास करती है ।

मनुस्मृति के अनुसार सृष्टिक्रम में ब्रह्म ने यज्ञादि करने के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से सनातन नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को दोहन करके प्रकट किया । इसके बाद काल तथा काल के विभाग दिन मासादि, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, समतल भूमि और विषम भूमि की रचना की -

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहाँस्तथा ।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ।। १.२४

मनुस्मृति में व्यापक रूप से काल के दो भेद माने है । सृष्टिकाल और प्रलयकाल । अचिन्त्य पराक्रम वाला सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू भगवान् इस समस्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जगत् को उत्पन्न करके इस सृष्टिकाल को प्रलयकार से नष्ट करता हुआ अपने ही रूप में अन्तर्धान हो जाता है । जब वह देव जागता है तब यह संसार जागता है और जब वह शान्तचित्त से सोता है तब सबका लय होता है -

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ।
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ।। १.५१-५२

मनुस्मृति में वेद के अनन्तर सृष्ट अखण्ड काल के व्यवहार की दृष्टि से निमेषादि अनेक भेदोपभेदों की चर्चा की गई है । वहाँ कहा है कि पलक गिरने के समय को निमेष कहते हैं । अठारह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र होता है -

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तुताः कलाः ।
त्रिंशकला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ।। १.६४

सूर्य मनुष्य और देवताओं के अहोरात्र (रात-दिन) का विभाग करता है। प्राणियों के सोने के लिये रात है और काम करने के लिये दिन है ।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ।। १.६५

मनुष्यों के मास के बराबर पितरों का एक रात-दिन (अहोरात्र) होता है। मास में दो पक्ष होते हैं शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष । मनुष्यों का कृष्णपक्ष पितरों के कर्म का दिन और शुक्लपक्ष पितरों के सोने के लिये रात होती है । मनुष्यों के एक वर्ष के तुल्य देवताओं का अहोरात्र होता है । उत्तरायण अर्थात् मकर से मिथुन तक सूर्य के रहते देवताओं का दिन होता है और दक्षिणायन अर्थात् कर्क से धनु तक सूर्य के रहते देवताओं की रात्रि होती है ।

चार हजार वर्षों का सतयुग होता है । युगारम्भ और युगान्त में क्रम से चार-चार सौ वर्ष की सन्ध्या और सन्ध्यांश होते हैं । अन्य तीन युगों का मान क्रमशः एक से दूसरे की वर्ष संख्या में एक-एक घटाने से होता है और उतने ही सौ वर्ष उनके सन्ध्या और सन्ध्यांश होते हैं । जैसे तीन हजार वर्ष का द्वापर और सौ वर्ष का सध्या संध्यांश और एक हजार वर्ष का कलियुग और एक वर्ष का सन्ध्या-सन्ध्यांश होता है । इस प्रकार इन सबको मिलाने सन्ध्या-सन्ध्यांश सहित बारह हजार वर्ष हुए । इसी को महायुग कहते हैं और यही देवताओं का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

युग है । देवताओं के एक हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन और एक हजार युगों की एक रात होती है ।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्याय ।
ब्राह्ममेकमहर्योयं तावतीं रात्रिमेव च ।। १.७२

एक हजार युगप्रमाण ब्रह्म के पवित्र दिन (दिव्य दिन) और पवित्र रात्रि (दिव्य रात्रि) के मान को जो जानता है वही वास्तव में दिन-रात को जानता है। वे सोये हुए ब्रह्माजी अपने अहोरात्र के अन्त में जागकर सदसद्रूप मन को सृष्टि-रचना में लगाते हैं ।

बारह हजार वर्षों का देवताओं का युग है । आठ लाख बावन हजार वर्षों का एक मन्वत्तर है । एक मन्वन्तर तक एक ही मनु के हाथ में सृष्टि सञ्चालन का भार रहता है । मन्वन्तर और उत्पत्ति-प्रलय संख्या अनन्त है । परम धाम में रहने वाला परमेष्ठी परमात्मा यह सब खेल की तरह बार बार करता रहता है -

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निव तत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ।। १.८०

गीता कहती है कि कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है । निःसन्देह समस्त पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए है इसलिये सत्त्वादि गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं -

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। भ. गी. ३.५

ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परन्तु परमात्मा को प्राप्त होकर उन लोकों तथा लोकान्तर्वर्ती प्राणियों का पुनर्जन्म नहीं होता है, क्योंकि परमात्मा कालातीत है और ये सभी लोक कालावधि से बद्ध होने के कारण अनित्य हैं । ब्रह्मा का जो एक दिन है वह हजार युग की अवधि वाला है और रात्रि भी हजार युग की अवधिवाली है । इस बात को जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं वै योगीजन काल तत्त्व अर्थात् काल के परिणाम को जानने वाले हैं -

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्भद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिः युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। भ. गी. ८.१७

इसलिये वे यह भी जानते हे कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में अव्यक्त अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में लीन हो जाते हैं । दिन के आरम्भकाल का नाम अहरागम है - अह्न आगमः अहरागमः ।[१६] तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा के प्रबोधकाल में प्रजापति की निद्रावस्था से समस्त स्थावर-जंगम रूप समस्त प्रजाएँ प्रकट होती हैं । जो प्रकट अर्थात् व्यक्त होती हैं उनका नाम व्यक्ति है ।[१७] ब्रह्मा के शयन करने के समय अव्यक्त प्रजापति की निद्रावस्था में समस्त प्राणी लीन हो जाते हैं ।

समस्त भूदसमुदाय उत्पन्न होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है । इस प्रकार ब्रह्मा के एक सौ वर्ष पूर्ण होने पर अपने लोक सहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है । उस अव्यक्त से भी अति परे तथा विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है वह सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता । वही परम गति है और वही परम धाम है -

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। भ. गी. ८.२१

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है और दिन का अभिमानी देवता है तथा शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता है उत्तरायण के छः महिनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मर कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है ओर रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मर कर गया हुआ सकाम कर्मयोगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर स्वर्ग में अपने शुभ कार्यों का फल भोग कर पुनः पृथिवि पर लौट आता है, क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण मार्ग से गया हुआ तो फिर लौटता नहीं और कृष्णमार्ग से गया हुआ पुनः लौट आता है -

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। भ. गी. ८.२६

इन दोनों मार्गों को तत्त्वतः जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है । इसलिये व्यक्ति को सभी कालों में समत्व बुद्धिरूप योग से युक्त होना चाहिये - तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो अवार्जुन । भ. गी. ८.२७

कल्प के अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में सब भूत अपरा या निकृष्ट प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और कल्प के आदि में अर्थात् उत्पत्ति काल में सभी भूत उत्पन्न हो जाते है ।[१८] परमात्मा अक्षयकाल है - अहमेवाक्षयः कालः (१०.३३)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वे लोकों का नाश करनेवाले प्रवृद्धकाल हैं - कालोऽस्मि लोकक्षयकृतापवृद्धः (११.३२)।

रामायण के अनुसार व्यक्ति अच्छे या बुरे कार्य काल की प्रेरणां से ही करता है । मारीच ने रावण से कहा था कि हे रावण ! उस बलवान राम के साथ तुम्हारा विरोध ठीक नहीं है । रावण को अनेक बार मना करने पर भी काल की प्रेरणा से रावण ने मारीच के वाक्यों को टाल दिया है और उसके साथ ही राम के आश्रम पर गया -

न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः । वा.रामा.बालकाण्ड १.५१

मायावी मारीच के द्वारा रावण ने दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर हटा दिया और स्वयं ने राम की पत्नी सीता का अपहरण कर लिया ।

विष्णुअवतार श्रीराम के व्यक्तित्व का चित्रण करते समय महर्षि वाल्मिकी ने कहा है कि श्रीराम किसी भी प्राणी के प्रति मन में अवहेलना का भाव नहीं रखते थे । वे काल के वश में होकर उसके पीछे-पीछे चलने वाले नहीं थे, काल ही उनके पीछे चलता था -

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः । वा. रामा. अयोध्याकाण्ड १.३१

इस प्रकार समस्त उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण राजकुमार श्रीराम समस्त प्रजाओं तथा तीनों लोकों के प्राणियों के लिये आदरणीय थे । वे अपनें क्षमासम्बन्धी गुणों के द्वारा पृथिवी की समानता रखते थे । बुद्धि में बृहस्पति और बल पराक्रम में शचीपति इन्द्र के तुल्य थे ।

रामायण में जीवन को अल्पकालिक बतलाया गया है । वहाँ लिखा है कि इस तुच्छ जीवन के लिये अधर्मपूर्वक पृथिवी के राज्य की प्राप्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिये तथा न ही धर्महीन राज्य के लिये महान् फलदायक धर्मपालन रूप से सुयश को पीछे ढकेलना चाहिये -

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणान्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ।।
वा. रामा. अयोध्याकाण्ड २२.६३

काल ही अच्छे-बुरे समस्त कार्यों का कारण हैं । काल की आज्ञा का उल्लंघन करना अत्यन्त कठिन है - विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः । (वा. रामा. अयोध्याकाण्ड २४.३३) इसलिये माता कौसल्या के लाख समझाने पर भी श्रीराम अपने वन में जाने के निश्चित विचार को कभी नहीं पलटा और अन्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कौसल्या को कहना ही पड़ा कि हे सामर्थ्यशाली राम ! अब तुमच निश्चिन्त होकर वन को जाओ, तुम्हारा सदा कल्याण हो । जब तुम वन से लौट आओगे उस समय मेरे समस्त सन्ताप दूर हो जायेंगे ।[१९]

संस्कृत वाङ्मय के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास शिवराजविजय में काल की महिमा यमक अलंकार के माध्यम से व्यक्त करते हुए पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने प्रथम निःश्वास में लिखा है कि सम्पूर्ण कलाओं के निर्माता तथा सभी के संहारक भगवान् महाकाल अत्यन्त विलक्षण हैं । वे ही कभी जलप्रवाह से पूर्ण समुद्रतल को मरूभूमि बना देते हैं । सहस्रों सिंहों, बाघों, भालुओं, गेंडो, श्रृगालों तथा खरगोशों से भरे हुए जंगल को नगर बना देते हैं तथा मन्दिरों, महलों, अट्टालिकाओं, चौराहों, प्रांगणो, उद्यानों, तालाबों तथा गोशालाओं से युक्त नगरों को जंगल बना देते हैं ।[२०]

सिद्धासन बाँधकर, साँस रोककर, कुण्डलिनी जगाकर, दशों इन्द्रियों को जीतकर, अनाहत नाद के तन्तु का अवलम्बन करके, आज्ञाचक्र को ध्यान का लक्ष्य करके, चन्द्रमण्डल का भेदन करके, तेजःपुञ्ज का तिरस्कार करके, संहस्रार चक्र के अन्दर प्रवेश करके परमात्मा को साक्षात्कार करके उसी में रमण करने वाले, मृत्यु को जीतनेवाले, आनन्दमात्र स्वरूपवाले तथा ध्यान में स्थित रहनेवाले महात्माओं के द्वारा काल का वेग नहीं जाना जाता है ।[२१] काल की गति का मुख्य मापकयन्त्र सूर्य है । ये ही दिन-रात के जनक हैं, ये ही वर्ष को बारह भागों में विभाजित करते हैं, छः ऋतुओं के ये ही कारण हैं, ये ही उत्तर और दक्षिण अयन (सूर्यमार्ग) को अङ्गीकार करते हैं । इन्होंने ही सत्युग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग का भेद सम्पादित किया है । इन्हीं के द्वारा कल्पभेद किया गया है । इन्हीं के आश्रय से ब्रह्मा की सबसे बड़ी और अन्तिम संख्या पूर्ण होती है । ये ही संसार का बार बार सृजन, भरणपोषण तथा संहार करते हैं ।

काल क्रिया से भिन्न है । वह क्रिया का परिच्छेदक है । क्रिया अनेक क्षण का समाहाररूप है । क्षण युगपत् नहीं होते, वे क्रम से होते हैं, अतः क्रिया सक्रमा होती है । क्रम काल का धर्म हैं । इसलिये सक्रमा क्रिया कालशक्ति से अनुगृहीत होती है । दो क्रियाओं का उदय और अन्त समान होते हुए भी एक विलम्ब से सम्पन्न होती देखी जाती है और दूसरी क्षिप्र सम्पन्न होती देखी जाती है । यह विलक्षण परिच्छेद बिना किसी उपाधिभूत सम्बन्धी के सम्भव नहीं है। क्रिया में आश्रयभेद से भेद होता है । क्रिया से विलक्षण परिच्छेद का जो निमित्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है वह काल है । जिस तरह से तुलादण्ड रजत, स्वर्ण आदि द्रव्य की गुरुता को पल आदि के रूप में परिच्छिन्न करता है उसी तरह काल भी स्वशक्ति की महिमा से क्रियासन्तान का चिर-अचिर रूप में परिच्छेद करता है । इस प्रकार काल क्रिया का परिच्छेदक सिद्ध होता है । वह क्रिया के भेद के लिये होता है - क्रियाभेदाय कालस्तु ।[२३] सूर्य आदि ग्रहों की सञ्चारक्रिया काल से नापी जाती है । उस माप को मास, संवत्सर आदि के द्वारा व्यक्त करते हैं ।[२४]

सभी पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखा जाता है । पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति इत्यादि का अलग अलग रूप काल के आधार पर ही सम्भव है । पदार्थ किसी न किसी काल में उत्पन्न होते हैं, किसी न किसी काल में स्थित होते हैं और किसी न किसी काल में विनिष्ट होते हैं । इसलिये जन्मादि अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है । फलतः वह जन्मादि क्रिया का परिच्छेदक है । जिस प्रकार द्रव्य न तो शुक्ल है ओर न ही कृष्ण, फिर भी संसर्गी गुण के कारण शुक्ल और कृष्ण आदि के रूप में व्यक्त होता है उसी प्रकार काल भी भेदाभेद से निर्वाच्य है । उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल को उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल और विनाशकाल जैसे शब्दों से व्यवहृत करते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि काल एक उपाधि है, जबकि क्रिया क्षणसन्तान का समूह है । क्रिया का अल्पत्व-दीर्घत्व काल के आधार पर होता है, अतः काल और क्रिया दोनों पृथक्-पृथक वस्तुएँ हैं । वस्तुतः काल की महिमा से ही क्रिया भासित होती है । अतः काल व्यापक है और क्रिया व्याप्त है ।

डॉ. मंगलराम
सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर

टिप्पणियाँ

१. भट्टाचार्य, विश्वनाथ पञ्चानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड, पण्डित हरिराम शुक्ल द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२, कारिका ४५
२. आचार्य, प्रशस्तपादभाष्य (भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, १९७७, पृ. १५५-१५६
३. मिश्र, वाचस्पति, सांख्यतत्त्वकौमुदी, प्रथम संस्करण, बम्बई, १९४०,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पृ. ३७५-७६
४. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, के. वी. अभ्यङ्कर द्वारा सम्पादित, पूना, १९६५, ३.९.५७
५. व्यास, पातञ्जलयोगदर्शनभाष्य, प्रथम पाद, २६ वां सूत्र, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, १९७०, पृ. ६०-६१
६. यति, सदानन्द, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, प्रथममुद्गरप्रहार, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९८१, पृ. २३
७. वाक्यपदीय, ३.९.६२
८. जयादित्यवामन, अष्टाध्यायीकाशिकाटीका, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८५, २.४.२१
९. येन मूर्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः । तस्यैव कयाचित्क्रियया युक्तस्याहरिति च भवति रात्रिरिति च । कया क्रियया? आदित्यगत्या । तयैवासकृदावृत्तया मास इति भवति संवत्सर इति च भवति । पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्य, दिल्ली, १९६७, २.२.५
१०. वही, 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र, १.१.७०
११. कैय्यट, महाभाष्यप्रदीप, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९६७, १.१.७०
१२. जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिःप्रवृत्तित्रिः ।
स कलाः कलयन्सर्वाः कालाख्यं लभते विभुः ।। वाक्यदींप ३.९.१४
१३. भट्ट, नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्घोत, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पटना, १९६७, २.२.५
१४. विद्याभूषण, पण्डित आशुबोध, सारमञ्जरीपरिवर्द्धितव्याख्या, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९३५, पृ. १
१५. शास्त्री, मोतीलाल, दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा, तृतीय खण्ड, पारिभाषिक प्रकरण, राजस्थान वैदिक तत्त्वशोध संस्थान प्रकाशन, जयपुर, विक्रम संवत् २०१५, पृ. ३-४
१६. भ. गी. शाङ्करभाष्य, ८.१८
१७. व्यज्यन्त इति व्यक्तयः - वही, ८.१८
१८. कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् - वही, ८.७
१९. गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ।
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२०. व्यास, पण्डित अम्बिका दत्त शिवराजविजय, प्रथम निश्वास, साहित्य भण्डार प्रकाशन, तृतीय संस्करण, मेरठ, १९८३, पृ. ४२

२१. शिवराजविजय, प्रथम निश्वास, पृ. ३४-३५

२२. वही, पृ. २

२३. वाक्यपदीय ३.८.२

२४. सुवर्णादितून्मानं गुरुत्वविशेषेण द्रव्यं परिच्छिन्नति । सुवर्णं निष्कं पलमित्यादि । एभ्यो व्यतिरिक्तः कालोऽमूर्तक्रियापरिच्छेदहेतुः । सूर्यादिसञ्चारो हि कालेन मीयते मासः संवत्सर इत्यादि । संख्या तु मूर्तामूर्तस्य परिच्छेदमादधाति प्रमाणादेश्च ।
हेलाराज, वाक्यपदीयप्रकाशव्याख्या, वाराणसी, १९७९, ३.९.२, पृ. ४९५-९६.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंकों के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीमांसा-दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप

दर्शनार्थक लोकृ (लोक्) धातु से 'लोक्यते इति', जो दिखाई देता है, इस अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न लोक शब्द, व्यष्टि के अर्थ में जहाँ व्यक्ति का वाचक है, वहीं समष्टि के अर्थ में यह समाज, राष्ट्र, भुवन[१], आदि उत्तरोत्तर व्यापक एवं विस्तृत अर्थों की अभिव्यक्ति कराते हुए अन्त में सम्पूर्ण 'विश्व' का वाचक बनकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का अभिव्यञ्जक बनता है ।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ जहाँ लौकिक धरातल को अपना आधार बनाकर हुआ है, वहीं इस चिन्तन के सभी प्रस्थानों ने अपनी तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा के विवेचन में वेदार्थ निर्णय की प्रक्रिया द्वारा दार्शनिक स्वरूपता को प्राप्त करनेवाले मीमांसा दर्शन की तात्त्विक विवेचना की प्रक्रिया में अपने न्यायों तथा सिद्धान्तों के माध्यम से अपने लोकोपयोगी स्वरूप को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है ।

मीमांसा के कर्मसिद्धान्त का लोकोपयोगी स्वरूप -

मीमांसादर्शन धर्मात्मक कर्म का ही प्रतिपादन करता है । वेदविहित प्रयोजनवान् अर्थरूप कर्मात्मक यज्ञ[२] ही मीमांसा का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है । यह याग या यज्ञरूपी कर्मात्मक धर्म, लोक शब्द के व्यक्ति तथा समष्टि दोनों अर्थों में अपनी उपयोगिता को पूर्ण रूप से चरितार्थ करता है । वृष्टि, पशु, आदि लौकिक फल, ऐश्वर्यरूपी ऐहिकामुष्मिक फल तथा स्वर्गरूप विशुद्ध आयुष्मिक फलों का प्रापक होने से यज्ञात्मक धर्म जहाँ व्यक्ति का उपकारक है, वहीं इस यज्ञरूपी धर्म को समग्र लोक का भी परम उपकारक माना गया है । भगवद्गीता में समस्त प्रजाओं के साथ यज्ञ की उत्पत्ति निरूपित कर इसे कामनाओं की पूर्ति का साधन निरूपित किया गया है -

'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। भ.गी. ३.१०

यज्ञों में द्रव्ययज्ञ द्वारा सुवृष्टि का प्रतिपादन किया गया है । सुवृष्टि से अन्नोत्पत्ति तथा अन्न से ही समग्र जीवों की सृष्टि तथा पुष्टि निरूपित कर सम्पूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टिचक्र के आधार के रूप में यज्ञ को भगवद्गीता में प्रतिष्ठित किया गया है -

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। भ.गी. ३.१४

भगवद्गीता के मार्ग का अनुसरण करते हुए मीमांसादर्शन ने अपनी सम्पत्ति में से एक अंश के 'दान' के रूप में स्वीकृत 'यज्ञ' को समग्र विश्वात्मक लोक के कल्याण के लिए ही अपना प्रधान प्रतिपाद्य विषय निरूपित किया है । भर्तृमित्रादि* प्राचीन आचार्यों ने बिना किसी फलाकाङ्क्षा के, विश्मात्मक लोक के कल्याण के लिए जीवन में 'त्याग' के महत्त्व की प्रतिष्ठा को याग या यज्ञ का उद्देश्य निरूपित किया है । भगवद्गीता में मीमांसा शास्त्र की इस लोकोपकार-भावना को सात्त्विक याग के रूप में अभिव्यक्त किया गया है -

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनःसमाधाय स सात्त्विकः ।। भ.गी. १७.११

क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ-चिन्तन में नैतिक नियमों का लोकोपयोगी स्वरूप-

जीवनयापन के लिए आवश्यक द्रव्यार्जन के साधनों को भी धर्मशास्त्रों में नियमित कर दिया गया है । उदाहरणार्थ ब्राह्मण के लिए जीवनयापनार्थ आवश्यक द्रव्य की प्राप्ति के लिए अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह, ये तीन साधन निरूपित किए गए हैं -

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चै षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ।। मनुस्मृति १०.७५
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिगृहः ।। १०.७६

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि द्रव्यार्जन हेतु प्रतिपादित इन नियमों का सम्बन्ध यज्ञ में माना जाए या व्यक्ति में ? यदि द्रव्यार्जन के इन नियमों का समन्वय यज्ञ के साथ करते हैं तो ऐसी स्थिती में इन्हें क्रत्वर्थ कहा जाएगा । इन नियमों का क्रत्वर्थ मानने पर यह अर्थ निकलेगा की नीतिपूर्वक नियमों द्वारा अर्जित धन (द्रव्य) यज्ञ का साधन है, ऐसी स्थिती में यज्ञ को छोड़कर अन्य आवश्यकताओं कि पूर्ति हेतु अनैतिक साधनों से भी द्रव्यार्जन प्रतिबन्धित नहीं होगा । मीमांसाशास्त्र लौकिक जीवन के किसी भी स्तर पर अनैतिकता को

* भर्तृमित्र शबर के पश्चात् तथा कुमारिल के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं । इन्होंने नित्य, निषिद्धकर्मों का कोई फल नहीं हैं, यह विचार स्थापित किया है । द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक, प्रास्ताविकम्, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८७, पृ. १३ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वीकार नहीं करता इसलिए द्रव्यार्जन के नियमों को इसमें क्रत्वर्थ न मानकर पुरुषार्थ माना गया है । इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इन्हें पुरुषार्थ मानने पर जैसे द्रव्य से सांसारिक सुख सिद्ध होते हैं वैसे ही यज्ञ के माध्यम से पारलौकिक सुखों की निष्पत्ति में भी अनौचित्य नहीं होगा । इसके अतिरिक्त क्रतु भी एक पुरुषार्थ है अतः द्रव्यार्जन के नियम पुरुषार्थ होने से इनका क्रतु (यज्ञ) के साथ भी एक परम्परा सम्बन्ध निष्पन्न हो जाता है ।[३]

द्रव्यार्जन के इन नियमों द्वारा नैतिकता के साथ सामाजिक व्यवस्था का लोकोपयोगी स्वरूप भी उद्घाटित होता है । सभी वर्णों के द्रव्यार्जन के नियम अलग-अलग निर्धारित हैं । इन्हें पुरुषार्थ स्वीकार किए जाने से द्रव्यार्जन के क्षेत्र में ये एक सामाजिक व्यवस्था के भी प्रकाशक होने से, इनके माध्यम से भी मीमांसाशास्त्र के लोकोपयोगी स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है ।

मीमांसा-न्यायों का लोकोपयोगी स्वरूप -

मुख्य रूप से मीमांसाशास्त्र कर्म को वेदार्थ निरूपित करने के लिए प्रवृत्त हुआ है । वेदार्थ के रूप में कर्म की सिद्धि के लिए ही मीमांसाशास्त्र में अनेक न्यायों का अवलम्बन किया गया हैं । यद्यपि मीमांसा के न्याय वेदार्थ के रूप में 'कर्म' की स्थापना के लिए प्रवृत्त हुए हैं, तथापि अपने मुख्य प्रयोजन कि सिद्धि के साथ ही इन न्यायों की जहाँ लोकव्यवहारमूलकता अभिव्यक्त हुई है, वहीं इनका लोकोपयोगी स्वरूप भी प्रकाशित हुआ हैं । स्थालीपुलाकन्याय से मीमांसा के न्यायों की लोकोपयोगिता को निम्न रूप में समझा जा सकता हैं -

१. नष्टाश्वदग्धरथन्याय की लोकोपयोगिता -

यह न्याय दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग तथा इसके ही प्रकरण में 'समिधो यजति[४], बर्हिर्यजति[५] तनूनपातं यजति[६] इडो यजति[७] तथा स्वाहाकारं यजति'[८] ये पाँच याग निरूपित किए गए हैं । दर्शपूर्णमास याग में याग के अङ्ग कौन होंगे? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया हैं अतः दर्शपूर्ण याग को अपनी निष्पत्ति के लिए अङ्गाकाङ्क्षा है। इसी प्रकार इन पाँचों यागों को, जिन्हें प्रयाज कहा जाता है, फलाकाङ्क्षा है । इनमें फल श्रुत नहीं है । यह फल, स्वर्गरूप में, प्रधान दर्शपूर्णमास के साथ श्रुत है । इस प्रकार दर्शपूर्णमास को अङ्गाकाङ्क्षा तथा प्रयाजों को फलाकाङ्काक्षा होने से दोनों की उभयाकाङ्क्षा रूपी प्रकरण प्रमाण[९] से प्रयाजों की अङ्ग रूप से दर्शपूर्णमास याग के साथ एकवाक्यता हो जाने से दोनों की अङ्ग तथा फलाकाङ्क्षा पूर्ण हो जाती है । इस तथ्य को 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय[१०] कहा जाता है । दो रथों में से एक का अश्व नष्ट हो जाने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर तथा दूसरे रथ का रथभाग जल जाने पर, जिस रथ का अश्व नष्ट हो चुका है उसमें दग्धरथ का अश्व जोड़कर दोनों रथियों का गमनरूपी प्रयोजन सिद्ध करना नष्टाश्वभग्नरथन्याय कहलाता है । इस न्याय के प्रयोग से जहाँ शास्त्रीय समस्या का समाधान किया गया है वहीं इस न्याय के माध्यम से परस्पर सामञ्जस्य के द्वारा सभी के उत्कर्ष-सिद्धि की लोकोपयोगी भावना की अभिव्यक्ति की गई है ।

२. बलाबलधिकरण का लोकोपयोगी स्वरूप -

मीमांसादर्शन में प्रधान याग की निष्पत्ति में अनेक अङ्गों का उसके साथ समन्वय करने के लिए श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ये छह प्रमाण प्रतिपादित किए गए हैं । इनमें एक ही स्थल पल एक प्रधान के साथ अलग-अलग प्रमाणों से अलग-अलग प्रकार के विनियोग प्राप्त होने पर, जिन प्रमाणों का पहले उल्लेख हुआ है, उन्हें बाद में उल्लिखित प्रमाणों से प्रबल मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित विनियोग ही स्वीकार किया जाता है । उदाहरणार्थ 'श्रुति' प्रमाण का उल्लेख सब से पहले होने से इसे सबसे प्रबल प्रमाण तथा 'समाख्या' सबसे बाद में उल्लिखित होने से इसे सब से दुर्बल स्वीकार किया गया है । उदाहरणार्थ 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'[११] हे इन्द्र हविर्भाग देने वाले को तुम कभी मारने के लिए नहीं, अपितु उसकी रक्षा करने के लिए हो जाता हो । इस ऋचा में इन्द्र शब्द का उल्लेख होने से इसे ऐन्द्री ऋचा कहा जाता है । यहाँ पर ऋचा में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग होने से लिङ्ग प्रमाण से यह ऋचा इन्द्र के उपस्थान (स्तुति) में अङ्ग रूप से समन्वित हो ऐसा लिङ्ग प्रमाण का प्रतिपादन है परन्तु श्रुति, लिङ्ग से प्रबल होने के कारण ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते[१२] (ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य (अग्नि) की स्तुति करनी चाहिए) इस श्रुति प्रमाण से उक्त ऐन्द्री ऋचा गार्हपत्योपस्थान में विनिर्युक्त हो जाती है ।

लौकिक धरातल पर प्रमाणों का यह बलाबल नीचे के अधिकारियों की अपेक्षा ऊपर ऊपर के अधिकारियों के स्वाभाविक अधिकारबल की प्रबलता को अभिव्यक्त करता है, विवेचित बलाबलाकधिकरणन्याय से लौकिक धरातल पर यदि ऊपर ऊपर के अधिकारियों की प्रबलता का लोकोपयोगी पक्ष प्रकाशित हुआ है तो, शिष्टाकोपाधिकरण, छोटे अधिकारी का अपने से प्रबल अनेक अधिकारियों की अपेक्षा अधिक प्रबलता का पक्ष भी उद्घारित करता है ।

३. शिष्टाकोपाधिकरण का लोकोपयोगी स्वरूप -

मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का यह तृतीयाधिकरण है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें वेदं कृत्वा वेदिं करोति१३ (वेद(कुशाओं से ब्रश) बनाकर वेदी का निर्माण करे) इस वाक्य वेद-निर्माण के तत्काल बाद वेदिनिर्माण का विधान किया गया है । संयोग से यदि निर्माणकर्ता अध्वर्यु को छींक आ जाती है तो क्षुते आचमेत्[१४] (छीकनें पर आचमन करे) यह स्मृतिवाक्य आचमन का विधान करता है । शङ्का यहाँ पर उठाई गई है कि श्रुति तो वेदनिर्माण के तत्काल बाद वेदिनिर्माण का प्रतिपादन करती है । अतः यदि बीच में स्मार्त आचमन करते हैं तो श्रुति के साथ विरोध होगा । श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुतिरेव बलीयसी (श्रुति-स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही प्रबल है) अतः उसका पक्ष मानकर स्मृतिबोधित आचमन नहीं करना चाहिए यह पूर्व-पक्ष है । सिद्धान्त यह निर्णय देता है कि यद्यपि आचमन दुर्बल प्रमाण स्मृति से प्राप्त है तथापि वह प्रबल प्रमाण श्रुति के द्वारा प्रतिपादित प्रमेय क्रम से प्रबल है । आचमन यह एक क्रिया रूप पदार्थ है तथा क्रम यह पदार्थों में रहने वाला धर्म है अतः यह, पदार्थ = धर्मी, आचमन से दुर्बल है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में दुर्बल क्रम का आलम्बन करने से श्रुति के स्मृति से प्रबल होने पर भी, प्रबल आचमन का अवलम्बन करने वाली, दुर्बल स्मृति से प्रबल श्रुति बाधित हो जाती है ।[१५]

लोकव्यवहार में भी यह देखा जाता है कि किसी मातहत अधिकारी का सर्वोच्च अधिकारी के साथ समन्वय स्थापित होने पर दुर्बल होने पर भी प्रबलाश्रित होने के कारण उसके द्वारा लिए गए निर्णय उससे ऊपर के अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध होने पर भी स्वीकार कर लिए जाते हैं । कुमारिल भट्टं ने प्रस्तुत प्रसङ्ग की सङ्गति, लोकप्रसिद्धि के माध्यम से ही प्रदर्शित की है । इनका कहना है कि -

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः ।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः ।। तंत्रवार्तिक ३.३.७

(धन से, बल से, नगर-निवासी जन, कितने ही प्रबल क्यों न हो किन्तु (अत्यन्त प्रबल राजा के आश्रित होने से) दुर्बल राजपुरुषों द्वारा विरोध होने पर बाधित कर दिए जाते हैं ।) बलाबल के ये दोनों सिद्धान्त जहाँ लोकव्यवहार को देखकर निर्मित हैं वहीं लौकिक धरातल पर समीचीन व्यवहार के भी सहज प्रदर्शक हैं ।

४. विकल्पन्याय की लोकोपयोगिता -

कर्मानुष्ठान के लिए अभिमत मुख्य द्रव्य न प्राप्त होने पर यदि उसकी जगह विकल्प में किसी अमुख्य द्रव्य का उपादान किया गया हो, अनुष्ठान की प्रक्रिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में ही मुख्य द्रव्य प्राप्त हो जाए तो भी उसका ग्रहण न कर जिस अमुख्य द्रव्य से कर्मानुष्ठान प्रारम्भ हो चुका हो उसका ही अन्त तक अवलम्बन किया जाता हैं ।[१६] यह न्याय लोकव्यवहार में आज भी मान्य है । यदि किसी प्रतिष्ठान में किसी नियुक्ति में प्रथम क्रमाङ्क पर अनुमोदित व्यक्ति निर्धारित समय सीमा में पदभार ग्रहण नहीं करता तो, ऐसी स्थिति में द्वितीय क्रम प्राप्त को नियुक्ति प्रदान की जाती है । एक बार उसकी नियुक्ति हो जाने पर प्रथम स्थान पर अनुमोदित व्यक्ति बाद में उपस्थित हो भी जाए तो भी नियुक्त को हटाकर उसे नियुक्ति नहीं दी जाती है । इसे Law of prescription कहते हैं । इसी प्रकार मीमांसा के अर्थैकत्वन्याय[१७] के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि राजकीय अनुशासन में प्रचलित शब्दों या वाक्यों का वही अर्थ रखा जाए जो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हो ।

इस तरह अन्य अनेक न्यायों द्वारा भी मीमांसा दर्शन में लोकसङ्गति के साथ ही अपने न्यायों की लोकोपयोगिता भी प्रदर्शित की गई है ।

५. यागाधिकार न्याय में पारिवारिक तथा सामाजिक समरसता -

यागाधिकार-निर्णय में मीमांसा में स्त्रियों को पति के साथ यागाधिकार प्रदान करे[१८] जहाँ पारिवारिक समरसता का प्रकाशन किया गया है वहीं रौद्रयाग में रथकार जाति के शूद्र का अग्न्याधान तक यागाधिकार स्वीकार कर सामाजिक समरसता की भी अभिव्यक्ति की गई है । मीमांसा में काम्य कर्मों में पति एवं पत्नी दोनों में अलग-अलग किसी को भी यागाधिकार न देते हुए दोनों को संयुक्त रूप से 'दम्पती' के रूप में यागाधिकार देकर पारिवारिक समरसता के लौकिक पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है ।[१९] वेदों में शूद्र के यागाधिकार के प्रमाणरूपी वाक्य न होने से यद्यपि जैमिनी ने यागकर्म में इनका निषेध किया है तथापि प्राचीन मीमांसक बदरी ने उस समय भी, उनके अधिकार का समर्थन करते हुए अपनी[२०] सामाजिक समरसता की उदात्त भावना को भी अभिव्यक्ति प्रदान की हैं।

मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की लोकोपयोगिता -

मीमांसादर्शन के भाट्ट, प्राभाकर तथा मुरारिमिश्र इन तीनों प्रस्थानों में कर्मरूपी अर्थ के प्रतिपादक वैदिक शब्दों या वाक्यों से उत्पन्न कर्मकर्तव्यता या कर्मसङ्गति रूप 'ज्ञान' में किसी प्रकार के संशय के लिए अवसर न रहे, इसलिए वेदार्थज्ञान के साथ सभी ज्ञानों में उत्पत्तिगत तथा ज्ञप्तिगत, दोनों प्रकार का याथार्थ्य रूपी स्वतःप्रमाण्य स्वीकार किया गया है।

प्रमाणों द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के साथ उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा ही ज्ञान-प्रामाण्य के ग्रहणरूपी ज्ञप्तिविषयक स्वतःप्रामाण्य को मीमांसकों ने स्वीकार किया है । स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त में मूलभावना यह है कि प्रामाण्य, ज्ञान-मात्र का स्वाभाविक धर्म है । कुमारिल भट्ट का कहना है कि जिस ज्ञान में यह प्रामाण्य शक्ति स्वतः विद्यमान नहीं है वह दूसरे के द्वारा भी कैसे की जा सकती है -

स्वतः सर्वप्रमाणां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ।।[२१]

ज्ञान के इस उत्पत्तिगत तथा ज्ञप्तिगत प्रामाण्यवाद के दोनों स्थलों पर 'स्वतः-प्रामाण्य' स्वीकार करने का मीमांसा का अभिप्राय यह है की यथार्थरूप में स्वीकृत ज्ञान का अप्रामाण्य, जब तक अकाट्य, तथा प्रबल प्रमाणों द्वारा सुनिश्चित नहीं हो जाता तब तक ज्ञान का याथार्थ्यरूपी दोषाभावरूप प्रामाण्य स्वतः सिद्ध रहता है । मीमांसा के इस स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की लोकोपयोगिता का पक्ष हमारे राष्ट्र के विधिशास्त्र में पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है । भारतीय विधिशास्त्र में दोषरूपी अप्रामाण्य जब तक सिद्ध नहीं हो जाता तब तक दोषाभाव रूपी प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना जाता है। मीमांसा के प्रामाण्यों के स्वतस्त्व तथा अप्रामाण्य के परतस्त्ववाद के सिद्धान्त में यह लोकोपयोगी पक्ष भी पूर्णरूप से प्रकाशित हुआ है ।

भाषा-सिद्धान्त का लोकोपयोगी पक्ष -

वैदिक वाक्यों का विश्लेषण कर उसका कर्मपरक अर्थ सुनिश्चित करने की प्रक्रिया में मीमांसा ने भाषा के क्षेत्र में दो सिद्धान्त प्रदान किए हैं । इन्हें अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद कहा जाता है।

अभिहितान्वयवाद का सिद्धान्त मीमांसासूत्रों के शाबरभाष्य पर वार्तिकों की रचना करनेवाले आचार्य कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायियों का है । इनके अनुसार वाक्य में स्थित पदों (शब्दों) के अभिहित पदों का पहले अवबोध होता है । बाद में पदजन्य पदार्थविज्ञान का अवबोध हो जाने पर इन वाक्यस्थित पदों के परस्पर सम्बन्धरूपी अन्वयात्मक वाक्यार्थ का लक्षणावृत्ति से अवबोध हुआ करता है ।[२२] इस सिद्धान्त में शब्दों या पदों का अर्थ पहले अभिहित होने के पश्चात् उनका परस्पर सम्बन्ध रूपी वाक्यार्थ प्रतिपादित किया गया है । इसीलिए इसे अभिहितान्वयवाद कहा जाता है। कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद के सिद्धान्त पर प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन करते हैं । इनके अनुसार पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान, वाक्यार्थ-ज्ञान के साथ ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माना जाता है । यथा घटनामय आदि स्थलों में घटादि पद (शब्द) अपने में विद्यमान स्मारिका शक्ति से घटत्वादि जातियों का स्मरण कराते हुए अपनी अनुभाविका शक्ति द्वारा घटादि के आनयन क्रिया में अन्वय रूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[२३]

मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों द्वारा अभिमत अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद - सिद्धान्तों की उपयोगिता भाषा के शिक्षण में स्पष्ट रूप से समन्वित हो जाती है । अन्विताभिधानवाद यह भाषा-शिक्षण के साक्षात् प्रशिक्षण की विधा की अभिव्यक्ति है । एक छोटा बालक जब भाषा सीखता हैं तब क्रिया में अन्वित शब्दार्थों का ही ग्रहण करता है । पूरे वाक्य को सुनकर उसे एक समन्वित बोध ही हुआ करता है । यदि किसी विशेष भाषा को सीखने के इच्छुक व्यक्ति को उस भाषा का व्यवहार करनेवाले लोगों के बीच रख दिया जाए तथा उसे स्वयं अपने आप वह भाषा सीखनी हो तो वह व्यक्ति उन लोगों के भाषिक व्यवहार का अवलकोन करते हुए इसी साक्षात् भाषा-शिक्षण की प्रणाली से भाषा का ज्ञान प्राप्त करेगा ।

भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में दूसरी भाषा के वाक्य में विद्यमान शब्दों का प्रथम, शब्दकोशों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर, फिर उन तमाम शब्दों के समन्वित अर्थ को, जब कोई प्रौढ़ व्यक्ति, समझने का प्रयास करता है, तो भाषा-शिक्षणविधि अभिहितान्वयवाद की परिधि में आ जाती है । इस प्रकार मीमांसा-दर्शन के प्राभाकर तथा भाट्ट सम्प्रदाय द्वारा अभिमत वाक्यार्थावबोधन के सिद्धान्त जहाँ वैदिक वाक्यों के अर्थावबोध में अपनी चरितार्थता प्रकट करते हैं वहीं बालक तथा प्रौढ़ व्यक्ति के लिए भाषा के साक्षात् तथा परम्परया प्रशिक्षणविधि के प्रकाशक होने से अपनी लोकोपयोगिता के भी अभिव्यञ्जक हैं ।

मीमांसा के होलाकाधिकरण में राष्ट्रीय एकता की अभिव्यञ्जना -

मीमांसाशास्त्र के होलाकाधिकरण में राष्ट्र के विविध प्रान्तों में प्रचलित उत्सव, केवल उन्हीं प्रांतों तक रहने चाहिए या सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्हें मानना चाहिए? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर पूर्वपक्ष उन्हें क्षेत्र-विशेष तक सीमित करता है परन्तु मीमांसा का सिद्धान्त पक्ष, उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र में मनाये जाने का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है । इस सन्दर्भ में सिद्धान्तपक्ष का कहना है कि यदि इन प्रादेशिक उत्सवों को, (जैसे होली, यह उत्तरप्रदेश का उत्सव कहलाता है), पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण, के उत्सव मानकर उन उन प्रदेशों तक परिसिमित करनेके लिए इनके मानने की परम्परा का मूल भी वेद तथा स्मृतियों में खोजना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक होगा अतः इनकी कल्पनीय श्रुति तथा स्मृति में भी प्राच्य, दक्षिण इत्यादि पदों का निवेश करना पड़ेगा परन्तु ऐसा करने के लिए प्राच्य का क्या अर्थ है ? दक्षिण का क्या अर्थ है ? यह भी बतलाना होगा जो सम्भव नहीं है। यदि प्राच्य शब्द का प्राच्या भवः प्राचीनः पूर्व दिशा में होना अर्थ स्वीकार करते हैं, तो प्राचीन गतः प्राच्यः (प्राची = पूर्व दिशा में जो गया वह प्राच्य हैं) या प्राच्या आगतः प्राची से जो आया है वह प्राच्य है इत्यादि अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियों की प्रक्रिया विद्यमान रहने के कारण प्राची आदि दिशाओं का निर्वचन करना असम्भव होने से इन प्रादेशिक उत्सवों की व्याप्ति सम्पूर्ण राष्ट्रपर्यन्त मानी गई है। मीमांसा का यह होलाकाधिकरण सिद्धान्त[२४] अपने प्रासङ्गिक अर्थ के साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष की एकरूपता तथा अखण्डता के अवबोध में भी नितान्त उपयोगी है ।

आरुण्याधिकरण का लोकोपयोगी पक्ष -

मीमांसा दर्शन के ग्रन्थ मीमांसा न्याय प्रकाश में अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणति[२५] इस वाक्य द्वारा यद्यपि 'अरुणया' पद में विद्यमान तृतीया विभक्ति अरुणगत साधनत्व का बोधक होने से उसका क्रीणति पदवाच्य क्रय के अङ्गत्वरूप में विधान करती है परन्तु गुण में क्रय रूपी क्रियाव्यवहार में अङ्गत्व की साक्षात् योग्यता न होने से 'एकहायनी' गौरूप द्रव्य के माध्यम से उसका क्रय में पार्ष्ठिक समन्वय यहाँ माना गया है। मीमांसा-न्यायप्रकाश के हिन्दी व्याख्याकार, मीमांसा-सागर स्व. पण्डित पट्टभिरामशास्त्री लिखते हैं कि "प्रजा-तन्त्र का यह न्याय परिचायक है। समिती द्वारा की हुई कोई योजना संबद्ध मंत्री के पास साक्षात् प्रथम जाने पर भी तब तक कार्यान्वित नहीं हो सकती जब तक नीचे के लोगों द्वारा नहीं आती हो ।[२६]

प्रस्तुत पार्ष्ठिक न्याय, दैनन्दिन कार्यालयीन व्यवहार में प्रचलित है । यदि विश्वविद्यालय में किसी आचार्य, उपाचार्य या प्राध्यापक को कुलपति के पास अपना आवेदन देना है तो यह अपेक्षा की जाती है की इसे सीधे उनके पास न भेजें अपितु अपने से सम्बद्ध विभाग के अध्यक्ष द्वारा अग्रेषित कराने के शिष्टाचार का पालन करें । उचित माध्यम से अग्रेषण का लोकाचार मीमांसा के इस पार्ष्ठिक समन्वय के सिद्धांन्त द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस सिद्धान्त की भी लोकोपयोगिता स्वतः स्पष्ट है ।

परिसंख्याविधी का लोकोपयोगी स्वरूप -

मीमांसा दर्शन जिन वैदिक विधिवाक्यों के विश्लेषण से मुख्य रूप से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ-निर्णय के लिए प्रवृत्त हुआ है, उन विधिवाक्यों में एक प्रधान में अनेक अङ्ग या एक अङ्ग में एकाधिक प्रधानों की प्राप्ति होने पर, एक के समन्वय को छोड़कर, अन्यों के समन्वय की वर्जना-बुद्धि के विधायक वाक्य परिसंख्याविधि कहलाते हैं ।[२७] इस विधि का लोकोपयोगी स्वरूप व्यवहार में भी दृष्टिगोचर होता है । रेल तथा बस यानों में 'महिलाओं के लिए' लिखा रहता है । वहाँ उन स्थानों पर महिलाओं ने बैठना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं माना जाता । उन्हें अन्य स्थानों पर बैठने का विधिसम्मत अधिकार अभी तक प्राप्त है परन्तु जब कोई पुरुष उन स्थानों पर बैठने के लिए प्रवृत्त होता है, तभी ये वाक्य उसमें वर्जना बुद्धि उत्पन्न करा कर अपनी चरितार्थता प्रकट करते हैं । इसी प्रकार अन्य आरक्षण आदि वाक्य भी परिसंख्या विधि के लोकोपयोगी स्वरूप के परिचायक हैं ।

लोक तथा लौकिक शब्दों का लोकोपयोगी स्वरूप -

कर्म-निष्पत्ति तथा सङ्गति के लिए प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा न्यायों से जहाँ मीमांसदर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, वहाँ लोक तथा लौकिक शब्दों के साक्षात् प्रयोग द्वारा भी इस दर्शन की लोकोपयोगिता प्रकाशित हुई है । भाष्यकार शबरस्वामी 'लोक' शब्द से शाबरभाष्य का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं - "लोक येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् ।[२८] लोक (व्यवहार) में जिन अर्थों में शब्द (पद) प्रसिद्ध हैं, उन अर्थों में ही यथासम्भव उनका अर्थ जैमिनीसूत्रों में खोजा जाना चाहिए ।" प्रचलित राजकीय अर्थों के प्रकाशक विधानशास्त्रमर्मज्ञ मैक्सवेल ने भी 'रूल्स ऑफ कन्स्ट्रक्शन एण्ड इन्टरप्रिटेशन' में इसी नियम का प्रतिपादन किया हैं । वे लिखते हैं, "राजकीय अनुशासन के शब्दों और वाक्यों का अर्थ वैसा ही करना होगा जैसा कि लोकव्यवहार में जनसाधारण के द्वारा किया जा रहा हो ।[२९]

भाष्यकार शबरस्वामी के अनुरूप भाष्य पर वार्तिकों का निर्माण करने वाले, मीमांसादर्शन के आधारस्तम्भ के रूप में विख्यात कुमारिल भट्ट ने भी अपने श्लोकवार्तिक में योगियों को होने वाले सकलार्थप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष मानने से मना कर दिया है । उनका कहना है कि चूँकि इन्द्रियार्थ संयोगजन्य ही प्रत्यक्ष लोक में प्रसिद्ध है अतः इससे भिन्न अर्थ में योगिप्रत्यक्ष को भी नहीं माना जात सकता - न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि ।[३०]

परामर्श- इन अनेक बिन्दुओं पर प्रतिपादित मीमांसा के लोकोपयोगी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूप का पर्यालोचन, इस बात को प्रमाणित कर देता है कि मीमांसा, मुख्य रूप से वेद के जिन यज्ञपरक वाक्यों के अर्थनिर्णय के लिए प्रवृत्त हुई है, उनके आधारभूत यज्ञों के सम्पादन की परम्परा लुप्त हो जाने पर भी, मीमांसा के न्याय, आज के प्रासङ्गिक संदर्भों में अपनी उपयोगिता को बनाए हुए हैं। जिस प्रकार भाषा-प्रशिक्षण में मीमांसा-न्यायों की प्रासङ्गिकता विद्यमान है, उसी प्रकार अन्य अनेक सिद्धान्तों तथा न्यायों के माध्यम से भी इस दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य, संस्कृत अध्ययनशास्त्र डॉ. सोमनाथ नेने
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन - ४५६०१०

टिप्पणियाँ

१. शब्दकल्पद्रुम, नाग-पब्लिशर्स, दिल्ली, १९८७, पृ. २३१
२. वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोऽर्थो धर्मः । यथा यागादिः । मीमांसा न्यायप्रकाश, श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८३, पृ. ९
३. पुरुषार्थत्वे तु ऐहिक प्रीतिकारि भोजनादिवत् क्रतोरामुष्मिकप्रीतिकारितया पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात्क्रत्वर्थत्वमप्यार्थिकं सिद्ध्यति । भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ. ३
पं सूर्यनारायण शुक्ल कृत टिप्पणी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, १९३३, पृ. ३, पङ्क्ति २५
४. तै. स. २.६.१, पृ. ३
५. उद्धृत मीमांसा परिभाषा, कृष्णदास अकादमी वाराणसी, १९८७, पृ. १८४
६. तै. स. २.६.१
७. तै. स. २.६.१
८. मीमांसा परिभाषा, पृ. १८५
९. मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ. १०२
१०. मीमांसान्यायप्रकाश, हिन्दी व्याख्या, पृ. १०३, पंक्ति १३.
११. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ. ८५
१२. मै. स. १.५.११
१३. मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ. ९०
१४ मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ. ९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१५. द्रष्टव्य, मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ. ९०-९१

१६. द्रष्टव्य, मीमांसा-दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. २८९

१७. द्रष्टव्य, वही, पृ. २९०

१८. जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्या-विशिष्टत्वात् । जैमिनीसूत्र ६.१.८

१९. दम्पत्त्योः सहाधिकरणम् - उद्धृत - मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. २९३

२०. निमित्तार्थे च बादरि.... जैमिनिसूत्र ६.१.२७

२१. मीमांसा-श्लोकवार्तिक, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, १९७९, पृ. ८९

२२. तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते । शास्त्रदीपिका, कृष्णदास अकादमी वाराणसी, १९८८ पृ. १५४
अतस्सिद्धपदैरभिहिताः पदार्थाः लक्षणया वाक्यार्थमवबोधयन्तीति । तन्त्र-सिद्धान्त-रत्नावली, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९४४, पृ. ६४

२३. प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः । तथाहि पदेषु स्मारिका अनुभाविका चेति शक्तिद्वयं तत्र स्मारिका जातौ । अनुभाविका कार्यान्विते । एवञ्च घटादि-पदानि घटत्वादि-जातिस्मरणद्वारा घटादेः कार्यान्वयानुभवजनकानि । भाट्टचिन्तामणि, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९३३, पृ. ६२

२४. होलाकाधिकरणम् मीमांसानयमञ्जरी, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८४, पृ. १६

२५. मीमांसान्यायप्रकाश, हिन्दी व्याख्या, पृ. ६८

२६. मीमांसान्यायप्रकाश, टिपण्णी, पृ. ६८

२७. तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते । मीमांसान्यायप्रकाश, पृ. १९४
उभयस्य युगपत् प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः । मीमांसान्यायप्रकाश, पृ. १९६

२८. शाबारभाष्य, उद्धृत, मीमांसा-श्लोकवार्तिकम्, पृ. ०८, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा-संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, १९७९

२९. उद्धृत, म. म. गजाननशास्त्री मुंसलगाँवकर विरचित मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. २९०

३०. मीमांसा-श्लोकवार्तिक, पृ. २४०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रामचरितमानस : प्रपञ्च की मूल्यमीमांसा

वर्तमान सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस को प्रपञ्च की मूल्यमीमांसा या मूल्यों का प्रपञ्चशास्त्र कहना यथेष्ट है । प्रपञ्चशास्त्र का तात्पर्य है सद्गुणों से युक्त वस्तुओं और जीवोंका विज्ञान । लगता है कि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में सद्गुणों या मूल्यों के विज्ञान का वर्णन वैसे ही किया है जैसे पश्चिम के दार्शनिकों की 'फेनॉमेनॉलॉजी' है । प्रपञ्चविज्ञान प्रपञ्च के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को सत् नहीं मानता है । तुलसी की दृष्टि में जो कुछ सत् है वह प्रपञ्चसहित है । यहाँ तक कि निर्गुण ब्रह्म भी प्रपञ्चसहित है । उनके रामचरितमानस की यह विलक्षणता है कि प्रपञ्च को परमार्थ-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है । राम के प्रति प्रेम ही प्रपञ्च का मूल्य है । प्रपञ्च की सभी वस्तुओं को राममय समझना चाहिए । मैत्री, करुणा, वात्सल्य, भ्रातृत्व, राष्ट्रीप्रीति, प्रकृति-प्रेम आदि राम-प्रेम की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं । जो राम से जुड़ा है वही सार्थक है : "नाते नेह राम के मनियत ।" यदि वस्तु, कर्म या साधन राम से रहित है तो व्यर्थ है ।

इस दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि राममय है, क्योंकि प्लेटो के 'परमशुभ' की तरह शिव के मानस में उत्पत्ति के पूर्व सभी वस्तुओं के मूल प्रत्यय निहित होते हैं । सत् से पहले तत् है । यानी वस्तु से पहले विचार है । बिना विचार के वस्तु की उत्पत्ति असंभव है । इस प्रकार तुलसी का 'रामनाम' उपनिषदों का 'विज्ञानतत्त्व' है और प्लेटो का 'ज्ञानतत्त्व' । जब तक मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति राममय न होगी तब तक लोकमंगल नहीं होगा ।

रामचरितमानस का लोकवाद प्रेम या भक्ति पर आधारित वह मूल्यमीमांसा है, जो कर्ममय प्रपञ्च को परमार्थ का संस्पर्श देकर उसे मूल्यवान् बना देता है । वास्तव में प्रपञ्च मूल्यों का एक जाल है - शुभाशुभ कर्मों का एक संस्थान है। इस संस्थान का केन्द्रीय मूल्य भक्ति या प्रेम है, जिसके कारण सभी वस्तुएँ मूल्यवान् बनती हैं । अवतार लेकर श्री राम ने अपनी प्रपञ्च लीला से कोलभील, बन्दर-भालू, निषाद-सबरी सभी को मूल्यवान् बना दिया । पुराणों से हटकर मानस कहता है कि कलियुग के समान अन्य कोई युग नहीं है । इसका कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि कलियुग में केवल रामनाम लेने से ही परमार्थ की सिद्धि हो जाती है और भवजल से पार उतरा जा सकता है । मानस का प्रमुख प्रतिपाद्य लोक-संरचना है । राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र, मित्र-मित्र, शत्रु-मित्र, गुरु-शिष्य, शिष्य-शिष्य के आदर्श संबन्धों का चित्रण मानस में प्रमुख रूप से किया गया है । इन आदर्श सम्बन्धों के पालन से आदर्श परिवार, आदर्श समाज, आदर्श विवाह, आदर्श शिक्षा, आदर्श धर्म और आदर्श राज्य सदृश संस्थाओं का निर्माण होता है । मानस का प्रयोजन रावण-तत्त्व का विनाश करके राम-तत्त्व की स्थापना करता है । रावण पर राम की विजय का दूसरा नाम संस्कृति है, जो बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक है । राम-रावण-द्वन्द्व प्रत्येक व्यक्ति के भीतर निरन्तर चल रहा है । दैवी वृत्तियाँ राम हैं और आसुरी वृत्तियाँ रावण । राम परम तत्त्व हैं । उनकी लीला रामायण है और सम्पूर्ण सृष्टि नारायणी है ।

मानस दशरथ-सुत राम का प्राकृत इतिहास नहीं है । राम परमात्मा हैं और राम-कथा परमात्मा की लीला या राम-लीला है, जो विश्व में निरन्तर चल रही है । मानस का मन्तव्य है कि शिव-मन या शुभ-मन के द्वारा रचित उदात्त चरित्रों की प्रतिष्ठा लोकमंगल के लिए होती रहे । मानस एक सार्वभौम मूल्यमीमांसा है, जिसके मर्मज्ञ संत हैं । यह साधारण घटना का वर्णन करने वाला काव्य नहीं है । अपनी मूल्यमीमांस के माध्यम से तुलसी ने समस्त भारतीय संस्कृति की अभिनव रचना कर दी है । यानी मानस मूल्यमीमांसा के अवगाहन का सुन्दर परिणाम है : "चली सुभग कविता सरिता सों । राम बिमल जस जल भरिता सों ।।" (बाल कां. - दोहा ३२ के बाद) । जिसका मानस जितना अधिक बिमल होगा वह रामचरितमानस का उतना ही रमणीय अर्थ करेगा ।

रामचरितमानस परात्परवाद और इहलोकवाद के मध्यममार्ग का प्रस्तावक है । यहाँ लोक को प्रपञ्च माना गया है और परमार्थ को निष्प्रपञ्च। राम से प्रपञ्च आविर्भूत है, राम में स्थित है और अन्ततः राम में लीन हो जाता है । आविर्भाव और लय का चक्र शाश्वत है । मानस का संसारवाद अद्वैतवेदान्त के परात्परवाद से उतना ही भिन्न है जितना लोकायत मत के इहलोकवाद से । तुलसी ने मानस द्वारा व्यवहार और परमार्थ के भेद को दूर किया है । उनकी दृष्टि में व्यवहार सदा परमार्थयुक्त है और परमार्थ सदा व्यवहारगत है । दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। सगुण ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ब्रह्म का व्यवहारगत रूप है । यदि ब्रह्म परममूल्य है तो राम सुचरित मूल्य । परम ब्रह्म और सगुण ब्रह्म (राम) परस्पर नित्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्धित रहते हैं : "फूले कमल सोह सर कैसे । निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे ।" भक्त प्रपञ्च में रहकर भगवान् का भजन करने में ही आनन्द का अनुभव करता है । वह भक्ति चाहता है, मुक्ति नहीं : "मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।" भक्त को इस सत्य का ज्ञान है कि यह प्रपञ्च सदैव ईश्वर की लीला के रूप में चलता रहता है । अतः मानस का भक्त संसार में कमलपत्रवत् रहता हुआ भगवान् की निरन्तर भक्ति करना चाहता है । वह भक्ति को ही सत्य मानता है। इसके विपरीत वेदान्त-विद्या प्रपञ्च के साथ-साथ भक्ति को भी मिथ्या मानती है। परन्तु रामायण-विद्या भक्ति को प्रपञ्च का सार बताती है और भक्ति के अनुसार प्रपञ्च की व्यवस्था करती है । प्रपञ्च में ही राम-राज्य होना चाहिए, प्रपञ्च के सभी जीवों को रामभक्त होना चाहिए और प्रपञ्च की सभी वस्तुओं को राममय समझना चाहिए । तभी मनुष्य और लोक का कल्याण होगा ।

तत्त्वतः परम ब्रह्म के कार्य अप्राकृतिक हैं, फिर भी वह अपना कार्य प्राकृत रूप से दशरथ-सुत श्री राम के द्वारा ही करता है । रामायण-विद्या के इस मर्म को न समझने के कारण मानस में कई शंकाएँ उठायी गयी हैं । तुलसी के राम परमब्रह्म हैं या दशरथ-सुत हैं ? इस सन्दर्भ में प्रमुखतः चार शंकाएँ ध्यातव्य हैं :

१.सती की शंका : ब्रह्म जो ब्यापक बिरजअज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।। (बाल कां. दोहा ५०)।
२.पार्वती की शंका : जो नृपतनय सो ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति मोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमहिं बुद्धिमति मोरि ।। (बाल कां. दोहा १०८)।
३.भारद्वाज की शंका : प्रभु सोइ राम कि अपरकोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि ।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह, कहहु बिबेकु बिचारि ।। (बाल का. दोहा ४६)।
४. गरुड की शंका : भव बन्धन से छूटहिं, नर जपि जाकर नाम ।
सर्व निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम ।। (उत्तर कां. दोहा ५८) ।

भगवान् श्री राम के प्रति अतिशय श्रद्धा के कारण इन शंकाओं का उचित समाधान नहीं किया गया है । शंका का समाधान तर्क है, कथा नहीं । तर्क का उत्तर तर्क है । कथा केवल बाल-बुद्धि को ही सन्तुष्ट कर सकती है । पात्रों की शंका का जो समाधान प्रस्तुत किया गया है, वह केवल अज्ञ जन के तोष के लिए ही है । परब्रह्म अप्राकृतिक है और दशरथ-सुत प्राकृत जन हैं । ब्रह्म सामान्य है और दशरथ-सुत विशेष है। ब्रह्म में दशरथ-सुत अध्यस्त है । अर्थात् राम मायोपहित ब्रह्म हैं । मूल और उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर बना रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याघ्र और कमल को इसलिए अभिन्न समझना गलत है कि दोनों के अर्थ में 'पुण्डरीक' शब्द का प्रयोग होता है । सारे अवतार ब्रह्म के हैं । सभी अवतारों में राम एक अवतार है । दशरथ-सुत राम ब्रह्म नहीं हैं, अपितु, उनके प्रतिनिधि अभिनेता हैं और लोक-हित में अभिनय करते हुए देखे जाते हैं : 'यथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ ।

सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइन सोइ ।। (उत्तर कां. ७२) ।

दशरथ-सुत ब्रह्म का बाह्य कोष है । सकल ब्रह्माण्ड ब्रह्म का बाह्य कोष है । इसीलिए तुलसीदास ने "सीयराममय सब जग जानी" कहा है । दशरथ-सुत ब्रह्म का उत्कर्ष है, अतः वह ब्रह्म की सुन्दर अभिव्यक्ति है । ब्रह्म सर्वोच्च मूल्य है और श्री राम उसकी उत्कृष्ट मूल्यता । इस प्रकार तुलसी प्राकृत जन का गुणगान नहीं कर रहे हैं । वे राम का गुणगान परब्रह्म के रूप में कर रहे हैं, क्योंकि श्री राम ब्रह्म के साक्षात् रूप हैं : "राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ।। (अयोध्या का. २ दोहा के बाद)

रामायण सृष्टि का गीत है, वह ब्रह्म-सृष्टि-सम्बन्ध का आख्यान है । यह सृष्टि का विज्ञान है, जिस पर नीति-संस्थान और भक्ति-संस्थान निर्भर हैं । जैसे स्पिनोजा ने ज्यामिति-शैली में नीतिशास्त्र का निष्कर्ष निकाला है वैसे तुलसी ने काव्य की शैली में तत्त्व की मीमांसा करके इसमें आचारशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र का विधान किया है । राम की कथा भवमोचनी है । दशरथ-सुत की कथा ब्रह्म या राम का बोध कराने का साधन है। इस कथा का मर्म जानने के लिए साधु बनना पड़ता है । साधु होने के लिए कथनी-करनी-रहनी को एक रूप बनाना होता है । राम-कथा के अनुसार मन बनाना और तदनुसार कर्म करना चाहिए, तभी राम की कथा समझ में आएगी । इस दृष्टि से रामायण-विद्या का ज्ञान कथा-ज्ञान या शब्द-ज्ञान न होकर मूल्यबोध है, जो कायापलट करने में समर्थ है । संतगण परमतत्त्व को आधार बनाकर जीवन जीते हैं और सभी प्राणियों में प्रभु की छवि निहारते हैं । राम का लौकिक चरित्र अपनाना ही सदाचार है, जिसके बिना जीवन व्यर्थ है । चूँकि संसारी जीव अवतारी राम की भक्ति के मूल्य से वंचित हैं, अतः वे दुःखी हैं । यही तुलसी का मानवतावाद है । मानव-जीवन का उत्कर्ष श्री राम का गुणानुवाद करने और तदनुसार जीवन-यापन करने में है, भोग-विलास में नहीं । मूल्य (धर्म) के निर्देशन में ही धन-संग्रह और धन-भोग उचित है : धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते (महाभारत, शान्तिपर्व) । संत तुलसी का उपदेश है : "कांच किरिच बदलें ते लेहीं । करते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जरि परस मन देहीं ॥ (उत्तर कां. दोहा १२० के बाद) । राम-कथा संशयनिवारक और भवतारक है । राम की कथा सुनने से ही हृदय में सद्गुणों का विकास होने लगता है । अतः चित्त-शुद्धि के लिए कथा का श्रवण जरूरी है ।

कथा से ही मूल्य या परमार्थ की प्राप्ति होती है । पुराण और कथा का महत्त्व चिन्तन से कम नहीं है । कथा में कोई मिथ्या, अशिव या असुन्दर अंश नहीं होता है । कथा सुष्ठु तर्क-विधि है । कथा के माध्यम से ही तुलसी ने 'रामनाम' का महत्त्व राम से और भक्ति का महत्त्व ज्ञान या मुक्ति से अधिक समझा है । आख्यान जीवन को बदल देता है । पौराणिक गाथा मानव-संस्कृति को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है । वह लोकमत, संतमत और विज्ञान के समकक्ष है । वह सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि है, जिसमें आचार-विचार और चरित्र के नमूने बने होते हैं । राम-कथा इससे भी आगे है । पुराण में कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म में अन्तर किया गया है । परन्तु राम-कथा में दोनों अभिन्न हैं । धार्मिक भाषा के रूप में राम-कथा जीवन में उत्कर्ष का प्रेरक है । मानस सृष्टि-कथा से अधिक आत्म-कथा है । यानी यह आत्मालोचन की कथा है । 'सत्य-शिव-सुन्दर' के निरूपण का माध्यम राम-कथा ही है । राम-कथा का यही सौष्ठव है कि उसमें कला, धर्म और दर्शन एक साथ अभिव्यक्त हैं । कथा से हृदय में जिस रस का संचार होता है, उसे उपनिषदों में "रसो वै सः" कहा गया है ।

रामचरितमानस अस्तित्वमीमांसा से अधिक मूल्यमीमांसा है । यह वास्तव में माया की मूल्यमीमांसा है । माया के वशीभूत जीव पर ही माया व्यापती हैः "सो मायाबस भयउ गोसाईं । नाचत नर मरकट की नाई ।।" मुक्त जीव को माया नहीं व्यापती है, क्योंकि उस पर भगवान् की कृपा रहती है और उस कृपा से माया डरती है : "तब वे मोन ब्यापी माया । जब ते रघुनायक अपनाया।।" यदि धरती के मनुष्य भगवान् की भक्ति करें और तदनुसार आचरण करें तो धरती पर बैकुण्ठधाम उतर सकता है ।

डॉ. कामिल बुल्के ने राम-कथा के विकास पर महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया है, किन्तु इस प्रयास में उन्होंने भारतीय परम्परा का उपयोग नहीं किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. बुल्के का दृष्टिकोण लौकिक है और संत तुलसी का दृष्टिकोण पारमार्थिक है । डॉ. बुल्के की दृष्टि में रामायण का अर्थ दशरथ-सुत के वन-गमन से लेकर ब्रह्मलीला तक है । इसके विपरीत तुलसी के मत में रामायण का अर्थ ब्रह्मलीला से लेकर दशरथ-सुत के वन-गमन तक है । डॉ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुल्के ने ब्रह्मलीला को वास्तविक समझा और तुलसी ने मायिक । तुलसी की दृष्टि में रामायण का मूल अर्थ राम-वन-गमन न होकर कारण ब्रह्म का कार्य ब्रह्म में अनुप्रवेश या अयन है । कारण ब्रह्म भी राम है और कार्य ब्रह्म भी राम है । परन्तु निर्गुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म में बदलने की दिव्य प्रक्रिया को तुलसी ने रामायण कहा है । हेगल की शब्दावली में राम (ब्रह्म) मात्र 'सत्ता' है और रामायण 'प्रवर्तनमान सत्ता' है । यानी परब्रह्म राम नित्य सर्जनशील है और नाना अवतारों के माध्यम से विश्व का कल्याण करता रहता है । इस रहस्य को संत ही दिव्य दृष्टि से समझ सकता है, संसारी जीव (डॉ. बुल्के) नहीं । जो लोग राम को लौकिक पुरुष समझते हैं, उनके लिए रामायण दशरथ-सुत की कथा है । जो लोग राम को साक्षात् ब्रह्म समझते हैं, उनके लिए रामायण निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप में लीला-क्रीडा करना है । वास्तव में राम की कथा माया के माध्यम से हो रही ब्रह्मलीला है, जो हर विधि मंगलकारी है । कारण ब्रह्म, कार्यब्रह्म, उसके नाना अवतार, विशेष युग में विशेष अवतार और उस एक विशेष अवतार के लौकिक रूप - इन पाँचों को तुलसी ने 'राम' कहा है । पाँच राम के बीच चार सम्बन्ध हैं । प्रत्येक सम्बन्ध रामायण है । प्रथम सम्बन्ध का रामायण ही मूल रामायण है । अन्य रामायण तर्कतः निगमित हैं ।

रामचरितमानस का रामराज्य सर्वसंग्राहक मूल्य है । भारतीय मनीषा के अनुसार रामराज्य सर्वोत्तम आदर्श राज्य-व्यवस्था का नाम है और सभी राज्य-व्यवस्थाओं का मानक है । गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' आधुनिक भारतीय राजनीति में वही स्थान रखता है, जो स्थान प्लेटो के 'रिपब्लिक' (प्रजातंत्र) का प्राचीन पश्चिमी राजनीति में है । प्लेटो के 'रिपब्लिक' से भी कहीं आगे रामचरितमानस है, जिसमें आध्यात्मिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक सभी मूल्य एक साथ समाहित हैं । वास्तव में रामराज्य आदर्श रूप है और दाशरथि राज्य उसी का यथार्थ रूप है । दाशरथि राज्य भी रामराज्य है और अन्य राज्य भी रामराज्य हो सकते हैं, यदि वे रामराज्य की शर्तें पूरी करते हैं । दासदेश में रामराज्य नहीं हो सकता, क्योंकि रामराज्य स्वराज्य है । स्वतंत्र देश में ही रामराज्य हो सकता है । दुर्भाग्य है कि स्वराज्य आया, किन्तु रामराज्य नहीं आया । रामराज्य आदर्शीय लोकतन्त्रीय व्यवस्था है, जिसमें सर्वोदय की कल्पना साकार होती है । रामराज्य शासन न होकर अनुशासन है । यहाँ सैन्यबल के स्थान पर आत्मबल का वर्चस्व है । रामराज्य में अल्पमत का भी समादर है, जबकि इसका मूल्य आज की जनतान्त्रिक संसदीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवस्था में नहीं है । आज संसदीय जनतन्त्र को रामराज्य के निकट आना होगा, तभी उसका अस्तित्व सुरक्षित रहेगा ।

रामराज्य का अर्थ है समाज की इच्छा का समाज के ऊपर राज्य । सफल जननायक वही है जो सामाजिक इच्छा को आत्मसात् कर लेता है । इस कोटि में केवल राजा राम आते हैं । राम लोकमन या सामान्य इच्छा (रूसो) के प्रतिनिधि हैं : "सब के डर अन्तर बसहु, जानहुं भाव कुमाउ ।" - (अयोध्या कां. दोहा २५६) राम सम्राट न होकर सर्वोत्तम जनप्रतिनिधि हैं । उनका राज्य जनता का राज्य है : "जो अनीति कछु माखहुँ भाई । तौ मोहिं बरजेउ मय बिसराई ।।" (उत्तर कां. दोहा ४२ के बाद) । पुनश्च, "करब साधुतम लोकमत नृपनय निगम निचोरि ।" (अयोध्या कां. दोहा २५८)

रामराज्य का आदर्श साम्यवाद के आदर्श से श्रेष्ठ है । रामराज्य के आदर्श हैं : प्रजा का सुख, परस्पर प्रीति, उदारता, परोपकारिता, समता, स्वतन्त्रता तथा कला, नीति और धर्म की प्रतिष्ठा । साम्यवाद सर्वहारावर्ग की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देता है, कुछ व्यक्तियों के हित को अनदेखी करता है और वैचारिक स्वतंत्रता को जड़ से काट देता है । वह राज्य को नैतिक संस्था नहीं मानता है । उसकी दृष्टि में धर्म अफीम है और नीतिशास्त्र ढकोसला है । रामराज्य में सभी समादरणीय हैं । सर्वत्र समता का पालन होता है । इस समता की स्थापना वर्ग-संघर्ष से संभव नहीं है । यह राम के प्रताप से ही संभव है । राम का प्रताप नैतिक बल है और विषमता का नाशक है : 'बयरू न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।" (उत्तर कां. दोहा १८ के बाद) । साम्यवादी व्यवस्था में बिना मूल्य के वस्तु की प्राप्ति असंभव है । परन्तु रामराज्य में असंग्रह नीति के नाते यह सम्भव है : "बाजार रूचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइये ।" (उत्तर कां. दोहा २७ के बाद) । रामराज्य में कोई भी दरिद्र, दुःखी, रोगी, अल्पायु, अबुध, विद्रूप, कपटी और कृतघ्न नहीं है । रामराज्य दण्ड-निरपेक्ष राज्य है । यहाँ धर्म-साधना में दण्ड का विधान है, कलाओं के विवेचन में वर्ग-भेद है और युद्ध का प्रयोग केवल मन को जीतने तक सीमित है : "दण्ड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।

जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज ।। (उत्तर का. दोहा २२)

राम त्याग की मूर्ति हैं तो रावण भोग की । रावण-बध के बाद विभीषण को राज्य देना भोग पर त्याग का वर्चस्व है । रावण सम्राट है और अपनी इच्छा से राज्य करता है : "राज करिअ निज मंत्र ।" रावण-राज्य निरंकुश शासन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, जहाँ दुर्गुणों का वर्चस्व है : "सकल धरम देखइ विपरीत । कहि न सकइ रावण भयभीत ।।" रावण दया और धर्म से दूर है । उसका ज्ञान परमार्थ से वंचित है और भक्ति सर्वथा सकाम एवं वञ्चक है । रावण-राज्य हिंसा का संगठन है और उसका शासन भुज-बल पर आधारित है । राम यदि धर्म, नीति तथा मर्यादा के पोषक हैं तो रावण अधर्म, अनीति और अत्याचार का समर्थक है । रावण समाज की इच्छा को कुचल देता है और राम समाज की इच्छा को ही राज्य का सर्वस्व मानते हैं । राम-रावण का द्वन्द्व शुभ-अशुभ या धर्म-अधर्म का अन्तर्द्वन्द्व है । बिना संग्राम के रावण-राज्य का उन्मूलन संभव नहीं है और न ही रामत्व की पहचान संभव है । दुर्गुण का सद्गुण के अधीन होना अपने राम के अधीन होना है । हिंसा पर अहिंसा का शासन, क्रोध पर प्रेम का अनुशासन और असत्य पर सत्य का राज्य ही रामराज्य है । राम-रावण का द्वन्द्व प्रत्येक व्यक्ति के भीतर निरन्तर चलता रहता है । संत ही इस द्वन्द्व से मुक्त है, क्योंकि वह राममय है । जिस दिन संत की तरह सभी लोग सृष्टि को नारायणी समझने लगेंगे, उस वक्त रामराज्य का आदर्श साकार हो जायेगा ।

संतों ने सामाजिक नीति को प्रस्तावित किया है । उन्होंने परमार्थ और व्यवहार का द्वैत मिटाकर परार्थमूलक समाज की स्थापना पर बल दिया है, जिसमें सभी सामाजिक भेदों को मिटाने की बात की गयी है । उनका सत्संग एक नये समाज का अग्रदूत है । सत्संग वर्गहीन समाज का वैसे ही अग्रसूचक है जैसे पेरिस-कम्यून आज के साम्यवादी समाज का अग्रसूचक है । इन संतो की कल्पना है कि समस्त मानव-समाज को एक सत्संग या गुरुद्वारा होना चाहिए । यह सत्संग का प्रभाव है कि भक्ति का आन्दोलन जनता के सभी वर्गों तक पहुँचा । भक्ति की आँधी में ब्राह्मण से लेकर चमार तक सभी बहे और हर जाति के बीच से उच्च कोटि के ज्ञानी संत निकले । सब ने मानवता को बढ़ावा दिया और सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया । इन सन्तों ने सत्संग में समता को महत्त्व दिया । जो राजा-सेठ उनके सत्संग में आये वे भी सन्त हो गये । तुलसी के रामराज्य को गाँधी ने आदर्श माना और उसे 'सर्वोदयी' समाज की संज्ञा दी । यही प्रपंच में रामराज्य की संज्ञा है ।

डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय

रीडर, दर्शन विभाग
गनपतसहाय पी. जी. कॉलेज
सुलतानपुर (अवध)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वैत वेदान्त में आन्तरप्रत्यक्ष : धर्मराजाध्वरीन्द्र की कठिनाइयाँ

घट, पट आदि बाह्य विषयों के समान ही सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि आन्तरिक विषयों का प्रत्यक्ष एक सर्वप्रसिद्ध तथ्य है। हमें जिस तरह घट, पटादि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है उसी तरह अपने सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञान आदि का भी प्रत्यक्ष होता है। अब इन सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि आन्तरिक विषयों का प्रत्यक्ष कैसे होता है - इसको लेकर विभिन्न भारतीय दर्शनों में मतभेद है। नैयायिक प्रभृति सुख, दुःख, इच्छा आदि को आत्मा का गुण मानते हैं तथा उनका मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर अद्वैतियों के अनुसार सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञान आदि आत्मा के गुण या धर्म न होकर वस्तुतः मन या अन्तःकरण के धर्म हैं।[१] मन या अन्तःकरण का धर्म होने से सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि के प्रत्यक्षत्व की व्याख्या अद्वैतियों के लिये विशेष समस्याप्रद हो जाती है क्योंकि स्वयं मन के धर्मों का प्रत्यक्ष भला कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? पुनः अद्वैतियों के अनुसार किसी विषय के ज्ञान के लिये उस विषय का आकार में अन्तकरणः का परिणत होना अनिवार्य होता है, अब जब स्वयं अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि के प्रत्यक्ष की बात होती है तो वहाँ समस्या खड़ी हो उठती है कि क्या इनके ग्रहण के लिये भी तदाकार अन्तःकरणवृत्ति की आवश्यकता होगी ? यदि ऐसा माना जाए तो यह अन्तःकरण का स्वयं अपने हीं आकार में आकारित होना होगा और जाहिर है उसमें कर्तृकर्म विरोध और चक्रक दोष होगा। अस्तु, सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि अन्तःकरण के धर्मों तथा स्वयं अन्तःकरण के प्रत्यक्षत्व की समस्या अद्वैत मत में एक जटिल समस्या के रूप में सामने आती है। प्रस्तुत निबन्ध में मेरा उद्देश्य इस समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करना है और यह देखना है कि अद्वैती इसका समाधान कैसे प्रस्तुत करते हैं।

उपरोक्त क्रम में सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक होगा कि अद्वैतियों के अनुसार प्रत्यक्ष क्या है? अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष का अर्थ चेतना से है - प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव।[२] साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य (ब्रह्म) ही वस्तुतः प्रत्यक्ष है - यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।[३] यह चेतना का स्वभाव है कि वह स्वयंप्रकाश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है, साक्षात् अपरोक्ष होता है । भामतीकार का कहना है कि चेतना का अर्थ ही स्वयंप्रकाश होने से है - स्वयंप्रकाशत्वं चित्त्वम् । स्वयंप्रकाश होने के नाते चैतन्य मात्र अपरोक्ष है । अब अद्वैतियों के अनुसार चेतना ही ज्ञान है, अतः जाहिर है वह भी स्वयंप्रकाश है और चूँकि ज्ञान मात्र स्वयंप्रकाश है अतः प्रत्येक ज्ञान चाहे वह भ्रम हो या प्रमा, परोक्ष हो या अपरोक्ष स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष है । वस्तुतः ज्ञान होना - ज्ञानत्व (चित्त्व) ही प्रत्यक्ष का लक्षण है । इसीलिये धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में कहते हैं कि किसी ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का निमित्त वस्तुतः यही है कि वह ज्ञान है - ज्ञप्तिगत प्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव ।[४] अब चूँकि यह ज्ञानत्व ज्ञानमात्र में रहता है, अतः ज्ञानांश में सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।

ज्ञानत्वेन या ज्ञानांश में सभी ज्ञानों के प्रत्यक्ष होने के बावजूद अनुमिती, उपमिती या अर्थापत्ति आदि परोक्ष ज्ञान भेदों से प्रत्यक्ष का भेद स्पष्ट ही है । प्रश्न है उसके इस भेद का निमित्त क्या है? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि स्वांश में प्रत्यक्षात्मक होने पर भी जिस ज्ञान का विषय अथवा करण भी प्रत्यक्षात्मक हो वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, विषय परोक्ष अग्नि आदि हो या करण व्याप्तिज्ञान आदि तो ज्ञान भी अनुमिति आदि कहलाएगा । दूसरे शब्दों में ज्ञान में स्वरूप भेद का नियामक अर्थात् उसमें प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व आदि विशेषता लाने वाला हेतुक उसका 'विषय' अथवा 'करण' है । यहाँ यह बताना समीचिन होगा कि आचार्यों में इस बात को लेकर भी दो समानान्तर मत खड़े हुए कि ज्ञान के 'विषय' तथा 'करण' में कौन अधिक प्रधान है जिसके कारण ज्ञान में स्वरूप भेद का नियामन होता है तथा उसमें प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व आदि विशेषता आती है । जहाँ विवरण प्रस्थान की धारा इस सम्बन्ध में 'विषय' को प्रधानता देती है भामती प्रस्थान की धारा 'करण' को । इन दोनों धाराओं के इस मतभेद का उल्लेख करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार कहते हैं - "ज्ञान का प्रत्यक्षत्व करणगत विशेष पर अवलम्बित्व न हो प्रमेयगत विशेष पर अवलम्बित होता है, विषयविशेष पर नहीं." ।[५] विवरणसम्प्रदायानुयायी इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्यक्ष में विषय के स्वरूप का भान अन्य ज्ञानों में होने वाले विषय प्रकाशन से भिन्न होता है । विषय ही ज्ञान के प्रकार भेद का निर्धारक होता है दूसरी ओर भामती प्रस्थान का मानना है कि स्वांश में प्रत्यक्षात्मक होती हुयी भी कोई प्रमा विशेष रूप से प्रत्यक्ष तभी कहलाती है जब उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण हो। उपर्युक्त साम्प्रदायिक मतभेद के परिपार्श्व में यह भली-भाँति स्पष्ट हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है कि क्यों धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का निर्धारण करते समय ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व और विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का अलग-अलग निर्धारण करते हैं। कोई ज्ञान कब प्रत्यक्ष कहलाता है और कोई विषय कब प्रत्यक्ष कहलाता है, इन दो प्रश्नों को अलग-अलग उठाकर धर्मराज वस्तुतः पूर्व आचार्यों द्वारा उठाये गये 'करण' व 'विषय' सम्बन्धी विवाद को तार्किक सहमति प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। हालाँकि धर्मराजाध्वरीन्द्र की इस चेष्टा में साम्प्रदायिक आचार्यों के प्रति श्रद्धा का भाव अधिक है तर्क कम, क्योंकि कोई विषय कब प्रत्यक्ष कहलायेगा और कोई ज्ञान कब प्रत्यक्ष कहलायेगा ये दोनों प्रश्न आपस में इतने जुड़े हुए और अन्योन्याश्रित हैं कि इनके सम्मिलित उत्तर की तलाश अधिक तार्किक होती और उसी में लाघव भी होता।

जैसा की ऊपर संकेत किया गया, धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का निर्धारण करते हुए ज्ञानगत और विषयगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का अलग-अलग निरूपण किया है। 'कोई ज्ञान कब प्रत्यक्षात्मक होता है' और 'कोई विषय कब प्रत्यक्षात्मक होता है' इन दोनों प्रश्नों का अलग-अलग निरूपण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं कि प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद ज़हाँ ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है वहीं प्रमातृचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। उपर्युक्त लक्षणों को समझने के लिये यह समझना आवश्यक होगा कि अद्वैत मत में एकमात्र अद्वितीय निरवच्छिन्न चैतन्य मात्र की ही वास्तविक सत्ता है। वही चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर प्रमातृचैतन्य, घट, पटादि विषय से अवच्छिन्न होकर विषयचैतन्य तथा अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर प्रमाणचैतन्य कहलाता है। तत्त्वतः सारे उपाधियों से विनिर्मुक्त होता हुआ भी वह निरवच्छिन्न चैतन्य व्यवहार में इन त्रिविध चैतन्य के रूप में सामाने आता है। वस्तुतः सारा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चैतन्य के इन त्रिविध भेद को लेकर ही संभव होता है। अब जब इन तीन प्रकार के चैतन्यों में प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद हो तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं।[६] अर्थात् कोई ज्ञान तब प्रत्यक्षात्मक होता है जब प्रमाणचैतन्य यानि कि वृत्तिअवच्छिन्नचैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक होता है। दूसरे शब्दों में वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का नियामक है। यहाँ सहज ही यह प्रश्न उठता है कि वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद कैसे घटित होता है? अद्वैतियों का कहना है कि यह अभेद घटित होता है अन्तःकरण की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहिर्गत वृत्ति द्वारा । जैसे सरोवर का जल किसी नाली द्वारा निकलकर क्यारी तक जाकर क्यारी का आकार धारण कर लेता है उसी तरह तैजस अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा निकलकर घट आदि विषय पर्यन्त जाकर तद् तद् विषय के आकार में परिणत हो जाता है । अन्तःकरण की यह विषयाकारा परिणति 'वृत्ति' कहलाती है ।[७] यहाँ यह ध्यातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार अन्तःकरण के सादिसावयव होने के कारण उसके परिणामी होने में कोई दिक्कत नहीं आती । अब अन्तःकरण के विषयस्थल तक जाकर उसके आकार में परिणत हो जाने से अन्तःकरण की इस परिणति अर्थात वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्न विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है ठीक वैसे ही जैसे क्यारी में पहले से स्थित जल नाली द्वारा लाए गए जल से एक हो जाता है क्योंकि उनको आकार देने वाली क्यारी एक है । उपाधि या अवच्छेदकों के अन्तर से पृथक् पृथक् कहे जाने वाले चैतन्य उपाधियों के एकदेशस्थ होने से अभिन्न हो जाते हैं । तत्त्वतः देखा जाए तो अभिन्न तो वे सदा हैं ही, उक्त स्थिति में वे व्यावहारिक रूप से भी अभिन्न हो जाते हैं। अब जिस प्रमाकरण द्वारा ऐसी स्थिति बनती है उसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और वृत्ति व विषय की ऐसी स्थिति से होने वाली ज्ञप्ति ही प्रत्यक्ष प्रमा है । यह स्थिति तभी बनती है जब अन्तःकरणवृत्ति इन्द्रियद्वार से बाहर निकल कर विषय स्थल तक जाकर उसे व्याप्त कर लेती है । अनुमिति आदि प्रत्यक्षेतर प्रमाओं में वृत्ति विषयस्थल तक नहीं जाती, परिणामतः वृत्ति व विषय से अवच्छिन्न चैतन्य एक नहीं हो पाता । 'यह घट है' इस प्रकार के ज्ञान की स्थिति में घट ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होता है क्योंकि घटाकारवृत्ति के घट संयुक्त होने से घट से अवच्छिन्न चैतन्य और वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में अभेद प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के सुखादि अन्तःकरण के धर्मों के ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व होता है, क्योंकि वहाँ सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य और उनके आकार वाली वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यों में उनके नियत रूप से एकदेशस्थ उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने के कारण अभिन्नता होती है ।[८]

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है अद्वैतियों के अनुसार किसी विषय के प्रत्यक्ष होने का अर्थ है विषयचैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद । धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में कहते हैं कि प्रमाता के साथ विषय की अभिन्नता ही उसका प्रत्यक्षत्व है ... विषयस्य प्रत्यक्षत्वन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम् ।[९] विषय की प्रमाता से अभिन्नता का अर्थ प्रमाता से उसका एकत्व न होकर प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त उसकी (विषय की) सत्ता का न रहना ही है ...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम् किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः ।[१०] अब प्रश्न उठता है कि प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभाव रूप विषय का प्रमाता से जो अभेद है और जिसे अद्वैती विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं, वह कैसे घटित होता है ? उसके उत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि विषयस्थल पर जाकर उसको व्याप्त करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा विषय का प्रमाता से अभेद स्थापित होता है। तैजस अन्तःकरण चक्षु आदि इन्द्रियद्वार से निकलकर विषयस्थल तक जाकर उसी के आकार में परिणत हो जाता है । वृत्ति रूप में अन्तःकरण के विषय स्थल पर आ जाने से वृत्ति, अन्तःकरण तथा विषय ये तीनों एकदेशस्थ हो जाते हैं और जैसा कि हमने अभी देखा था कि एकदेशस्थ उपाधियाँ उपधेयों में भेद नहीं पैदा करतीं, अतः उपाधियों के एकत्र स्थित होने से उन उन से अवच्छिन्न चैतन्य भी अभिन्न हो जाते हैं । वृत्ति उपाधिकृत भेद को दूर कर प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य को अभिन्न कर देती है । अब चूँकि प्रमातृचैतन्य विषयचैतन्य से अभिन्न है अतःविषयचैतन्य पर अध्यस्त घट, पटादि विषय स्वयं प्रमातृचैतन्य पर अध्यस्त हो जाते हैं और उनकी सत्ता प्रमातृचैतन्य की सत्ता से पृथक् नहीं रह जाती क्योंकि 'सिद्धान्त' में अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त आरोपित की सत्ता नहीं रहती[११] और इस प्रकार घट, पटादि विषयों की प्रमाता से पृथक् सत्ता न रह जाने से उनको प्रत्यक्षत्त्व प्राप्त होता है ।

प्रत्यक्ष सम्बन्धी उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अद्वैतियों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' के लिये जो चीज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य है वह है अन्तःकरणवृत्ति का चक्षुरादि इन्द्रियद्वारों से निकलकर विषयस्थल तक जाकर उसको व्याप्त कर लेना । ऐसा करने से विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य एक हो जाते हैं । फलतः अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य के लिये प्रकट अध्यस्त घट, पटादि विषय अब प्रमातृचैतन्य पर अध्यस्त हो जाने से उसके लिये भी प्रकट हो उठते हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञानों में चूँकि अन्तःकरणवृत्ति विषयदेश तक नहीं जाती अतः वहाँ विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद नहीं हो पाता और फलतः वह्नि आदि विषय प्रत्यक्ष नहीं हो पाते हैं ।

यहाँ ध्यातव्य है कि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में तो अन्तःकरण का इन्द्रियद्वारों से निकलकर विषयदेश तक जाकर उसके आकार में आकारित होना संभव हो जाता है पर जब हम आन्तरिक प्रत्यक्ष की बात करते हैं अर्थात् स्वयं अन्तःकरण तथा उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि या घटाकार पटाकार वृत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान के प्रत्यक्षत्व की बात करते हैं तो समस्या खड़ी हो उठती है । समस्या इस रूप में सामने आती है कि सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि स्वयं वृत्तिरूप हैं, अन्तःकरण के परिणाम हैं, अतः प्रश्न खड़ा हो उठता है कि सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञान रूप अन्तःकरण की जो ये वृत्तियाँ हैं क्या इनके भी प्रत्यक्ष होने के लिये यह आवश्यक है कि इन वृत्तियों को आकारित करने वाली वृत्त्याकार वृत्त्यन्तर हो । यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वृत्तिरूप अनुभव को अनुभूत होने के लिये अनुभवान्तर की अपेक्षा नहीं होती । यदि वृत्ति को गृहीत होने के लिये वृत्त्यन्तर की कल्पना की जाए तब तो फिर उस दूसरी वृत्ति के लिये भी तीसरे की और उसके लिये चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दुर्निवार होगी। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वृत्ति के प्रत्यक्ष के लिये वृत्त्याकार दूसरी वृत्ति मानने पर अनवस्था का संकट खड़ा हो जाता पर वृत्ति के ग्रहण के लिये अन्य वृत्ति को मानने की अनिवार्यता ही क्यों? वस्तुतः यह वृत्ति के स्वभाव का वैचित्र्य है कि जहाँ घटादि बाह्य विषयों को प्रत्यक्ष होने के लिये तदाकार वृत्ति की अपेक्षा होती है, स्वयं वृत्ति के ग्रहण के लिये वृत्त्यन्तर की आवश्यकता नहीं होती, यह स्वयं अपने को अपना विषय बनाती है । अर्थात् जहाँ वृत्ति एक ओर घट, पटादि विषयों को अपना विषय बनाती है वहीं वह स्वविषयक भी होती है । विषयाकार के साथ वृत्ति स्वाकार भी होती है । स्वाकार युक्त होने से वृत्ति को प्रत्यक्ष होने के लिये वृत्त्यन्तर की आवश्यकता नहीं होती है और न ही इसका यह मतलब निकलता है कि वह बिना वृत्ति के प्रत्यक्ष होती है । वेदान्तपरिभाषाकार ने वेदान्तपरिभाषा में 'अहं घटं जानामि' ऐसे स्थल पर होने वाले घटाकार वृत्ति के प्रत्यक्षत्व की उपर्युक्त ढंग से ही व्याख्या की है और वृत्ति को स्वविषया माना है ।[१२] यहाँ स्वविषया वृत्ति की उपर्युक्त धारणा सहज ही बौद्ध विज्ञानवादियों का स्मरण दिलाती है जो विज्ञान को अर्थाकार और स्वाकार से युक्त मानते हैं । पर वृत्ति को स्वविषया मानकर धर्मराजाध्वरीन्द्र बौद्धों के समान ही यह भूल जाते हैं कि वृत्ति भला स्वयं अपने को कैसे विषय बना सकती है । जिस तरह से अंगुली अपने पोर को नहीं छू सकती, नृत्यांगना अपने मस्तक पर नृत्य नहीं कर सकती उसी तरह वृत्ति स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकती । स्वात्मवृत्ति की अवधारणा अनिवार्यतः कर्तृकर्म विरोध से ग्रस्त है । शंकराचार्य अपने भाष्यों में बौद्धों के स्वसंवेदन की जमकर आलोचना करते हुए यह दिखाते हैं कि क्षणिक बुद्धिविज्ञान स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और ऐसा स्वीकार कर बौद्ध कर्तृ-कर्म विरोध के जाल में फँस जाते हैं ।[२३] वृत्ति को स्वविषया स्वीकार कर धर्मराजाध्वरीन्द्र भाष्यकार के उपर्युक्त मत का उल्लंघन करते प्रतीत होते हैं । लक्षण की सुसंगतता के व्यामोह में धर्मराजाध्वरीन्द्र वस्तुतः सम्प्रदाय विरुद्ध मत को स्वीकार कर लेते हैं । वस्तुतः अन्तःकरणवृत्तियों को प्रत्यक्ष होने के लिये न तो वृत्त्याकार दूसरी वृत्तियों की अपेक्षा होती है और न ही वे स्वयं स्वविषया होने से स्वाकार युक्त होती हैं । वृत्तियों को प्रकाशित होने के लिये वृत्ति की किसी भी रूप में अपेक्षा नहीं होती । सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि तथा वृत्तिरूप ज्ञान चूँकि अन्तःकरण के धर्म हैं तथा वे हमेशा अन्तःकरण में ही रहते हैं अतः सुखादि से अवच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में नित्य अभेद प्रसक्त होता है फलतः सुखादि में नित्य अपरोक्षत्व प्राप्त होता है । सुख, दुःख, इच्छा आदि तथा वृत्तिरूप ज्ञान यदि नियत रूप से अपरोक्ष होते हैं तो ऐसा इसलिये नहीं जैसा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र समझते हैं कि वे स्वविषया स्वरूप वाले होते हैं बल्कि इसलिये कि तैजस अन्तःकरण के अवस्था रूप होने से स्वभावतः इतने स्वच्छ होते हैं कि साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से अनिवार्यतः युक्त रहते हैं । घटादि विषयों को प्रकाशित होने के लिये चिदुपरागार्थ वृत्ति की अपेक्षा होती है । पर वृत्ति, जिस पर उपरक्त होकर ही चैतन्य नाना विषयों को प्रकाशित करता है, उसे स्वयं प्रकाशित होने के लिये वृत्ति की अपेक्षा भला क्यों होने लगे? वह तो स्वावच्छिन्न चैतन्य से ही प्रकाशित हो जाती है ।[२४]

वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी अवस्थाभूत सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प या वृत्तिरूप-ज्ञान सीधे साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं । न तो अन्तकरण और न ही उसकी सुखादि वृत्तियाँ किसी भी रूप में स्वयं अपने को अपना विषय बना सकती हैं । प्रमाता और प्रमाता की अवस्थाभूत सुख, दुःखादि का ग्रहण स्वयं प्रमाता से भला कैसे हो सकता है ? मन और मन की अवस्थाओं का ग्रहण स्वयं मन से नहीं हो सकता । वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी अवस्थाभूत सुख, दुःखादि को प्रकाशित करने वाला स्वयंप्रकाश साक्षी है । जहाँ घटादि बाह्य विषयों को प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रकाशित करता है, प्रमाता और उसकी प्रमाणवृत्तियाँ सीधे साक्षी द्वारा ही प्रकाशित होती हैं । अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प या वृत्तिरूप ज्ञान अपने प्रकाशन के लिये किसी वृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते और न ही वे उसके किसी भी प्रकार से विषय हो सकते हैं । वे तो वस्तुतः केवल साक्षि द्वारा भासित होते हैं, कोई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमाता या कोई प्रमाण इन्हें भासित नहीं कर सकता है । वे केवल साक्षिवेद्य हैं।

यहाँ वेदान्तपरिभाषाकार के मत पर किंचित् विशेष प्रकाश डालना अनुचित नहीं होगा । वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार केवलसाक्षिवेद्यत्व का अर्थ 'बिना वृत्ति के साक्षिविषयत्व' न होकर 'इन्द्रिय लिङ्गज्ञान आदि प्रमाणव्यापारों के बिना ही साक्षी द्वारा प्रकाश्य होना' है । अर्थात् 'केवलसाक्षिविषयत्व' में केवल शब्द का प्रयोग वृत्ति का परिहार करने के लिये नहीं किया गया है ।[१५] ऐसी स्थिति में अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि जो परम्परा में केवलसाक्षिभास्य कहे गये हैं, के वृत्तिविषयत्व में कोई विरोध नहीं है । अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा या वृत्तिज्ञान को प्रत्यक्ष होने के लिये वृत्ति की आवश्यकता रहती ही है । अद्वैतवेदान्त में कोई भी ज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान) बिना वृत्ति के नहीं होता । अतः केवल-साक्षिभास्य विषयों के भी ज्ञान की व्याख्या के लिये वृत्ति की कल्पना अनिवार्य होती है । बिना वृत्ति के विषय हुए कोई भी ज्ञान नहीं होता । इस सम्बन्ध में वेदान्तपरिभाषाकार विवरणकार की उस उक्ति का उल्लेख करते हैं जिसमें वे कहते हैं कि अन्तःकरण को भी ज्ञात होने के लिये 'अहं' वृत्ति का विषय होना अनिवार्य होता है,[१६] वस्तुतः वृत्ति में उपरक्त चैतन्य ही विषयगत अज्ञान का विरोधी होता है, शुद्ध चैतन्य नहीं, वह तो अज्ञान का भासक होता है । अस्तु, केवल-साक्षिभास्य विषयों के लिये भी तद् तद् आकार वाली वृत्ति की अभिकल्पना को वेदान्त-परिभाषाकार परम्परा से समर्थित ओर सम्प्रदायसम्मत पाते हैं । विवरणकार अन्तःकरण को विषय करने वाली अहम्-इत्याकारक वृत्ति मानते ही हैं । इसी प्रकार केवलसाक्षिभास्य कही जाने वाली प्रातिभासिक वस्तु के लिये सर्वज्ञात्मा प्रभृति वैसे विषय के आकार वाली अविद्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं । इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार विषय मात्र के प्रत्यक्ष के लिये तदाकार वृत्ति की अपेक्षा होती है, चाहे वह विषय बाह्य घट, पटादि हो अथवा आन्तरिक सुख, दुःखादि या स्वयं अन्तःकरण हो । हाँ, इतना अवश्य है कि सुख, दुःख, ज्ञानादि अन्तःकरणवृत्तियों को विषय बनाने वाली कोई दूसरी वृत्ति नहीं होती, ये वृत्तियाँ स्वयं अपने को विषय बनाती हैं । पीछे हम लोग देख चुके हैं कि वेदान्तपरिभाषाकार किस प्रकार वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करने से वेदान्तपरिभाषाकार के लिये आन्तरिक प्रत्यक्ष की व्याख्या अपेक्षाकृत सुकर हो जाती है । वृत्ति चूँकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वविषया होती है अतः घटाकार, पटाकार आदि वृत्तियाँ जहाँ एक तरफ घट, पट आदि को विषय बनाती हैं वहीं वह स्वयं अपने को भी विषय बनाती हैं। फलतः जहाँ एक ओर घट, पट आदि विषयों को प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है वहीं उनके ज्ञान को भी प्रत्यक्षत्व प्राप्त होता है। विषय के ज्ञान के साथ ही उस ज्ञान का भी ज्ञान अनिवार्य रूपेण हो जाता है। इसी तरह वृत्ति को स्वविषया स्वीकार करने से अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि के प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित तद् तद् आकार वाली वृत्तियों की भी व्यवस्था सुकर हो जाती है। अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा आदि को विषय बनाने वाली तद् तद् आकारित वृत्तियों को स्वीकार करने में सबसे अधिक दिक्कत यह थी कि अन्तःकरण स्वयं को स्वयं के आकार में भला कैसे डाल सकता है? इसी तरह सुख, दुःखादि जो कि स्वयं अन्तःकरण के आकार विशेष हैं उनको आकारित करने वाली सुखाकार, दुखाकार वृत्ति को भला किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है? अब चूँकि धर्मराज वृत्ति को स्वविषया मान लेते हैं फलतः सुखाकार दुःखाकार इस प्रकार की वृत्तियों की कल्पना उपपन्न हो जाती है क्योंकि इनके विषय स्वयं अन्तःकरण के परिणाम रूप सुख दुःखादि की वृत्तियाँ ही हैं।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत अपनी तमाम अच्छाइयों के बावजूद सुग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। इसमें आने वाली कठिनाइयों पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं। वस्तुतः सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानादि अन्तःकरणवृत्तियों को प्रत्यक्ष होने के लिये तद् तद् आकार वाली वृत्तियों की कोई अपेक्षा नहीं होती है। वृत्त्याकार वृत्त्यन्तर की कल्पना में जहाँ अनवस्था दुर्निवार है वहीं स्वविषया वृत्ति की अवधारणा कर्तृ-कर्म विरोध आदि अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। वस्तुतः अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि केवल साक्षिविषय हैं। उनके प्रत्यक्षत्व की व्याख्या के लिये उनमें वृत्तिविषयत्व मानने की कोई जरुरत नहीं है। देखा जाए तो विषय के प्रत्यक्ष होने में आखिर वृत्ति की भूमिका क्या है? वृत्ति विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य के बीच उपाधिकृत भेद को दूर कर उन्हें अभिन्न कर देती है। विषयचैतन्य और प्रमातृचैतन्य के बीच यह अभिन्नता ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। अब जब विषय स्वयं अन्तःकरण या उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छादि हों तो जाहिर है इन विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में नियमतः अभेद प्राप्त होता है, इसके लिये वृत्ति के मध्यस्थता की कोई जरूरत नहीं होती। यदि कदाचित् यह कहा जाए कि विषय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर चढे हुए अज्ञानावरण को हटाने के लिये (आवरणभङ्गार्थ) तथा प्रमातृचैतन्य का विषय से सम्बन्ध कराने के लिये (चिदुपरागार्थ) वृत्ति की आवश्यकता होती है तो हम सहज समझ सकते हैं कि यह आवश्यकता बाह्य घट, पटादि विषयों को ही होती है । विषय जब स्वयं अन्तःकरण या उसके धर्म सुख, इच्छा, ज्ञान (वृत्ति) आदि हों तो उन्हे भला वृत्ति की क्यों आवश्यकता होगी । स्वच्छ अन्तःकरण की अवस्थाविशेष होने के कारण ही वृत्ति में यह योग्यता होती है कि वह स्वसंयुक्त विषय की जड़ता को अभिभूत कर देती है तथा अपने समान ही उनमे चैतन्य को अभिव्यञ्जित करने की योग्यता ला देती है । अब जिसके कारण उसके सम्पर्क में आई हुई वस्तुओं की जड़ता अभिभूत हो जाती है और उनमें चैतन्याभिव्यञ्जन की योग्यता आ जाती है उसे भला आवरणभङ्गार्थ या चिदुपरागार्थ किसी अन्य की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? वस्तुतः अन्तःकरण और उसकी घटाकारा पटाकारादि वृत्तियाँ या उसके दूसरे सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्म स्वभावतः इतने स्वच्छ होते हैं कि चैतन्य के प्रकाश से नियत युक्त ही रहते हैं और इस कारण उन पर किसी तरह के अज्ञानावरण की बात सोची ही नहीं जा सकती । हमें सुख हो और उस सुख का ज्ञान न हो यह असंभव है । इसी तरह ज्ञान हो और वह ज्ञान एक पल के लिये भी हमारे लिये अज्ञात रहे यह असंभव है । वस्तुतः सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि अन्तःकरणधर्म एक पल के लिये भी हमारे लिये अज्ञात नहीं रहते । अतः न तो आवरणभङ्गार्थ, न चिदुपरागार्थ और न ही जैसा कि पीछे देख चुके हैं अभेदाभिव्यक्त्यथ केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख, इच्छा या ज्ञानादि धर्मों को अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा होती है ।[१७] यदि यहाँ विषय और चैतन्य के बीच सम्बन्ध (चिदुपराग) का अर्थ उनके बीच विषय-विषयीभाव सम्बन्ध लेकर यह कहा जाए कि केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्मों को साक्षिचैतन्य का ही सही 'विषय' बनने के लिये वृत्ति की अपेक्षा होगी क्योंकि बिना वृत्ति के विषय और चैतन्य में विषयविषयिभाव सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, तो भी यह वृत्ति अन्तःकरणवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अन्तःकरण स्वयं अपने आकार में आकारित नहीं हो सकता । अस्तु, यदि इस मत पर आग्रह ही किया जाए कि कोई भी ज्ञान बिना वृत्ति के नहीं होता और कि कोई भी वस्तु चैतन्य का विषय तब तक नहीं हो सकती जब तक वह तदाकार वृत्ति का विषय नहीं बनती, तो केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले अन्तःकरण और उसके सुख, दुःख आदि धर्मों के लिये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तःकरणवृत्ति के बजाए अविद्यावृत्ति मानना ही उचित होगा जैसा कि बाद के कुछ अद्वैत आचार्यों ने इंगित भी किया है । वस्तुतः केवलसाक्षिभास्य कहे जाने वाले सौषुप्त सुख, अज्ञान अथवा प्रातिभासिक या स्वाप्न वस्तु का ज्ञान जैसे साक्षी को तद् तद् आकारित अविद्यावृत्ति द्वारा होता है वैसे ही अन्तःकरण और उसके धर्म सुख, दुःख, इच्छादि के ज्ञान के लिये भी यह मानना उपयुक्त होगा कि साक्षी को इनका ज्ञान अहमाकार, सुखाकार, दुःखाकार आदि अविद्यावृत्तियों द्वारा होता है ।

दर्शन विभाग आनंद मिश्र
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव । बृहदारण्यकोपनिषद्, १/५/३

२. धर्मराजध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, सं. श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८३, पृ. २०

३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३/४/१

४. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ९६

५. तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः ... संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्ति-निबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेष-निबन्धनमित्युपपादितम् । ... अन्येषां त्वयमाशयः ... करणविहेष-निबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम्, न विषयविशेष-निबन्धनम्। धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा, पृ. ३८५-३८७ ।

६. आद्ये प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्निचैतन्यभेद इति ब्रूमः । धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ३७

७. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मा केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति । तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुयादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वादिविषयाकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते । अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनं, वह्न्यादेश्च-क्षुराद्यसन्निकर्षात्। धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ३९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. देखें, धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ३७-४३
९. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ६२
१०. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ६४ ।
११. अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारत् । धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ६४
१२. अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात्। धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ७०
१३. देखें, शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २/२/२८, प्रश्नोपनिषद् भाष्य, ६/२ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, ४/३/७
१४. एवं च ज्ञान सुखादयोऽप्यन्तःकरणवृत्तयः तप्तायः पिण्डाद् व्युच्चरन्तो विस्फुलिङ्गा इव स्वस्वावच्छिन्नेनाऽनित्येन साक्षिणा भास्यन्ते इति...। अप्पय दीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह, सं. श्रीकृष्ण पन्त, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सं. २०११, पृ. २०९ ।
१५. न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम् । न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वं, किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्। धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ७१
१६. अत एवाहंकार-टीकायामाचार्य्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता । धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, पृ. ७२ धर्मराजाध्वरीन्द्र का तात्पर्य प्रकाशात्मन् की उस उक्ति से है जिसमें वे कहते है - अहं वृत्त्यवच्छिन्नमेव अन्तकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते ।
१७. ज्ञान प्रक्रिया में वृत्ति की भूमिका या कार्यप्रणाली को लेकर अद्वैत परम्परा में मुख्यतः तीन मत प्रचलित हैं जिनका नाम से उल्लेख सिद्धान्तलेशसंग्रह में मिलता है । मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रभृति वेदान्त के आचार्यों ने भी एतद्विषयक मतों का संकलन करते हुए वृत्ति के स्वरूप, उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता आदि प्रश्नों का विस्तार से विवेचन किया है । इन मतों के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया में वृत्ति का उपयोग (१) चिदुपराग के लिये (चिदुपरागार्थ) अथवा (२) विषयचैतन्याभेद की अभिव्यक्ति के लिये (अभेदाभिव्यक्त्यर्थ) अथवा (३) आवरणाभिभव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के लिये (आवरणाभिभवार्थ) हो सकता है । जीव को विषयज्ञान में वृत्ति (१) चित् के साथ सम्बन्ध कराती हुयी या (२) कल्पित भेद वाले चैतन्यों के अभेद की अभिव्यक्ति द्वारा अथवा (३) प्रमाता और प्रमेय के बीच स्थित आवरण के भङ्ग या अभिभव द्वारा विषयज्ञान को सम्भव बनाती है ।

१८. दुःखं जानामीत्यादावपि दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षित्वाच्च । मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतसिद्धि, न्यायामृताद्वैतसिद्धी (द्वितीय भाग) सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, १९८६, पृ. ९७७

आस्तां वक्ष्यमाणायाविद्यावृत्तेः विद्यमानसुखादिष्विव तत्रापि तत्काले 'भाती' त्यादिव्यवहारः । गौडब्रह्मानन्द, न्यायरत्नावली, सिद्धान्तबिन्दु, सं. त्र्यम्बकराम शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८९, पृ. २८६

तस्मात् घटाद्याकारवृत्तीनामिव मनस्त्वस्य मनोधर्मत्वस्य च उत्तेकजत्वं वा मनस्सुखादिषु विद्यमा-नेष्वेकैवाविद्यावृत्तिर्वा स्वीक्रियते । गौडब्रह्मानन्द, न्यायरत्नावली, पृ. २८७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखें)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशन का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.

मैं सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं ।

सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैश्विक व्यवस्था और राष्ट्रवाद के संकट

मानवबौद्धिकता का इतिहास पलट कर देखने पर इस निष्कर्ष की प्राप्ति सहज है कि प्रत्येक काल में मानवबुद्धि ने यह अनुभव किया है कि वर्तमान अद्भुतरूप से संकटग्रस्त है, अथवा यह हमारे सामने अभूतपूर्व चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहा है । देशकाल के विविध खण्डों में उपस्थित इन चुनौतियों अथवा संकटों पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि इन संकटों के नाम-रूप भले अलग हों, मूलतः ये सभी चुनौतियाँ एक ही हैं, वे हैं - मानव अस्तित्व, अथवा उसके भी आगे समग्र पृथ्वी के नष्ट हो जाने की आशंका । इस संदर्भ में यह ध्यातव्य हैं कि अपने मूल अर्थ में अस्तित्व अपराजेय ही होता है, और यह भी कि 'अस्तित्व' का अर्थ 'जीवन-मात्र' नहीं होता । अस्तित्व का समग्र बोध एक उच्चतर गरिमा और जीवनमूल्य को अपने भीतर समाहित करता है । इस प्रकार 'अस्तित्व के संकट' का अर्थ इस 'उच्चतर गरिमा और मूल्य का संकट' अथवा उसके 'नष्ट हो जाने की आशंका' भी है ।

'समय' 'काल' का और 'काल' 'मृत्यु' का पर्यायवाची इसी अर्थ में है कि यह सदैव मानव-जीवन को, मानव-जीवन की गरिमा को, मृत्योन्मुख किए रहता है । दूसरी ओर मानव ने प्रत्येक काल-खण्ड में समय के द्वारा प्रस्तुत इन संकटो का सामना भी किया है, इन चुनौतियों पर विजय भी पाई है। मानव सभ्यता का सम्पूर्ण इतिहास काल से मनुष्य के संघर्ष का, मृत्यु पर जीवन के विजय का इतिहास है । काल अथवा समय मनुष्य के सामने सदैव विनाश के बीज फेंकता है और मनुष्य सदैव उन बीजों को पहचान कर नष्ट करने के प्रयास करता है । अपने इस प्रयास में मनुष्य जब, जहाँ कहीं भी चूकता है, ये बीज 'रक्तबीज' बन जीवनी-शक्ति के सम्मुख सर्वग्रासी प्रचण्ड-दुर्दण्ड दैत्य के रूप में उपस्थित हो जाते हैं । स्पष्टतः मनुष्य अब तक कहीं-न-कहीं चूकता आया है कि आज तक ये रक्तबीज नष्ट होने में नहीं आए और आज तक मनुष्य कहीं-न-कहीं जीतता आया है कि ये रक्तबीज मानवी-शक्ति और उसके अस्तित्व को शेष करने में सफल नहीं हो पाए हैं । यही जीवन संग्राम है और निरंतर का यह जीवन-संग्राम ही मनुष्य का शक्ति-पाठ है, और शक्ति-पाठ भी, क्योंकि यदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतीत की भूलें वर्तमान के रक्तबीजों को जन्म देती हैं तो अतीत के संघर्षों से ही मनुष्य वर्तमान के संकटों से जूझने की सूझ और शक्ति भी पाता है ।

प्रश्न है कि वर्तमान समय में जीवन का यह संकट हमारे सामने किस रूप में उपस्थित है - पर्यावरण-प्रदूषण ? तृतीय विश्व युद्ध ? परमाणु युद्ध ? वैश्विक आतंकवाद ?... इन सभी उत्तरों में कुछ-न-कुछ सच्चाई दिखती है । प्रश्न उठता है कि ये तमाम संकट कहाँ से उभरे ? विश्व-व्यवस्था में कहाँ खामी है ? कहाँ मानव-चिंतन चूका कि ये रक्तबीज इस प्रकार पनप आए हैं ?

* * *

वर्तमान विश्व-व्यवस्था एक राष्ट्रवादी व्यवस्था है जिसके तहत विश्वभर में राजनीतिक संप्रुभता सम्पन्न एकाधिक राष्ट्रों का अस्तित्व बना हुआ है । इन समस्त राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की एक सैद्धान्तिक सहमति बनी हुई है । इस सहमति के तहत, सैद्धान्तिक रूप से ही सही, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वाधीनता और संप्रुभता की कद्र करने तथा एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने के लिए बाध्य है । वर्तमान समय में, सैद्धान्तिक रूप से ही सही, राज्य एक लोककल्याणकारी संस्था है जिसका उद्देश्य इसके नागरिकों की हित रक्षा है । इस समय में विविध राष्ट्रों के सहस्तित्व को बनाए रखने के लिए और छोटे-बड़े राष्टों की हित रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से भी प्रतिबद्धता की अपेक्षा की जाती है, जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बने हुए हैं ।

तथापि छोटे-बड़े राष्ट्र पूर्वकाल की भाँति आज भी संकटग्रस्त हो रहे हैं। किसी भी राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित ये संकट दो प्रकार के हो सकते हैं - आन्तरिक और बाह्य । राष्ट्र के सम्मुख आन्तरिक संकट एवं स्वयं देश की जनता और देश की आन्तरिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते है। ये आन्तरिक संकट भी दो प्रकार के हो सकते है - प्राकृतिक (बाढ़, सूखा, भूकम्प, चक्रवात आदि) और अप्राकृतिक (भ्रष्टाचार, उग्रलाद, गृहयुद्ध आदि) । इनमें से प्राकृतिक संकट स्वयं तो राष्ट्र के संप्रुभता के खतरे उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होते किन्तु ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करने की क्षमता इनमें जरूर होती है जिनसे राष्ट्र के सम्मुख संप्रुभता का खतरा अथवा अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाय ।

दूसरी ओर बाह्य संकट शत्रु-देश द्वारा बाह्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपस्थित किया जाता है । मुख्यतः यह संकट युद्ध के रूप में उपस्थित होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। पुनः युद्ध भी दो प्रकार के हो सकते हैं - प्रकट-युद्ध और छद्म-युद्ध । प्रकट-युद्ध सैन्य बल पर आधारित होता है । प्रकट-युद्ध की स्थिति में शत्रु-राष्ट्र प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र की सीमा पर अथवा सीमा के भीतर अपने सैनिक उतार सकता है (सीमा पार का आक्रमण और छापामार युद्ध) । छद्म-युद्ध मुख्यतः कूटनीतिक होता है । इसके चार रूप संभव दिखते हैं - (१) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के बीच शत्रु-राष्ट्र की छवि धूमिल करना, (२) शत्रु-राष्ट्र की शासन प्रणाली के बीच घुसपैठ करके उसकी राजनीतिक शासन प्रणाली को नष्ट करना, (३) शत्रु देश में गृह-युद्ध के कारक पैदा करना, तदनन्तर एक पक्ष को अपना समर्थन देकर शत्रु देश में कठपुतली सरकार बना लेना, (४) शत्रु देश की जातीय एकात्मिकता के भाव तथा जातीय गौरव भाव को नष्ट कर के उसकी जनता का मानसिक सांस्कृतिक अधिग्रहण (सांस्कृतिक युद्ध) । (विविध प्रकार के इन संभावित राष्ट्रीय संकटो को रेखाचित्र-१ से स्पष्ट किया जा सकता है) ।

* * *

वर्तमान युग छद्म का युग है । यहाँ छद्म युद्ध से लेकर छद्म संप्रभुता, छद्म नैतिकता, छद्म संस्कृति आदि सभी कुछ जारी हैं । ऐसा नहीं है कि पृथ्वी पर पहली बार इसी युग में छद्म अवतरित हुआ हो, किन्तु छद्म की विशेषता होती है कि उसे हर बार नए रूप में अवतरित होना होता है, वरना छद्म के खंडित होने, इसके अल्पजीवी होने के खतरे बढ़ते हैं । इस संदर्भ में दुखद यह भी है कि बहुधा या तो मनुष्य अपने पूर्वानुभवों से कुछ सीखता नहीं अथवा अपने पूर्वानुभवों को झुठलाने के हौसले करता रहता है । फलतः वह सब जानते-बूझते बार-बार एक ही छद्म का शिकार होता है । बहुधा इस प्रकार जान-बूझ कर धोखा खाने में लालच, स्वार्थ और मोह की प्रबल भूमिका होती है किन्तु ये स्थितियाँ वस्तुतः 'छद्म के सफलता की स्थितियाँ' न होकर मनुष्य के 'स्व के विफलता की स्थितियाँ' होती हैं क्योंकि छद्म की सफलता के लिए भ्रम का बने रहना जरूरी होती है जबकि लालच, स्वार्थ, मोह और निरूपाय होकर छद्म को स्वीकारने की स्थिति में किसी 'भ्रम' का भाव नहीं होता ।

प्रश्न है कि वह कौन सा लाभ है जिसके कारण मनुष्य जान-बूझ कर मृत्यु के दुष्चक्र में फँस रह है ? वह कौन सा स्वार्थ है जिसमें बंध कर मनुष्य अपने प्राप्य की कीमत दूसरों की जेब से चुकाना चाह रहा है ? वह कौन सा मोह है जो मुनष्य को आगे-पीछ सोचने नहीं दे रहा है ? वह कौन सी मजबूरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि व्यक्ति अपना सारा भविष्य, यहाँ तक कि अपनी संतति और अपना अस्तित्व तक, अंधकूप में विसर्जित करने को तैयार हो गया है ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही है, वह यह कि आम तौर पर व्यक्ति इस व्यापक भ्रम का शिकार होता है कि वह स्वयं अस्तित्व पर मंडरा रहे इस संकट के परे है अथवा यह कि यदि वह छद्म से दोस्ती कर लेगा तो छद्म उसकी रक्षा करेगा । वस्तुतः यह भ्रम उस पहले भ्रम से भी बड़ा है क्योंकि छद्म की तो दोस्ती भी छद्म ही होती है, और यह भी कि जो छद्म एक दिन भस्मासुर बना स्वयं अपने ही सिर पर हाथ रखने को बाध्य है वह कहाँ तक किसी दूसरों की रक्षा कर सकेगा?

छद्म-युद्ध साक्षात्-युद्ध से कहीं अधिक घातक होता है । साम्राज्यवादी शक्तियों ने अब तक के इतिहास से उतनी सीख तो ले ही ली है कि कोई भी बाहरी शक्ति अथवा जाति अथवा व्यक्ति किसी भी देश को चिरकाल तक गुलाम बनाए नहीं रख सकते अथवा 'सुखपूर्वक' उन पर शासन नहीं कर सकते, जैसा कि औपनिवेशक साम्राज्यवाद के विस्तार अथवा संकुचन के दिनों में हुआ था। अतः इन दिनों साम्राज्यवादी आक्रमणों ने अपने रूप बदल दिए है, यद्यपि उनके उद्देश्य अब भी वही हैं - अर्थतंत्र और सत्तातंत्र पर काबिज होकर विविध राष्ट्रों, तथा इस प्रकार बहुसंख्यक जन-समुदाय का शोषण । अपनी इसी समझ के तहत आज साम्राज्यवाद न सिर्फ अपने रूप और अपने औजार बदल रहा है बल्कि सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था का ढाँचा बदलने की फिराक में भी है । विज्ञान और तकनीक की प्रगति ने इस नव-साम्राज्यवादी मंसूबे के हाथ में वह हथियार भी थमा दिया है, जिससे यह अपने इरादों को कामयाब बना सके।

* * *

नव-साम्राज्यवाद के इस नए हथियार का नाम है - 'भूमण्डलीकरण' । साम्राज्यवाद का मिजाज सदैव से पूँजीवाद रहा है - एक ऐसा पूँजीवाद जिसके शिखर पर बैठे मुट्ठी भर लोग समस्त प्राकृतिक संसाधनों और मानव बुद्धि समेत उत्पादन के समस्त मानसिक, बौद्धिक और भौतिक उपागमों-उपक्रमों को अपने कब्जे में लेकर उनका उपयोग-उपभोग अपने हित में कर सकें । ब्रिटिश उपनिवेशवाद के काल में इस पूँजीवाद का स्वरूप औद्योगिक था, जिस पूँजीवाद का एक जरूरी हिस्सा 'कामगार' अथवा आम-आदमी भी था । नतीजन किसी-न-किसी रूप में यह 'कामगार' अथवा 'आम आदमी' 'मालिक' पर थोड़ा या बहुत दबाव बनाने की स्थिति में रहता था । किन्तु वर्तमान समय में विज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और तकनीक के विकास ने पूँजीवाद के इस स्वरूप को और इस पूँजीवाद में मनुष्य की भूमिका को आद्यतन बदल डाला है । आज बड़े-बड़े कल-कारखानों, यहाँ तक कि कार्यालयों, सरकारी गैर-सरकारी उप्रक्रमों तक में मनुष्य का स्थान यंत्र ले रहे हैं । इससे उत्पादन और समूचे अर्थतंत्र में मनुष्य की भूमिका तो बदली ही है, पूँजीवाद का स्वरूप और उसके सिद्धान्त भी अब बदल गए हैं । अब 'औद्योगिक पूँजीवाद' का स्थान 'यांत्रिक पूँजीवाद' ले रहा है जिसके तीन मानव-विरोधी सिद्धान्त है - (१) नियोजन के बगैर लाभ (Profit without job), (२) लागत के बगैर वृद्धि, (Growth without investment), और; (३) किराए पर लो, भाड़ा में झोको (Hire and Fire) की नीति । यांत्रिक पूँजीवाद की ये तीनों ही नीतियाँ औद्योगिक पूँजीवाद की अपेक्षा कहीं अधिक घातक और मानवीय गरिमा के कहीं अधिक प्रतिकूल हैं ।

तकनीकी विकास के कारण अब उत्पादन का स्थान यंत्र लेने लगे हैं । अब वह दिन दूर नहीं दिखता जब सभी कल-कारखानें 'रिमोट' से संचालित होंगे और कारखानों के कामगार 'बेकार' और बेरोजगार होंगे । दफ्तरों में कम्प्यूटर के चलन के कारण 'छँटनी' की प्रक्रिया तो कब की प्रारम्भ हो चुकी है । भारत जैसे विशाल जनसंख्या और मानव संसाधन से समृद्ध देश पर इस यांत्रिक पूँजीवाद के भयावह दुष्परिणाम की कल्पना सहज ही की जा सकती है । पूँजीवाद के इस नए रूप के दुष्परिणाम स्वरूप भूखमरी, गरीबी, बेरोजगारी, अपराध, शोषण, अनैतिकता के एक नये महासमुद्र के पनपने की संभावनाएँ अब बलवती दिखने लगी हैं जिसमें अमीरी के बड़े-बड़े महाशिखर होंगे । बजाहिर इस प्रकार गरीबी और अमीरी के बीच का फासला बढ़ेगा और मध्यम-वर्ग का नामोनिशान मिट जाएगा । भविष्य के समाज की यह तस्वीर बनती नजर आ रही है कि मुट्ठी भर का एक उच्च-वर्ग होगा और विराट समुद्र की तरह फैला सभी सुविधाओं से वंचित, शोषित, दमित निम्न-वर्ग होगा। इसी नयी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में साम्यवादी 'वर्ग-संघर्ष' का रूप और 'इतिहास की अवधारणा' भी बदलती नजर आ रही है । अब मनुष्य 'मालिक' और 'मजदूर' की भूमिका में न रह कर 'निर्माता' और 'उपभोक्ता' की भूमिका में होगा और यह 'निर्माता' भी 'विशुद्ध निर्माता' न होकर 'व्यापारी' भर होगा । यह एक चरम दुखदायी स्थिति होगी क्योंकि अब मनुष्य तथा पृथ्वी और प्रकृति के अन्तर्संबंधों की रूपरेखा बदलेगी, प्रकृति में 'मनुष्य की भूमिका' और 'मनुष्य होने के अर्थ' बदलेंगे ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूँजीवाद के इस बदलते स्वरूप ने साम्राज्यवाद के स्वरूप को भी बदल डाला है । अब साम्राज्य की सत्ता का केन्द्र कोई स्थान-विशेष अपना देश-विशेष न होकर 'भूमण्डल' हो गया है । अब 'पूँजी' अथवा 'अर्थ' का प्रवाह भी आबाद हुआ है । अब एक देश की पूँजी अथवा आर्थिक संसाधन आसानी से दूसरे देश में स्थानांतरित हो जाते हैं, इसमें किसी राष्ट्र-विशेष की सीमाएँ बाधक नहीं हो पातीं । परम्परागत रूप से साम्राज्यवाद का मंसूबा सत्ता पर काबिज होकर आर्थिक दोहन करना होता है । किन्तु अब साम्राज्यवाद का यह रूप भी बदल गया है । आर्थिक-भूमण्डलीकरण के कारण अब आर्थिक-दोहन के लिए सत्ता पर परम्परागत रूप से 'काबिज' होना जरूरी नहीं रह गया है ।अब तो 'सत्ता' का स्वरूप ही राजनीतिक की अपेक्षा आर्थिक अधिक हुआ है । साम्राज्यवाद का यह नया रूप जानता है कि अर्थ-व्यवस्था पर काबिज होने के लिए सत्ता पर काबिज होना जरूरी नहीं । इसके उलट यह नया साम्राज्यवाद अर्थ-व्यवस्था पर काबिज होकर राजनीतिक-व्यवस्था को कठपुतली की तरह नचाने लगा है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण आज के अधिसंख्यक जनतांत्रिक देशों के संसद अथवा समकक्षी संरचनाएँ हैं, जिनके कई महत्त्वपूर्ण विधेयक बिना किसी बहस और चर्चा के सिर्फ इसलिए पारित कर दिए जाते हैं न कि ये विधेयक 'विश्व-बैंक' अथवा 'विश्व-व्यापार संगठन' जैसी संस्थाओं की नीतियों के अनुरूप हैं । सच कहे तो इस भूमण्डलीकरण ने विश्व की समस्त राजनीतिक-संरचना और अब तक के स्थापित समस्त राजनीतिक सिद्धान्तों, प्रतिमानों को ही चुनौती दे डाली है । यह भूमण्डलीकरण 'राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर एक ऐसे अधिराष्ट्रावादी विश्व की संरचना कर रहा है जिसके तहत इस यांत्रिक-पूँजीवाद के शीर्ष पर बैठे कुछ लोग किसी भी राष्ट्र की शक्ति, सत्ता और संप्रभुता को ललकारने की स्थिति में आ गए हैं । इस 'अधिराष्ट्रवादी विश्व संरचना' में अब तक की समस्त राजनीतिक प्रणालियों के आदर्शों - राजतंत्र, प्रजातंत्र, साम्यवाद, समाजवाद आदि- ध्वस्त होते दिख रहे हैं । इस अधिराष्ट्रवादी तंत्र में न तो चुनाव की कोई व्यवस्था है, न कोई विकल्प है । इस अधिराष्ट्रवादी 'मेनिफेस्टो' में न तो 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का आदर्श है न 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के कार्यक्रम ही हैं । यह अधिराष्ट्रवाद अपनी 'प्रजा' के हितचिंतन के लिए न तो बाध्य है, न ही यह किसी भी प्रकार से अपनी जनता के प्रति उत्तरदायी है । इस नई राजनीतिक संरचना की एक मात्र शक्ति 'पूँजी' है और एकमात्र लक्ष्य सत्ता । भूमण्डलीकरण के घोड़े पर सवार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह अधिराष्ट्रवाद पूँजी और सत्ता के ऐसे खेल खेल रहा है जिसमें मुट्ठी भर लोगों के द्वारा विश्व जनसमूह (मल्टीट्यूट) का शोषण संभव होगा ।

* * *

यह 'अधिराष्ट्र' जानता है कि कोई भी राष्ट्र अपनी पूँजी और अपने सैन्य-बल के द्वारा इस युद्ध को जीत नहीं सकता क्योंकि इसने अर्थतंत्र को एक ऐसे 'महाजाल' का रूप दे दिया है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र 'बड़ी मछली' अथवा 'छोटी मछली' की शक्ल में अपनी-अपनी जगह पर फँसा हुआ छटपटा रहा है । यह अधिराष्ट्रवाद यह भी मानता है कि इस युद्ध में उसके खिलाफ यदि कोई हथियार उठ सकेगा तो वह कोई दूसरा 'अधिराष्ट्र' न होकर 'राष्ट्र' जैसी ही कोई संस्था होगी जिसमें उसका हथियार पूँजी अथवा सैन्य बल न होकर 'संस्कृति' होगी । वस्तुतः संस्कृति ही किसी जाति का वह नैतिक-बल और अस्त्र है जिसके बूते 'जाति' 'राष्ट्र' के रूप में एक सूत्रबद्द होती है और तब यह 'राष्ट्र' किसी भी बाह्य अथवा आन्तरिक शत्रु से लोहा ले सकता है । राष्ट्र-विशेष की जातीय संस्कृति और राष्ट्र-विशेष की जनता में पनप रहा उसके जातीय गौरव का अभिबोध आज भी अधिराष्ट्रवाद के मंसूबों पर पानी फेर रहा है । अतः यह अधिराष्ट्र अब विभिन्न राष्ट्रों से उनकी जातीय संस्कृति, एक 'राष्ट्र' के रूप में उनकी विशिष्ट पहचान, छीनने के षड्यंत्र कर रहा है । उसका गणित बिल्कुल सीधा और साफ है । आर्थिक वर्ग में बँटे समाज में परिवर्तन और विकास की जो स्थितियाँ हम पाते हैं उसमें मनुष्य के भीतर विद्यमान उपर उठने की सहज और स्वभाविक प्रवृत्ति के तहत निम्न वर्ग मध्यम वर्ग का और मध्यम वर्ग उच्च वर्ग का अनुसरण करता है । अपने साम्राज्यवादी षड्यंत्र के तहत यह अधिराष्ट्रवाद आर्थिक संवर्गो में बँटे समाज के उच्च वर्ग पर अपने जाल फेंक रहा है । आज के भारतीय समाज पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो इस षड्यंत्र का परिणाम बिल्कुल साफ नजर आता है । आज के भारतीय समाज में हम 'पैसा कमाने' और 'ऐश करने' की ललक में एयरपोर्ट पर पाँव धरे विदेशगामी उच्चवर्ग, 'मैकडोनाल्ड' और 'पिज्जाहट' की ओर भागते विदेशकामी मध्यम वर्ग और दिग्भ्रमित, असफल, लहुलुहान, कुण्ठित निम्न वर्ग को पाते हैं । यह एक बहुत ही खतरनाक संकेत है, जिसे 'चेतावनी' समझना चाहिए ।

जातीय संस्कृति का निर्माण लोक संस्कृति से होता है । स्थानीय भाषा-बोली, खान-पान, रीति-रिवाज, कला-साहित्य, आचार-विचार, रूचि-अरूचि ये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सभी लोक-संस्कृति के अंग हैं । संस्कृति के इन निर्मायक अंगों में समय के अनुरूप बदलाव भी आता है, जो बदलाव स्वतःस्फूर्त होता है । किन्तु जब यह बदलाव किसी बाहरी शक्ति द्वारा प्रायोजित हो तो स्थिति चौकाने वाली और सांस्कृतिक अधिग्रहण की संकेतक होती है । आज अधिराष्ट्रवाद का हमला लोक-संस्कृति के इन्हीं निर्मायक अंगों पर हो रहा है । इस सांस्कृतिक हमले के स्वरूप को पहचानने के लिए अपने देश के भीतर पनप रहे, अथवा पनपाए जा रहे, संस्कृति के बाजार पर दृष्टिपात ही पर्याप्त है । लुभावने विज्ञापनों और विविध 'व्यंजन-कार्यक्रमों' के माध्यम से 'काण्टीनेन्टल फूड' का जो बाजार भारत में तैयार किया जा रह है, वह देशी धन से विदेशी जेब भरने का उपक्रम तो है ही, हमारी देशी रुचि और खान-पान को विदेशी साँचे में ढालने की तैयारी भी है । इसी भाँति भारी स्पान्सरशीप देकर घटिया 'साबुन-नाटक' (सोप-ऑपेरा) के माध्यम से भारत में जिस बाजारू अपसंस्कृति और बनावटी भारतीय संस्कृति के नकली मानदण्ड, आदर्श और व्याख्याएँ तैयार की जा रही हैं, वे सभी इस संदर्भ में गौरतलब हैं ।

दूसरी तरफ भूमण्डलीकरण के शोर-शराबे के बीच यह 'अधिराष्ट्र' एक 'वैश्विक-संस्कृति' की भी बात कर रहा है, जिसका चलताऊ नाम है - 'पॉप-कल्चर' । आर्थिक भूमण्डलीकरण के इस दौर में जिस तरह 'तरल धन' की तरह पूँजिपति भी 'तरल' होने लगे हैं और आसानी से एक स्थान (देश) से दूसरे स्थान (देश) तक 'बहने' लगे हैं, उससे 'पॉप कल्चर' या 'वैश्विक-संस्कृति' के विकास के दावे में थोड़ा दम भी दिखने लगा है । किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि आखिकार कितने लोग इस वैश्विक संस्कृति के अपने आप जीवन का हिस्सा बना पायेंगे या इस वैश्विक संस्कृति के रंग में रंग पायेंगे ? जिनके पास खाने के लिए रोटी और तन ढकने के लिए वस्त्र नहीं है वे 'मैकडोनाल्ड' और 'पिज्जाहट' के ख्वाब कैसे सँजाएगें? जिनके पास साक्षरता नहीं है वे 'पर्सनल कम्प्यूटर' का क्या करेंगे? शब्दान्तर से प्रश्न यह उठता है कि क्या विश्व का प्रत्येक, या कम से कम बहुसंख्यक आदमी भी, अपना घर, अपना देश छोड़ कर इसी प्रकार 'तरलीकृत' हो पाएगा कि भूमण्डलीकरण के इस दौड़ में शामिल हो सके ? जाहिर है कि इस भूमण्डलीकरण की दौड़ में सिर्फ वे ही लोग शामिल हो सकते हैं जो उद्योगपति अथवा कामगार हैं । दूसरी तरफ अब 'कामगार' की परिभाषा भी बदली है । अब का 'कामगार' या तो रोबट - अपना कम्प्यूटर सरीखा कोई यंत्र - है या तकनीकी ज्ञान रखने वाला कोई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्ति। इस नए औद्योगिकीकरण में इस तकनीशियन-इन्सान की भी जरूरत धीरे-धीरे घटने लगी है क्योंकि अब तो ऐसे यंत्रमानव तैयार हो रहे हैं जिनके पास इन्सानों से अधिक तकनीकी ज्ञान होगा और जो स्वयं अपनी अथवा दूसरे यंत्रों की मरम्मत भी बगैर किसी इन्सानी हस्तक्षेप के कर सकेंगे । ऐसे में आम आदमी का क्या होगा ? जाहिर है इस बाजारवाद में आम आदमी की भूमिका सिर्फ उपभोक्ता की होगी, निर्माण में उसकी कोई भागीदारी नहीं होगी । निर्माण में अनुपयोगी होने के कारण वह अपने देश की भौगोलिक सीमाएँ लाँघ कर इस वैश्विक संस्कृति का स्वभाविक अंग हो पाएगा- इसमें संदेह दिखता है ।

तो वैश्विक संस्कृति का यह शोर क्यों ? इसके दो कारण है - प्रथमतः तो यह कि यह पूँजीपति वर्ग चाहता है कि विश्व-संस्कृति के नाम पर विश्व-समुदाय की जरूरतों और रूचियों के एक सामान्य साँचे में ढाल दिया जाय ताकि तरह-तरह की वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता न पड़े और एक ही प्रकार के तैयारशुदा थोक माल के लिए अधिक से अधिक बड़ा विश्व-बाजार खड़ा किया जा सके । इसे वैश्विक संस्कृति को बलात् तैयार करने का एक दूसरा कारण, जो अधिक खतरनाक है, वह यह है कि एक नकली संस्कृति को राष्ट्र की मूल संस्कृति का स्थानापन्न बनाकर विविध राष्ट्रों से उनकी पहचान, उनके जातीय गौरव के अवबोध, को छीना जा सके ताकि राष्ट्रवाद ध्वस्त होकर एक विश्व-व्यापी जन-समुदाय की रचना हो, जिस विश्व-समुदाय का शोषण यह अधिराष्ट्रवाद सुगमतापूर्वक कर सके ।

कहना नहीं होगा कि इतने बडे 'विश्व समुदाय' का राजनीतिक, आर्थिक शोषण आसान नहीं, और इसके अपने खतरे हैं । जैसा कि इन दिनों मार्क्सवादी एक नए उत्साह से भर कर यह दावा करने लगे हैं कि मार्क्सवाद के पनपने के लिए यह नयी विश्व-व्यवस्था अधिक उर्वर दिखती है । मार्क्सवाद के इस नूतन उत्साह में जितना भी दम हो, किन्तु इस वक्त यह कहना मुश्किल है कि अधिराष्ट्रवाद अपने इस तरह के इरादे में कहाँ तक और कब तक कामयाब हो सकेगा ?

* * *

इस संदर्भ का एक बड़ा हमला भाषायी अधिग्रहण का है । इस भाषायी अधिग्रहण के 'मॉडल' को समझने के लिए हम हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं के मामले का इस्तेमाल उदाहरण के तौर पर कर सकते हैं । विगत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ वर्षों में अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय लेखक जिस प्रकार बड़े-बड़े पुरस्कारों और मोटी रॉयल्टियों से नवाजे जा रहे हैं, वह सब चौकाता है । यहाँ यह प्रश्न गैरतलब है कि क्या वस्तुतः कुछ वर्षों में अंग्रेजी पढ़ने-लिखने वाले, और सिर्फ अंग्रजे पढ़ने-लिखने वाले, भारतीयों अथवा भारतीय मूल के लोगों का बौद्धिक स्तर चमत्कारिक रूप से बढ़ गया है । साथ ही यह भी कि क्या अंग्रेजी भाषा में लिखा जा रहा भारतीय साहित्य ही भारत का प्रतिनिधि अथवा सर्वश्रेष्ठ साहित्य है ? यह 'भांगरेजी' लेखन किस दृष्टि से श्रेष्ठ है - भाषा या कथ्य ? क्या हिन्दुस्तानी लेखक उन अंग्रेजी लेखकों से भी बढ़िया अंग्रेजी-भाषा का इस्तेमाल करने लगे हैं जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी है ? अंग्रेजी भाषा में लिखने वाला यह भारतीय लेखक क्या लिख रहा है ? वह जो लिख रहा है वह आदर्शपरक है या यथार्थपरक ? यदि यह लेखन आदर्शपरक है तो यह अपने मानदण्ड कहाँ से प्राप्त कर रहा है - उस हिन्दुस्तान से जिससे, कम से कम भाषा के तौर पर तो निश्चय ही, यह जुड़ा ही नहीं या इतर रूप से जुड़ा हुआ है, अथवा उस विदेश से, जहाँ से यह जातीय (नस्ल) तौर पर नहीं जुड़ता, अथवा इतर रूप से जुड़ता है ? यदि यह भांगरेजी लेखन यथार्थ का चित्रण कर रहा है तो यह यथार्थ कैसा है - देशी अथवा विदेशी ? देश से जिसका सरोकार देशी भाषा जितना भी नहीं है वह देश को कितना और कैसे समझता है ? और यदि वह विदेशी यथार्थ का चित्रण कर रहा है (जिसके बारे में हम बखूबी जानते हैं कि ये भांगरेजी लेखक तथाकथित 'भारतीय यथार्थ' के चित्रण के लिए ही नवाजे जा रहे हैं) तो क्या विदेशी यथार्थ को पकड़ने-समझने में यह उन लोगों को भी पीछे छोड़ गया है जिनका वास्ता रोज-रोज इस यथार्थ से पड़ता है और जिनकी रगों में यह यथार्थ रचा-बसा है ? यहाँ यह प्रश्न भी है कि कहीं ये लेखक, फिल्मकार अथवा संस्कृतिकर्मी अन्तरराष्ट्रीय समुदाय में भारत की सतही, भद्दी, बनावटी अथवा चिंताजनक रूप से निचले दर्जे की छवि प्रस्तुत करने के एवज में तो नहीं नवाजे जा रहे हैं ? यदि 'हाँ' तो उस प्रयास से चौकन्ना हो जाने की जरूरत है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शत्रु-राष्ट्र की छवि धूमिल करना भी छद्म-युद्ध का एक रूप है ।

दूसरी तरफ भांगरेजी लेखकों को बढ़ावा देना भाषायी अधिग्रहण के भी संकेत देता है । यहाँ इशारा साफ है कि 'यदि अंग्रेजी में लिखोगे-पढ़ोगे तो लाखों में खेलोगे और यदि हिन्दी में अटके-लटके रहे तो खाक छानते नजर आओगे ।' यह भाषायी अधिग्रहण कोई मामूली चीज नहीं है । कहा जाता है कि किसी भी राष्ट्र का हृदय इसकी संस्कृति में धड़कता है और इस हृदय की धड़कने राष्ट्रभाषा में सुनी जा सकती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। जाहिर है, यह भाषायी अधिग्रहण सांस्कृतिक और तदनुरूप राष्ट्रीय अधिग्रहण का एक रूप है । भारत जैसे बहुरंगी देश में तो राष्ट्रभाषा और जातीय-संस्कृति के प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ भाषा और संस्कृति ही एक 'अखण्ड राष्ट्रवाद' की रचना करते हैं।

भारत में हिन्दी के बरअक्स जहाँ एक ओर अंग्रेजी को खड़ी करने की कोशिशें हो रही हैं वही दूसरी ओर हिन्दी बनाम 'क्षेत्रीय भाषा' अथवा 'मातृभाषा' के विवाद को भी उभारा जा रहा है । हिन्दी राष्ट्र के खिलाफ किए जाने वाले इस भाषायी षड्यंत्र को समझने की जरूरत है । हमें यह बात साफ-साफ समझ लेनी होगी कि हिन्दी किसी भी मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा की प्रतिद्वन्द्वी भाषा नहीं है । इसके उलट हिन्दी इन समस्त मातृभाषाओं और क्षेत्रीय भाषाओं की दुहिता है । हिन्दी हिन्दुस्तान के विविध खण्डों में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं से ही अपने संस्कार और व्यवहार ग्रहण करती है । हिन्दी इसी अर्थ में उस विराट भारत की राष्ट्रभाषा है कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतवासी अपनी मातृभाषा के मूल संस्कारों के साथ हिन्दी बोलता है फिर भी हिन्दी 'हिन्दी' ही बनी रहती है । जहाँ तक मातृभाषा का प्रश्न है, हम हिन्दुस्थानियों के लिए बेहतर होगा कि हम अपनी मातृभाषा बोलें, लिखें, पढे, उससे प्यार करें, इसकी समृद्धि के प्रयास करें और यह सब करते हुए इस बात को कतई न भूलें कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, हमारा राष्ट्रीय और जातीय गौरव है, साथ ही यह भी कि वह हिन्दी ही है जिसने हम भारतवासियों के बीच अभिव्यक्ति के सेतु बना रखे हैं जिससे हम संवेदनात्मक स्तर पर परस्पर जुड़ पाते हैं, अतएव, हम किसी भी मातृभाषा से इस प्रकार प्रतिबद्ध न हों कि उस प्रतिबद्धता की कीमत राष्ट्रभाषा हिन्दी को चुकानी पडे ।

भूमण्डलीय व्यवस्था में सूचनातंत्र और इन्टरनेट के बढ़ते प्रभाव के कारण हिन्दी का संकट और गहराया है । सूचना तंत्र का एक महत्त्वूर्ण उपरकण है कम्प्यूटर। कम्प्यूटर की अपनी एक भाषा है जो आम भाषा से अलग है । आम आदमी के व्यवहार में लाने के लिए कम्प्यूटर की इस यांत्रिक भाषा को सामान्य व्यवहार की भाषा में अनूदित करना होता है । भूमण्डलीय व्यवस्था में हिन्दी का अपदस्थ होना यहीं से प्रारम्भ होता है क्योंकि आम तौर पर कम्प्यूटर की भाषा को जिस सामान्य व्यवहार की भाषा में अनूदित किया जाता है - वह भाषा अंग्रेजी है । इसका कारण बतलाते हुए कहा जाता है कि अंग्रेजी भाषा अधिक सरल, अधिक वैज्ञानिक और अधिक समृद्ध तथा प्रयोग की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय है । साथ ही हिन्दी के खिलाफ एक दुष्प्रचार यह भी किया जाता है कि अंग्रेजी के बरअक्स हिन्दी के लिए आग्रहशील

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने पर अथवा अंग्रेजी नहीं जानने पर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से जुड़ना संभव नहीं होगा।

हिन्दी के खिलाफ यह सारा दुष्प्रचार तथ्यहीन है । यदि लोकप्रियता और प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी की तुलना अंग्रेजी से करें तो विश्व समुदाय में हिन्दी बोलने वालों की संख्या अंग्रेजी समझने-बोलने वालों की अपेक्षा अधिक और बहुत अधिक है, कम नहीं । जहाँ तक लिपि की सरलता का प्रश्न है रोमन लिपि देवनागरी की अपेक्षा सरल जरूर है क्योंकि मात्र छब्बीस वर्ण मिल कर ही समूची अंग्रेजी भाषा का बोझ उठा लेते हैं । किन्तु दूसरी ओर इस सरलता की कठिनाईयाँ भी हैं । वह इस प्रकार कि मात्र छब्बीस अक्षरों के मेल से विविध प्रकार की ध्वनियों का लिप्यांकन यहाँ संभव नहीं होता, उदाहरणार्थ यहाँ 'टाटा' और 'ताता' दोनों ही ध्वनियाँ 'tata' के रूप में लिखी जाती हैं । इस प्रकार के अनेक दृष्टांत मिलते हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषायी दृष्टि से हिन्दी अधिक वैज्ञानिक और लिपि के रूप में देवनागरी अधिक सुदृढ़ है ।

इस संबंध में हिन्दी प्रेमियों के लिए एक अच्छी खबर भी सामने आई है जिसका उल्लेख संदर्भवश अपेक्षित है, वह यह कि कम्प्यूटर और इन्टरनेट के लिएं विकसित की जा रही एक सर्व-स्वीकार्य भाषा - 'विश्व भाषा' - (यह नाम भी भूमण्डलीकरण के संदर्भ में चौंकाता है) के निर्माण में हिन्दी की महती भूमिका है । विश्व भाषा के निर्माण में जुटे टोकियो (जपान) स्थित नेटवर्किंग विश्वविद्यालय ने यह अनुभव किया है कि विश्व की महत्त्वपूर्ण पंद्रह भाषाओं में हिन्दी भी एक है जिसे कम्प्यूटर नेटवर्क से जोड़े बिना कम्प्यूटर को घर-घर तक पहुँचाया जा सकना असंभव है । इस भाषायी सुगमता के लिए कम्प्यूटर में 'कनवर्टर' और 'डी-कनर्वटर' के इस्तेमाल की बात सोची जा रही है ताकि बटन दबाते ही विश्व-भाषा उपभोक्ता की अपनी भाषा में मॉनीटर पर आ जाय। उसके लिए हिन्दी समेत विश्व की पंद्रह भाषाओं की मदद से एक शब्दकोष और 'कनवर्टर' 'डी-कनवर्टर' का निर्माण तथा विकास मुम्बई स्थित भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान कर रहा है । अब ऐसा लगता है कि इस प्रयास की सफलता के बाद विश्व की दूसरी भाषाएँ अंग्रजी के वर्चस्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चुनौती दे पाएगी और इस घटिया बहानेबाजी का सारा दम-खम निकलता नजर आएगा कि हिन्दी में काम-काज करने वाले लोग अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से जुड़ नहीं सकेंगे।

* * *

विश्व-व्यवस्था का वर्तमान संकट किसी राष्ट्र-विशेष का संकट नहीं है। इसके बजाय यह संकट 'राष्ट्रवाद' का संकट है । यदि यह मान लिया जाय कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भविष्य में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पूर्णतः सफल हो जाएगी तो इस बात की संभावना बनती है कि तब राष्ट्रों का अथवा छोटे राष्ट्रों का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा, अथवा रहेगा भी तो 'टोकन' के रूप में । तब भविष्य में एक ऐसी भूमण्डलीय राजनीतिक व्यवस्था संभव होगी जिसमें छोटे-बड़े राष्ट्रों के स्थान पर एक विराट् वैश्विक समुदाय होगा जिसकी वास्तविक संप्रभुता एक अधिराष्ट्र के हाथ में निहित होगी । यह अधिराष्ट्र साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में सभी राष्ट्रों और इस रूप में समग्र पृथ्वी के विराट जनसमुदाय का भाग्य-विधाता होगा । फिलवक्त इस 'अधिराष्ट्र' की जो संकल्पना आकार लेती दिख रही है उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह अधिराष्ट्र किसी परम्परागत साम्राज्य से भिन्न होगा । यह भिन्नता मुख्यतः इस अर्थ में होगी कि अब तक जब कभी इस पृथ्वी पर साम्राज्यवाद उदित हुआ है, इसका स्वरूप चाहे जैसा भी हो, साम्राज्यवादी शक्तियाँ किसी-न-किसी 'राष्ट्र-विशेष' के हाथ में निहित रही हैं । किन्तु भविष्य के इस 'अधिराष्ट्र' में सत्ता का केन्द्र कोई राष्ट्र-विशेष न होकर एक ऐसा छोटा वर्ग अथवा समूह होगा जिसका अपना आग्रह न तो किसी राष्ट्र-विशेष के प्रति होगा और न ही इसके भीतर देश-प्रेम का कोई जज्बा होगा । यह 'अधिराष्ट्र' अथवा 'क्षुद्र मानव-समूह' समस्त उदात्त मानवीय भावनाओं के इतर स्वार्थ-भाव से संचलित होगा जिसकी एकमात्र शक्ति यंत्र और पूँजी का समन्वय (यांत्रिक पूँजीवाद) होगा ।

हमारी भारतीय परम्परा में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' - विश्व परिवार - का आदर्श निरूपित है । यह एक ऐसी मानवतावादी परिकल्पना है जिसके तहत विश्व के समस्त प्राणी योनी, जाति, धर्म, नस्ल एवं राष्ट्र आदि के समस्त भेदों से ऊपर उठकर सहअस्तित्व बनाए हुए एक साथ रह सकते हैं । यहाँ प्रकृति साझी है, पृथ्वी साझी है और जीवन के प्रत्येक सुख-दुख साझे हैं । इस विश्व-परिवार में सर्वत्र जीवन का आदर है और किसी का किसी के द्वारा शोषण संभव नहीं । यह एक ऐसा विश्व है जहाँ सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का साम्राज्य है, जहाँ मानवीय संवेदनाओं का एक उच्चतर मूल्यपरक अनुशासन है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है और इस अपरिमित आनन्दलोक में अबाध विचरण करता मनुष्य अपने विकास की उच्चतर स्थितियों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है ।

यद्यपि वर्तमान विश्व-ग्राम की समसामयिक संकल्पना भी देश, जाति, धर्म की सीमाओं को तोड़ती दिख रही है तथापि यह विश्व-ग्राम उस आनन्द-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोक की सृष्टि करता नहीं दिख रहा है जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यवस्था कोई राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था नहीं । यह उच्चतर मानव-मूल्यों की एक समष्टिपरक जीवन-व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति की विराट अन्तश्चेतना 'समष्टि' अथवा 'वसुधा' का रूप धरती है । यह 'एकत्व-भाव' 'भेड़िये की माँद', जैसी 'सर्वग्रासी एकात्मकता' नहीं है । इस 'एकत्व' में 'प्रत्येक' की संभावना निहित है । यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ) के साथ 'तत्त्वमसि' (तुम भी वही हो) का समन्वय है । इसके उलट 'विश्व-ग्राम' की अधुनातन संकल्पना एक ऐसी जड़, यांत्रिक एकरूपता की संकल्पना है जिसमें 'समूह' तो संभव होगा किन्तु 'व्यक्ति' नहीं । 'व्यक्ति-रहित' यह समूह निश्चय ही या तो यांत्रिक होगा अथवा पाशविक । वस्तुतः जीवन की जितनी गरिमा 'विराटता' में है उतनी ही 'विशिष्टता' में भी है । दूसरी ओर मानव-समाज के लिए जितनी आवश्यकता 'समत्व' की है, उतनी ही 'व्यक्तित्व' की भी है । मनुष्य के 'व्यक्ति' अथवा 'जाति' के वैशिष्ट्य को नष्ट कर उसे एकरूप मशीनी साँचे में ढ़ाल लेने वाले विश्व-समाज की रचना न तो संभव है, न उचित । इस प्रकार की वैश्विक-व्यवस्था न तो जीवन का यथार्थ है, न चिंतन का आदर्श। यह विश्व-ग्राम एक ऐसी ही आतंकपरक संरचना में लिप्त दिखता है जहाँ यंत्रपरक अर्थोन्मेष में उन्मत्त मानव-अहंकार समस्त मानव-समाज को अपने विश्व-विजयी कामनाओं के पैरों से रौंदकर मटियामेट कर देने को आतुर है ।

ऐसा होने के कारण हैं । मानव यदि सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) की लौकिक अभिव्यक्ति न होकर एक मनो-जैविक संरचना (साईको फिजिकल ऑरगेनिज्म) - मात्र हो तो भी, मानव-व्यक्तित्व के तीन पक्ष तो हमें स्वीकार करने ही होंगे - क्रियात्मक, बौद्धिक और भावनात्मक । वर्तमान समय में यंत्रवाद, तकनीकवाद, व्यवहारवाद, पूँजीवाद, जैसे भौतिकवादी सिद्धान्तों के कारण 'विकास' की परिभाषा बदली है । विकास की इस बदलती परिभाषा में मनुष्य के विकास का मापदण्ड उसका 'आर्थिक विकास' होकर रह गया है । जिसके पास जितना अधिक पैसा, जितने अधिक आर्थिक संसाधन, वह उतना 'बड़ा आदमी' । इस आर्थिक दौड़ के लिए मनुष्य की क्रियात्मक और बौद्धिक क्षमताओं की आवश्यकता तो है, किन्तु भावनाएँ इस आर्थिक-यांत्रिक विकास में बाधक ही सिद्ध हो रही हैं । फलतः इस दौर में मनुष्य का क्रियात्मक-बौद्धिक विकास तो खूब हुआ है किन्तु अर्थलोलुप्ता की इस चूहा-दौड़ में मानव व्यक्तित्व के तीसरे पक्ष-भावनात्मक पक्ष - की खूब क्षति हुई है । इस दौर में यह दुष्प्रचार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहुत जोरों से हुआ है कि भावनाएँ मनुष्य को पशु बनाती हैं और यह विवेक अथवा बुद्धि ही है जो मनुष्य को अन्य मानवेतर प्राणियों से अलग करता है। इस अति-बौद्धिकतावादी उत्साह में भावनाएँ, मानवीय संवेदनाएँ, कहीं पीछे छूटी हैं। अब मानव एक संवेदनरहित बौद्धिक-आर्थिक मशीन भर होकर रह गया है। इस प्रकार भूमण्डलीकरण के इस युग का मनुष्य खण्डित अथवा अधूरा है। कहें तो यह विश्व-ग्राम एक खण्डित व्यक्तित्व वाले मानव (?) की रचना पर खड़ा है। प्रश्न है कि ऐसा आधा-अधूरा मनुष्य क्या किसी भी ऊँचाई को छू सकता है ?

आज साहित्य, कला और संस्कृति - कर्म हाशिए पर हैं। इन्हें हाशिए से भी बाहर 'अनावश्यक' अथवा 'समय का अपव्यय' घोषित करने की चेष्टाएँ हो रही हैं। यह मानवीय गरिमा के घातक पराभाव की स्थिति है। प्राणी-विज्ञान सजीव और निर्जीव के बीच यह भेद करता है कि सजीव में संवेदना होती है और निर्जीव संवेदनरहित होता है। स्पष्टतः संवेदना की उपेक्षा 'जीवन से जीवन को खारिज' कर देने जैसा है। इसके भी आगे समस्त प्राणियों में मात्र मनुष्य ही ऐसा है जो अपनी प्रकृति प्रदत्त प्रजननात्मक शक्ति से अलग, अपनी संवेदनशीलता और तज्जन्य कल्पनाशीलता से सृजन करता है। इस मानवीय सृजन की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति कला-साहित्य और संस्कृति-कर्म में होती है। यही कारण है कि काव्य-कला विहीन मनुष्य की तुलना 'सींग-पूँछ रहित पशु' से की गई है। स्पष्टतः समाज में साहित्य, कला और संस्कृति का 'निरर्थक' हो उठना एक ऐसे मूल्यहीन आदम-समाज की रचना कर रहा है जहाँ मनुष्य अपनी मानवीय गरिमा से वंचित होकर पशुतुल्य हो उठता है।

यह अधुनातन विश्व-ग्राम अपने आर्थिक-यांत्रिक उपागमों से एक ऐसे मानव-समाज की रचना करता दिख रहा है जहाँ अकल्पनीय दुःख और गरीबी के महासमुद्र के बीच यांत्रिक सुविधा से सम्पन्न किन्तु मानवीय आनन्द से अनभिज्ञ, मनोरोग से बिलबिलाते अमीरी के अकल्पित उत्तुंग महाशिखर होंगे। यह विश्व-ग्राम 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रवाद' को मटियामेट कर ऐसे 'अधिराष्ट्र' अथवा क्षुद्र-सत्ता-समूह की रचना कर रहा है जिसके द्वारा अधिसंख्य मानव समुदाय का अधिकाधिक शोषण संभव होगा। इस अर्थलोलुप विश्व-ग्राम में ऐसी अभूतपूर्व कारीगरी संभव दिख रही है कि एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के शोषण का रोना कौन, एक मनुष्य द्वारा स्वयं अपना ही शोषण संभव होगा। इस अर्थलोलुप विश्व-ग्राम में मानवीय गरिमा और उच्चतर मानवीय विकास की चिंता कैसे संभव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगी जबकि मनुष्य स्वयं को ही एक आर्थिक 'उपकरण' और सुविधाभोगी 'संयंत्र'-मात्र मान बैठा है ?

* * *

जिस 'विश्व-ग्राम' की संरचना में आज विश्व प्राणपण से जुटा है उसी विश्व-ग्राम की यह संकल्पना संभव है किसी को अतिरेकपूर्ण दिखे किन्तु तर्क-बुद्धि 'प्रदत्त' के आधार पर ही निष्कर्ष की खोज करती है । दार्शनिक-चिंतक भविष्यवक्ता नहीं भविष्यद्रष्टा होते हैं । वे काल-गणना नहीं, काल-चिंतन करते हैं । वर्तमान समय में 'विश्व-ग्राम' और भूमण्डलीकरण समय की छाती पर जो अपने चरणचिह्न अंकित कर रहे हैं, उन चरण-चिह्नों की दिशा भूमण्डल के इसी भविष्य का संकेतक है । यही वर्तमान का 'प्रदत्त' है जिसके आधार पर तर्क-बुद्धि, और उसके परे भी अन्तश्चेतना, इस भविष्य-दर्शन के लिए बाध्य है कि यदि युग अपनी परिपाटी नहीं बदलता तो उपरोक्त स्थिति अथवा इससे मिलती-जुलती किसी अन्य स्थिति से बचना असंभव होगा ।

इस विकट परिस्थिति में वेदव्यास की यह दुखभरी चेतावनी पुनः प्रासंगिक हो उठी है -

उर्ध्वबाहुः विरौम्येष न च कश्चित् श्रृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्चकामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

- "मै उर्ध्वबाहु होकर हाहाकार कर रहा हूँ कि अर्थ और काम तो धर्म ("धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षमण् ॥") के निमित्त हैं, उनका तत्पूर्वक सेवक क्यों नहीं करते? किन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता, नहीं सुनता !"

डॉ. नीलिमा सिन्हा
विश्वविद्यालय प्राचार्य
दर्शनशास्त्र विभाग,
मगध विश्वविद्यालय,
बोधगया ८२४ २३४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव अधिकार : सार्वभौमिक या संस्कृति सापेक्ष

शीत युद्ध की समाप्ति और समाजवादी स्वप्न के खंडित हो जाने के पश्चात् मानव अधिकारों की अवधारणा धीरे-धीरे एक वैकल्पिक विचारधारा के रूप में उभर कर सामने आयी है। यद्यपि ऐतिहासिक एवं दार्शनिक रूपों में मानवाधिकार का विचार एक आधुनिक विचार है किन्तु आज मानवाधिकारों की व्यापक चेतना और स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि यह मनुष्य की कुछ गहरी जरूरतों को रेखांकित करता है। वास्तव में मानवाधिकार का दर्शन आधुनिक चिन्तन की एक महती उपलब्धि है जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों से दिन ब दिन और ज्यादा प्रामाणिक बनता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में सदस्य राष्ट्रों द्वारा मान्य मानव अधिकारों की सूची में आये क्रमिक परिवर्तन, परिस्थितियों के बदलाव के साथ इसके सम्प्रत्यात्मक विकास की ओर इंगित करते हैं। यह वैचारिक चुनौती कई मूलभूत प्रश्नों के रूप में सामने आयी है। प्रथम, जब तक मनुष्य की मूलभूत आवश्यकतायें पूरी नहीं हो जातीं, मानव अधिकारों का उसके लिए क्या महत्त्व हो सकता है, विशेषकर विकासशील देशों में जहाँ की अधिसंख्य जनता अभी भी गरीबी की सीमा रेखा के आस-पास जीवन निर्वाह करती है ? द्वितीय, मानवाधिकारों को कानूनी जामा पहनाने के लिए राज्य पर अतिनिर्भरता क्या अन्य सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की ओर से हमारा ध्यान हटा नहीं देते जो मानव अधिकारों के हनन के लिए जिम्मेदार हैं ? तृतीय, क्या मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए हिंसा का सहारा लेना उचित है जबकि हिंसा का प्रयोग उसके हनन के लिए किया जा रहा हो ? राष्ट्रीय सुरक्षा से जुडकर यह सवाल और भी जटिल हो जाता है जब मानव अधिकारों के पक्ष में की जानेवाली और उसके नाम पर की जाने वाली राजनीति को अलगाना कठिन हो। यहीं एक बडे सवाल से भी हमारा सामना होता है कि क्या मानव अधिकार मात्र एक बचाव या आत्मरक्षा है ताकि हम पूरी तरह कुचल न दिये जायें याकि मानव अधिकारों का संघर्ष वस्तुतः बेहतर मानवीय व्यवस्था का ही संघर्ष है ? पूर्व में इन प्रश्नों पर काफी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचार-विमर्श हुआ है जिसके परिणाम स्वरूप मानव अधिकारों की सूची में सिर्फ नागरिक और राजनैतिक अधिकार ही नहीं रह गये हैं, उनमें सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को भी स्थान मिल गया है; आज जीवन का कोई क्षेत्र उनसे अछूता नहीं है। किन्तु भूमण्डलीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के कारण तेजी से बदलते आज के परिदृश्य ने कुछ नये प्रश्न/चुनौतियाँ भी प्रस्तुत की हैं। आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के चलते दुनिया एक मुक्त बाजार में बदलती जा रही है जिसमें मनुष्य की हैसियत मात्र एक उपभोक्ता की है। आधुनिकीकरण की तीव्र होती प्रक्रिया ने न केवल विभिन्न सांस्कृतिक समाजों को आमने-सामने कर दिया है अपितु उनके आंतरिक और वाह्य अन्तर्विरोधों को भी उजागर किया है। जहाँ एक ओर परम्परागत जीवन शैलियों पर सवाल उठ खडे हुये हैं वहीं एक शून्य भी उभरा है जिसे आयातित उपभोक्तावादी जीवनशैली से भर पाना सम्भव नहीं है। संशय, तनाव, विग्रह, असुरक्षा और समायोजन की प्रक्रिया से गुजरते परम्परागत समाजों में मनुष्य सुरक्षा कवच के रूप में, अपनी अस्मिता की रक्षा हेतु प्राचीन परम्पराओं की ओर देखने लगा है। कहीं यह रूढिवाद, मूलतत्ववाद के रूप में सामने आया है तो कहीं इसने परम्परा की युक्तिसंगत, प्रभावी व्याख्या को भी प्रश्रय दिया है। किन्तु यहीं पर विभिन्न संस्कृतियों के आपसी टकराव की समस्या भी उभरने लगी है जिसे कुछ चिन्तकों ने नयी शताब्दी की सबसे गम्भीर समस्या माना है। उपरोक्त परिस्थितियों में मानव अधिकारों की अवधारणा की सार्वभौमिकता पर प्रश्न चिह्न उठ खडे हुये हैं। यह पूछा जाने लगा है कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं और टकरावों के रहते मानव अधिकारों का संघर्ष क्या सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है ? क्या संस्कृतियों के बीच आपसी सामन्जस्य से एक वैकल्पिक विश्व संस्कृति का उदय सम्भव है जो इस संघर्ष को वैचारिक आधार प्रदान करता हो ? मानव अधिकारों के दर्शन की सीमित सफलता के पीछे क्या उन्हें सार्वभौमिक मानने की वैचारिक भूल है ? मानव अधिकारों की अवधारणा क्या एक पाश्चात्य अवधारणा है जो वहीं की संस्कृति के अनुकूल है और जिसे पूर्व के समाजों पर सफलता पूर्वक आरोपित नहीं किया जा सकता ? समसामायिक विसंगतियों और वर्तमान संकट का औचित्यपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने के लिये क्या हमें सार्वभौमिक मानव अधिकार की अवधारणा को तिलांजलि देकर संस्कृति सापेक्ष मानव अधिकार की अवधारणा को अपनाना चाहिये ? और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि यह सच है तो इसका भारतीय प्रारूप क्या होगा ? प्रस्तुत लेख इन्हीं प्रश्नों पर विचार का एक प्रयत्न मात्र है।

(१)

मानव अधिकार वे अधिकार हैं जो मनुष्यों को मनुष्य होने मात्र से प्राप्त होते हैं। ये इस बात पर निर्भर नहीं करते कि व्यक्ति किस धर्म, राष्ट्र, जाति या लिंगपरक अस्मिता से सम्बंध रखता है। व्यक्तित्व की स्वीकृति एवं प्रतिष्ठा मानवाधिकार सम्बंधी विमर्श का मूल स्रोत है। समाज की अवहेलना इसका आशय नहीं है किन्तु इसकी मूल मान्यता यही है कि किसी भी सामाजिक या राजनैतिक पहचान से परिभाषित होने से पहले प्रत्येक मनुष्य 'व्यक्ति' है जिसका असहमति और अभिव्यक्ति के दमन का अधिकार किसी भी सामाजिक या राजनीतिक सत्ता-तंत्र को नहीं होना चाहिये। समाज और व्यक्ति के बीच व्यक्ति प्राथमिक है। इसलिये सामाजिक जीवन का उद्देश्य व्यक्तियों का कल्याण और विकास है। व्यक्ति अपने में उद्देश्य है, वह किसी श्रेष्ठतर उद्देश्य के लिये साधन नहीं है। व्यक्ति की गरिमा की स्वीकृति ही मानव अधिकारों का उद्देश्य है। स्वतंत्रता और नैतिकता इसके बुनियादी मूल्य हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से, सार्वभौमिक अधिकारों की अवधारणा और संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान घोषणा-पत्र के पीछे पाश्चात्य चिन्तन की १७वीं शताब्दी से विकसित होती परम्परा है जो औद्योगिक क्रान्ति, राष्ट्रवाद का उदय, मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं और उदारवादी राजनीति के विकास का परिणाम है। पाश्चात्य इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं (इंग्लैण्ड का बिल ऑफ राइट्स १६८६) अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा १७७६, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति १८८६ और विचारकों (लाक, रूसो, जेफरसन आदि) के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता। पश्चिमी उत्स के बावजूद मानव अधिकारों का एक सार्वभौम स्वरूप उभर कर सामने आया है। एक मान्यता यह है कि मानवाधिकार की यह अवधारणा समूची दुनिया के लिये व्यवहार्य है। जबकि दूसरी मान्यता यह है कि इसके निर्धारण में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना चाहिए। स्थिति विकट उस समय हो जाती है जब सांस्कृतिक सापेक्षता की दुहाई देकर किसी ऐसे व्यवहार को संरक्षण प्रदान किया जाता है जो सार्वभौमिक मानव अधिकारों के दृष्टिकोण से मानव-अधिकारों के हनन के श्रेणी में रखा जाना चाहिए। विवाद के समाधान के लिये दोनों पक्षों के तर्कों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को परखना अनिवार्य है। आइये पहले देखें कि सापेक्षवादियों के सार्वभौम मानव-अधिकारों के विरुद्ध तर्क क्या हैं-

१) सार्वभौमिक मानवअधिकारों की संकल्पना झूठी है क्योंकि मानव व्यवहार की श्रेष्ठता का पैमाना उसी समाज के सापेक्ष होता है जिसमें वह व्यवहार घटित होता है। चूँकि अनेक संस्कृतियाँ हैं और नैतिक रूप से सभी का स्तर समान है इसलिये सभी की अलग अलग कसौटियों में किसी एक को श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता है। अतः सार्वभौमिक, सर्वस्वीकृत मानदण्ड सम्भव ही नहीं है।

२) मानव अधिकारों का वर्तमान भाष्य पश्चिम-केन्द्रित है इसलिये इसे गैर पश्चिमी देशों पर थोपना औपनिवेषिक साम्राज्यवाद का प्रतीक है और उसकी स्वीकृति मानसिक दासता की द्योतक है।

३) उपरोक्त धारणा (मानव अधिकार) योरोपीय परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती है जो अन्य समाजों की संस्कृतियों के अनुरूप नहीं। योरोप में मानव-अधिकारों के पीछे व्यक्तिवादी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है जो भारत जैसे समाजों के 'लोक-कल्याण' के सांस्कृतिक आदर्श से मेल नहीं खाता।

४) मानव अधिकार की अवधारणा में अधिकार पहले हैं और कर्तव्य बाद में जबकि कई प्राचीन परम्पराओं जैसे भारत में कर्तव्यों को प्राथमिकता दी गयी है।

५) ऐतिहासिक रूप से विकसित होने के कारण मानव अधिकारों की अवधारणा में बराबर परिवर्तन होते आये हैं। जब तक सभी समाजों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर को मिटा न दिया जाए किन्हीं सार्वभौमिक अधिकारों के संघर्ष की बात करना बेमानी होगी।

६) यह सांस्कृतिक विभिन्नता के स्थान पर सांस्कृतिक एकरूपता लाने का प्रयास है।

७) मानव अधिकारों के संरक्षण का दायित्व स्वयं उस सांस्कृतिक परम्परा का है जिसमें उन अधिकारों का प्रावधान है और वे उसमें सक्षम हैं। सार्वभौमिक मानवाधिकारों की अवधारणा परम्परागत संस्कृति के इस कार्य में बाधा उत्पन्न करती है। संरक्षण के लिये राज्य और कानून पर अतिनिर्भरता से राज्य के संस्कृतिनिरपेक्ष हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

८) मानव अधिकारों के वर्तमान भाष्य में समूहगत अधिकारों का कोई प्रावधान नहीं है जबकि व्यक्ति का नैतिक विकास विभिन्न समूहों के सदस्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के रूप रूप में ही होता है। अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि एक ही अधिकार के लिये व्यक्ति और समूह में टकराव होने पर किसे प्राथमिकता दी जाए।

उपरोक्त आरोपों का खंडन/मंडन करने के पूर्व सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न के ऐतिहासिक उभार को समझना जरूरी है। औपनिवेशिक काल में, पश्चिम के मानवशास्त्रियों द्वारा, गुलाम देश की संस्कृतियों को हीनतर, जंगली और पिछडी मानने की परम्परा थी जो गुलाम बनाने वाले देशों की सांस्कृतियों को एक उच्चतर स्तर प्रदान करती थी। किन्तु दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् जब उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष तीव्र होने लगे, लेवी स्त्रास जैसे जाने-माने मानव-शास्त्रियों ने उपरोक्त धारणा को उपनिवेशवादी मानते हुए प्रत्येक संस्कृति की अलग, स्वतंत्र मूल्यवत्ता को स्वीकारा। मुक्ति संघर्ष के दौरान अपनी-अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को सहेजने की बात युक्तिसंगत थी उससे संघर्ष को बल मिला, गुलामी की मानसिकता से उबरने में और गुलामी की जंजीरों को काट डालने में मदद मिली। यह भी स्वाभाविक ही था कि स्वतंत्र होने के पश्चात इन देशों ने अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्परा को राष्ट्रीय जीवन में समुचित स्थान देना चाहा जिससे राष्ट्रीय एकता मजबूत हो सके। यहाँ तक तो ठीक था किन्तु जब कुछ राष्ट्र औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध कारगर इस हथियार का उपयोग अपने ही नागरिकों के अधिकारों के विरुद्ध करने लगे और उन्होंने यह तर्क गढा कि सभी संस्कृतियाँ नैतिक रूप से समान स्तर रखती हैं, यह सार्वभौमिक मूल्यों की मृत्यु की घोषणा थी जो सांस्कृतिक सापेक्षता को नैतिक सापेक्षवाद समझने की मूल के कारण थी।

यह सही है कि सांस्कृतिक सापेक्षता के पक्षधरों द्वारा दिये गये तर्कों का इस्तेमाल विभिन्न देशों की राजनैतिक सत्ता ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित करने, महिलाओं के दमन, हाथ-पांव काटने ऐसी बर्बर सजाएँ देने आदि मानवाधिकार विरोधी नीतियों को अपनाने के समर्थन में किया है जिससे लगता है कि सांस्कृतिक सापेक्षता आततायियों के हाथ में एक नये अस्त्र की तरह ही है जिसका उपयोग पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरोध की आड में अपनी ही देश की जनता के अधिकारों को सीमित करने के लिये किया जा रहा है। लेकिन केवल राजनैतिक दुरूपयोग से दार्शनिक स्तर पर सापेक्षवादी अवधारणा अयुक्तिसंगत नहीं हो जाती। आइये उसके तर्कों की समीक्षा करें -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) मानवशास्त्रीय शोधों से जो परिणाम सामने आये हैं उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की आधारभूत पूर्व मान्यता तथ्यों पर आधारित नहीं है। सभी समाज मानव जीवन को मूल्यवान मानते हैं; कहीं भी मनुष्यों की अनौचित्यपूर्ण हत्या को समर्थन प्राप्त नहीं है; नजदीकी रक्त संबन्धियों में काम सम्बन्धों की मनाही है, अतिस्वच्छन्द काम-गतिविधियों को अच्छा नहीं समझा जाता, काम सम्बन्धों की स्थिरता का पक्ष लिया जाता है और बलात्कार का विरोध किया जाता है। इसी तरह सभी समाजों में सहयोग, व्यक्तिहित के स्थान पर सभी के हितों, व्यक्तियों और समूहों के बीच न्याय को प्राथमिकता दी जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि अपने मूल्यनिर्णयों द्वारा सभी समाज सार्वभौमिक नैतिक जरूरतों को ही प्रदर्शित करते हैं। इसलिये मौलिक अधिकारों के लिये सार्वभौमिक सांस्कृतिक स्वीकृति से इन्कार नहीं किया जा सकता। मानव अधिकारों के अधिकांश उल्लंघनों को किसी समाज की संस्कृति का नहीं अपितु तानाशाह शासकों का समर्थन प्राप्त होता है। फिर भी कुछ सांस्कृतिक परम्पराएँ इतनी दमनकारी होती हैं कि सापेक्षतावादियों को भी यह मानना पडता है कि कुछ मानवीय अधिकार मूल्य सार्वभौमिक हैं। अतः सभी संस्कृतियों को एक समान मानना गलत है। कुछ में बुरे तत्त्वों की अनदेखी नहीं की जा सकती जिनका कोई औचित्य नहीं ठहराया जा सकता और न उन्हें नैतिक रूप से उच्चस्तरीय संस्कृतिक के समकक्ष रखा जा सकता है।

(२) सापेक्षतावादियों की संस्कृति के बारे में भ्रान्त अवधारणा है। वे संस्कृति को किसी स्वर्णिम अतीत में व्याप्त, ऐतिहासिक प्रभावों से अनछुई परिकल्पना के रूप में आत्ममुग्ध भाव से देखते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस रूप में परिशुद्ध संस्कृति का कभी अस्तित्व नहीं था। संस्कृतियों की अन्तःक्रिया और परिणामस्वरूप उसमें परिवर्तन ही ऐतिहासिक सच्चाई है। किसी संस्कृति की सृजन-शीलता का एक पैमाना यह भी है कि वह अपने आंतरिक अन्तर्विरोध का सामना कैसे करती है और वाह्य प्रभावों को बिना अपने श्रेष्ठ तत्त्वों को खोये कैसे आत्मसात करती है। इसलिये मानव अधिकारों की रक्षा के लिये सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई सम्प्रत्यात्मक बाधा नहीं है।

(३) आज सूचना प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास और भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप परम्परागत समाजों में भी परिवर्तन की गति तीव्र हो गई है। वे व्यक्तिवादी विचारों को अपनी संस्कृति में स्थान दे रहे हैं क्योंकि दूसरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृतियों के करीब जाकर उन लाभों का आकलन आसानी से सम्भव है जो मानव अधिकारों को स्वीकार करने वाले समाजों को हुआ है। केवल कुछ तानाशाहों को छोडकर अधिकांश देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकार घोषणा पत्र को स्वीकार कर लिया है। अपने-अपने देशों के संविधानों में परिवर्तन के साथ-साथ मानव अधिकार चेतना भी उन देशों की संस्कृति की अंग बनती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आवश्यक अंग बन जाने के पश्चात् अब मानवाधिकार को सार्वभौमिक चरित्र पर उंगली उठाना बेतुका है।

(४) कुछ ऐसे भी सापेक्षवादी सिद्धान्तकार हैं जो मानव अधिकारों की सार्वभौमिक व्याख्या से सहमत न होते हुये भी मानव अधिकार के लक्ष्य की प्राप्ति में आस्था रखते हैं। इसके लिये वे तर्क के स्थान पर मानव अधिकारों के प्रति अपनी मजबूत आस्था और साहस का सहारा लेते हैं। एक नेक इन्सान की तरह वे मानव अधिकारों का समर्थन देना अपनी नैतिक जिम्मेदारी मानते हैं। इस तरह सार्वभौमिक सिद्धान्त को न मानते हुये भी वे सार्वभौमिक लक्ष्य के रूप में मानव अधिकारों का समर्थन करते हैं।

(५) सार्वभौमिक मानव अधिकार सांस्कृतिक एकरूपता लाने का प्रयास नहीं है अपितु न्यूनतम गरिमा को कानूनी मानदण्ड के रूप में स्वीकृत कराने का संघर्ष है। ये अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की कठिन प्रयासों से अर्जित सहमति का परिणाम है न कि सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का नतीजा। अधिकांश संस्कृतियों के लिये यह एक नयी उपलब्धि है, अतः किसी संस्कृति के स्थान पर दूसरी संस्कृति लादने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(६) मानवाधिकार की अवधारणा में इतना लचीलापन है कि वह सांस्कृतिक विभिन्नता और अस्मिता की रक्षा कर सके। ऐसा न्यूनतम मानवीय गरिमा का सिद्धान्त और सांस्कृतिक अधिकार दोनों को स्वीकृति देकर किया गया है। न्यूनतम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक अधिकारों के कानूनी प्रावधानों को धक्का पहुँचाये बिना सांस्कृतिक विभेद को पूरी छूट है। तात्पर्य यह है कि हर मनुष्य को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और सांस्कृतिक जीवन जीने का पूरा अधिकार है लेकिन यह सांस्कृतिक अधिकार किसी अन्य मानव अधिकार का हनन करने का अधिकार नहीं है। यह सीमित अधिकार है जो परम्परा से स्वीकृत कुछ सांस्कृतिक रिवाजों का भी विरोध करता है। ऐतिहासिक रूप में अनेक संस्कृतियों में दास प्रथा रही है लेकिन उसके संरक्षण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को मान्यता नहीं दी जा सकती। इसी तरह सांस्कृतिक अधिकार के नाम पर रंग, नस्ल, जाति, लिंग, धर्म, भाषा आदि आधारों पर किये जाने वाले भेदभाव को भी प्रश्रय नहीं दिया जा सकता है। ये सभी मानवाधिकार हनन के उदाहरण हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि सापेक्ष मानव अधिकारों की बात बेतुकी है। परम्परागत संस्कृति मानव अधिकारों का स्थानापन्न नहीं हो सकती। लेकिन साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मानव अधिकारों की स्थापना के लिये संघर्ष देशीय परिस्थितियों के मुताबिक ही होना चाहिये। इसके दो आयाम हैं- संस्थागत और सांस्कृतिक। सार्वभौमिक मानवाधिकारों की स्थापना प्रजातंत्रात्मक राज्य व्यवस्था के निर्माण की अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया से जुडी हुयी है। उसी तरह मानव अधिकारों के एक सांस्कृतिक संदर्भ भी है। संघर्ष की सफलता के लिये मानव अधिकार की अवधारा की विभिन्न संस्कृतियों से तालमेल बनाना आवश्यक है। लेकिन इसके लिये मानवाधिकारों को संस्कृति सापेक्ष बनाने के स्थान पर परम्परागत संस्कृतियों को उनके अनुरूप बनाने का प्रयास करना चाहिये। सभी संस्कृतियों के कुछ आधारभूत मूल्य समान हैं जो मानव-जीवन, समाज-व्यवस्था को संरक्षण देते हैं और राज्य द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। उनकी मदद लेनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी दृष्यव्य है कि संस्कृतियों में एक मुख्य धारा के साथ-साथ अन्य उपधारायें भी होती हैं जैसे भारत में ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति; हम उन उपधाराओं का सहयोग मानव अधिकारों के विचारों को समर्थन और जडे जमाने के लिए सफलतापूर्वक कर सकते हैं। इसके लिए विभिन्न संस्कृतियों की गहरी समझ जरूरी है। तभी हम मानवाधिकारों के कानूनी अधिकारों को व्यापक रूप से सभी देशों के समाजों में स्वीकृति दिला सकते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि मानव अधिकारसंस्कृति सापेक्ष मानना भूल है तो उन्हें संस्कृति विरोधी कहना भी उचित नहीं है। दरअसल मानव-अधिकारों की अवधारणा अब एक सर्वभौमिक विचार है जिसे सभी संस्कृतियों में स्थान दिलाना आवश्यक है। अतः हमारा दृष्टिकोण संस्कृतियों को इस कार्य में साथी बनाने का होना चाहिये। सांस्कृतिक विभिन्नतायें रहते हुए भी मानव अधिकारों को एक सार्वभौमिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह सार्वभौमिकता निश्चय ही एकात्मकता नहीं है। जिस तरह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रजातंत्र के विभिन्न रूप प्रचालित हैं, उसी तरह मानव अधिकारों को स्थापित करने के लिए विभिन्न कार्य प्रणालियाँ अपनायी जा सकती हैं। इसके लिए उसी समाज के बुद्धिजीवियों को लम्बे समय तक धैर्यपूर्ण संघर्ष करना होगा। केवल राज्य पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। यहाँ पर दो खतरों की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। जहाँ यह देखना जरूरी है कि देसी संस्कृति के विरोध का डर दिखाकर राज्य मानवअधिकारों की स्थापना से मुकरने न पाये वहीं यह भी ध्यान रखना होगा कि राज्य पर काबिज शक्तिशाली वर्ग और समुदाय सांस्कृतिक तर्क का प्रयोग उन लोगों के दमन के लिए न करने पायें जो सामाजिक रूप में वर्चस्व की संस्कृति से विरोध रखते हों।

भूमण्डलीकरण के आज के दौर में अधिकांश देशों द्वारा मुक्त बाजार और आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ अपनायी जा रही हैं जिसके परिणाम-स्वरूप नये-नये प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं, जिनका समाधान विकासशील देशों की पारम्परिक संस्कृतियों के पास नहीं है। अब समय आ गया है कि समाधान के लिए हम मानव अधिकारों के भूमण्डलीकरण के बारे में सोचें क्योंकि जिस प्रकार की समस्याओं का सामना पारम्परिक समाजों को पूर्व में करना ही नहीं पडा उनका हल उन संस्कृतियों में खोजना बेमानी होगा। उपनिवेशवाद से संघर्ष के दौरान ऐसी कई विचारधाराओं का सहारा इन देशों द्वारा लिया गया जो उनकी संस्कृतियों की उपज नहीं थी। स्वतंत्र होने के बाद भी जिस संविधान के प्रारूप को अपनाया गया वह भी परम्परागत संस्कृति से भिन्न था। धीरे-धीरे आधुनिकता भी एक परम्परा के रूप में इन समाजों में एक सम्मानजनक स्थान पा चुकी है। अब उसे नकारा नहीं जा सकता। सांस्कृतिक पुनर्जागरण का जो औचित्य उपनिवेशवादविरोधी संघर्ष के दौरान था वह अब नहीं रहा। मानव अधिकारों की सांस्कृतिक सापेक्षता की बात करना उसी उत्तर-औपनिवेशिक पाठ को दोहराना है जो आज के उत्तर-आधुनिक समय के अनुकूल नहीं है।

आलोक टण्डन

५३, अशराफ टोला
हरदोई (उ. प्र.) २४१००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिचर्चा में

''परामर्श' खण्ड २२, अंक ४ में मेरा लेख 'निरुपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार' छपा था जिसकी प्रतिक्रिया में डॉ. नीलिमा मिश्रा ने. 'परामर्श', खण्ड २३ अंक ३ में लेख की कुछ त्रुटियों की ओर संकेत किया है। मुझे लगता है कि अपने विषय का और अधिक स्पष्टीकरण देना मेरे लिये आवश्यक हैं जिससे मैं परिचर्चा की लेखिका के आक्षेपों का उत्तर दे सकूँ ।

परिचर्चा की लेखिका का प्रथम आक्षेप है कि मैंने बिल्कुल निराधार और मनमाने ढंग से जॉर्ज बूल की 'ए' और 'ई' तर्कवाक्यों की व्याख्या का खण्डन किये बिना उनमें सत्तात्मक तात्पर्य को मान लिया है । मैं स्पष्ट करना चाहूँगी कि मैंने लेख का आरम्भ बूलीय सत्तात्मक तात्पर्य की परिभाषा को आधार मानकर 'A' और 'E' में सत्तात्मक तात्पर्य मानकर किया है कि उनके उद्देश्य पर द्वारा द्योतित वर्ग रिक्त या शून्य नहीं होते वरन् 'I' और 'O' की ही भाँति विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का द्योतन करते हैं।[१]

परिचर्चा की लेखिका ने इसे समझ पाने की असमर्थता व्यक्त की है कि ''यह तो पूर्वस्वीकृत है कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (सम्पूर्णतः या अंशतः) सत्तावान् हैं अन्यथा उनका विधेय वर्ग के साथ सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता ।'' किसी निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य द्वारा द्योतित वर्ग के सदस्यों का सम्पूर्णतः सत्तावान् होना स्पष्टतः तर्कवाक्य के सर्वव्यापी होने का संकेत है । और अशंतः सत्तावान होना अंशव्यापी होने का । यदि आप किसी भी तर्कवाक्य के उद्देश्य द्वारा द्योतित वर्ग के सदस्यों को तर्कतः सत्तावान् ही नहीं मानते तो विधेय के साथ उसके सम्बन्ध को कैसे प्रदर्शित करेंगे ? और यदि निरुपाधिक तर्कवाक्य अपने उद्देश्य - विधेय के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध को ही व्यक्त नहीं करता कि अमुकवर्ग अमुकवर्ग में सम्पूर्णतः समाहित है/ सम्पूर्णतः समाहित नहीं है / अंशतः समाहित नहीं है, तब तो वह निरुपाधिक तर्कवाक्य है ही नहीं । अतः यह तो पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करना ही पडेगा कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य - चाहे वह A हो, E हो, I हो, या O हो- के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्देश्य वर्ग के सदस्यों का अस्तित्व तर्कतः सम्भव है । उनमें (चारों में) सत्तात्मक पूर्वमान्यता तार्किक रूप से आवश्यक है ।

परिचर्चा की लेखिका का द्वितीय आक्षेप अप्रासंगिक है जिसमें उन्होंने सर्वव्यापी तर्कवाक्यों के उद्देश्य वर्ग में आने वाले समस्त सदस्यों के भूतकालीन, वर्तमानकालीन, भविष्यकालीन अस्तित्व की बात की है । ध्यातव्य है कि मेरे लेख के मूल मन्तव्य की ही उन्होंने उपेक्षा की है कि निगमनात्मक अनुमान वस्तु के तथ्यात्मक अस्तित्व से सम्बन्धित नहीं है क्योंकि वह आकारिक (formal) है । निगमन में हम तार्किक अस्तित्व (logical existence) की बात कर सकते हैं पर भौतिक अस्तित्व (Material existence) की नहीं । अतः इस सन्दर्भ में भविष्यकालीन सम्भावित सदस्यों की सत्ता तथा भूतकालीन सदस्य जो सत्तारहित हो चुका है, ऐसे प्रश्नों को उठना ही हास्यास्पद है । यदि परिचर्चा की लेखिका केवल बूल की ही सत्तात्मक व्याख्या से सहमत हैं तो क्या वे केवल अंशव्यापी तर्कवाक्यों 'कुछ मत्सकन्याएँ सुन्दर हैं' (I) और 'कुछ किन्नर पृथ्वीलोकवासी नहीं हैं । (O) में उद्येश्यवर्ग द्वारा द्योतितवर्गों 'मत्स्यकन्या' और 'किन्नर' के कुछ (कम से कम एक) सदस्यों की भूतकालीन वर्तमानकालीन या भविष्यकालीन सत्ता को प्रमाणित कर सकती हैं? ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्रश्न इन वर्गों की वस्तुगत सत्ता का है और हमारा सरोकार केवल इन वर्गों को तर्कतः सत्तावान् मानने से है, उनके वस्तुतः सत्तावान् होने से नहीं।[2]

वस्तुतः A ओर E में सत्तात्मक तात्पर्य मानने का मेरा अभिप्राय केवल इतना है कि यदि I और O में उद्देश्य द्योतित वर्गों को हम तर्कतः अस्तित्ववान् होने के कारण सत्तात्मक तात्पर्य वाला मानते हैं तो A और E को भी वैसा ही मानना पड़ेगा । पर यदि प्रश्न वस्तुगत सत्ता (वास्तविक भौतिक अस्तित्व) का हो तो चारों ही तर्कवाक्यों में इस अर्थ में सत्तात्मक तात्पर्य नहीं है ।[3]

अब मैं परिचर्चा की लेखिका के अगले आक्षेप पर आती हूँ क्योंकि उन्हें लगता है कि मैं सत्यता के सम्बन्ध को सत्ता के सम्बन्ध में भ्रमित कर रही हूँ। वस्तुतः इसमें भ्रम का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वस्तु की सत्यता का मापदण्ड ही है उसकी तथ्यात्मक स्थिती या सत्ता । यह बात कि परामर्श, खण्ड २३, अंक ३ में मेरे लेख पर प्रतिक्रिया छपी है तभी सत्य है जब उस प्रतिक्रिया की उस अंक में वास्तविक सत्ता हो । इस प्रसंग में यह कहना निरर्थक है कि यदि अंशव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग में कम से कम एक सदस्य है तो वह एक सदस्य सर्वव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग का भी सदस्य होगा क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के एक या कुछ सदस्यों की बात करना उसे अंशव्यापी सिद्ध करना है । मेरा आशय केवल इतना था कि इरविंग एम. कोपी का उद्धरण कि 'यदि इ तर्कवाक्य वैध ढंग से उपाश्रयण द्वारा तत्संगत आ से निःसृत होता है और इ सत्ता का कथन करता है तो आ भी अवश्य ही सत्ता का कथन करेगा' सिद्ध नहीं होता क्योंकि उपाश्रयण के अनुसार ऐसा निगमन अनिश्चित है । इ (I) सत्ता का कथन करता है के आधार पर आ (A) सत्ता का कथन कर भी सकता है, नहीं भी कर सकता है अतः उपरोक्त कथन असिद्ध एवं अनिश्चित हैं ।

पृष्ठ २३ पर मेरे द्वारा दिये गये उदाहरण की चर्चा करते हुए कि यदि मंगल ग्रह निर्जन है तो उपरोक्त चारों निरुपाधिक तर्कवाक्यों द्वारा द्योतित उद्देश्य वर्ग (मंगल ग्रह के निवासी) असत्य कथन करने के कारण असत्य है, परिचर्चा की लेखिका ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है कि मेरे विचार में उद्देश्य वर्ग का उल्लेख करना कोई कथन करना नहीं है । मैं इस सन्दर्भ में कोपी द्वारा ही दी गयी निरुपाधिक तर्कवाक्य की व्याख्या प्रस्तुत करना चाहूँगी - "इस प्रकार के तर्कवाक्य प्रायः वर्ग के बारे में दूसरे से सम्पूर्णतः या अंशतः समाहित हैं"। लेखिका की आपत्ति कि कोई वर्ग सत्य या असत्य नहीं हो सकता क्योंकि सत्यता या असत्यता तर्कवाक्यों या कथनों का गुण है उस तर्कवाक्य में प्रयुक्त किसी वर्ग का नहीं भी निराधार हैं क्योंकि निश्चित रूप से सत्यता या असत्यता तर्कवाक्य का गुण है । पर तर्कवाक्य क्या है? तर्कवाक्य उद्येश्य तथा विधेय द्वारा निरूपित वर्गों के पारस्पारिक सम्बन्ध का कथन है । यदि मंगल पर जीवन ही नहीं है तो तर्कवाक्य सभी या कुछ मंगलग्रहवासी गोरे है, असत्य है क्योंकि उसके उद्देश्य तथा विधेय द्वारा निर्देशित वर्ग अस्तित्वशून्य है और ऐसी स्थिति में उनके पारस्पारिक सम्बन्ध का, जो अस्थापित है, अभिधान करने के कारण तर्कवाक्य ही असत्य है । मेरा उद्देश्य यहाँ पर यह सिद्ध करना था कि यदि मंगल ग्रह निर्जन है तो आपको तत्स्बन्धी A, E, I, O चारों तर्कवाक्यें को असत्य मानना पड़ेगा । जबकि बूलीय सत्तात्मक व्याख्या को मानने पर I, O को असत्य तथा उनके व्याघाती A, E को सत्य मानकर परम्परागत विरोध वर्ग के सम्बन्धों पर ही प्रश्नचिहन लगाना पड़ेगा । यदि तथ्य यह है कि मंगल ग्रह पर जीवन नहीं है ताकि मंगल ग्रह पर जीवन से सम्बन्धित जितने भी कथन हैं वे सभी असत्य होगें चाहे उनका परिमाण कुछ भी हो - सर्वव्यापी या अंशव्यापी। 'वर्ष २००४ की परामर्श की सभी प्रतियाँ अप्राप्त है और वर्ष २००४ की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'परामर्श' की कुछ प्रतियाँ अप्राप्त हैं इन तर्कवाक्यों की सत्यता का निर्धारण करने के लिये हम इसके उद्देश्य वर्ग द्वारा निरूपित वर्ग पर ही तो विचार करेगें कि उस वर्ग की (वर्ष २००४ की 'परामर्श' की प्रतियों का) वस्तुओं का अस्तित्व है या नहीं? उपरोक्त उदाहरण में हम A और I दोनों को असत्य कहेंगे क्योंकि २००४ की प्रतियाँ अभी तक अस्तित्व में ही नहीं हैं फिर चाहे वे सर्वव्यापी हों या अंशव्यापी । मुझे खेद है कि लेख के निहितार्थ को लेखिका ने समझे बिना अनर्थक आक्षेप किये हैं ।

लेखिका के अनुसार मेरे लेख की अन्तिम त्रुटि जिसकी ओर उन्होंने संकेत किया है वह है मेरे द्वारा बनाये गये आकारिक प्रमाणों में assumption का सही प्रयोग न करना । इस त्रुटि की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये मैं उनका आभार व्यक्त करती हूँ क्योंकि वस्तुतः ऐसा निगमन तर्कतः त्रुटिपूर्ण है एवं यह भूल मैं चारों आकारिक प्रमाणों में कर गयी हूँ ।

निष्कर्षतः यही कहना चाहूँगी कि सत्तात्मक तात्पर्य में यदि सत्ता का तात्पर्य वस्तुगत सत्ता से है तो वह निगमन पर लागू होता ही नहीं क्योंकि निगमन आकारिक तर्कशास्त्र है[1] और यदि सत्ता का अभिप्राय केवल तत्सम्बन्धी वर्ग को तर्कतः सम्भव या सत्तावान् मानने से है तो इस अर्थ में चारों तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य मानना पड़ेगा । उचित तो यह है कि आकारिक तर्कशास्त्र में सत्ता का प्रश्न उठाया ही न जाये । निगमनात्मक तर्कशास्त्र का विषय तर्कवाक्यों की सत्यता-असत्यता या उनमें सत्तात्मक तात्पर्य पर विचार करना नहीं है वरन् अनुमान की वैधता अवैधता पर विचार करना है ।

डॉ. सुस्मिता भट्टाचार्य

दर्शन विभाग,
एम्.एम्.एच्. महाविद्यालय,
गाझियाबाद (उ.प्र.)

टिप्पणियाँ

1. ".......... that universal propositions do not imply the existence of anything denoted by the subject terms, but that particular propositions do. If this were true......'"All equilateral triangles are equiangular' do not imply any existents; but the proposition "Some triangles are equiangular' does. Yet the objects referred to in both cases are precisely the same,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

because the only triangles which are equiangular are the equilateral traiangles.' , A. wolf, "Textbook of Logic, George Allen and Unwin Ltd., London, 1961, p. 337

2. "Similarly when the director of a building society while discussing plans with the architect or builder, says. "Some of the houses will be rather expensive," it is obviously not implied that the said houses are already or ever will be built.' A. Wolf, ibid., p. 337,
3. "...........but the question regarding the separate existence of the subjects and predicates as they appear in the traditional forms of the proposition, is altogether of minor importance............ Hence we should not have referred at all to the question of the "existential import' of subjects and predicates. Sydney Herbert - Mellone, "An introductory Text - Book of Logic.' William Blackwood & Sons Ltd., London, 1916, p. 110,
4. पृ. ११५, 'तर्कशास्त्र का परिचय' Introduction to Logic by I. M. Gopi का हिन्दी अनुवाद) अनुवादकः संगमलाल पाण्डेय तथा गोरखनाथ मिश्र, एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।
5. "The false step of putting a merely non-existential interpretation upon universal propositions naturally led to the euqally false step of imposing a merely existential interpretation upon particular propositions, as their contradictories............. Problems of reality or of agreement with reality, cannot be `settled in a purely formal manner, but by the study of facts." A. Wolf, op. cit., p. 339,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

* पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्राय: २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

* परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

* यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

* प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

* पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

* अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २४ अंक २ मा.-अ.-म.२००३

: संपादकीय

नन्दिनी सिंह : विट्गेन्स्टाइन के "अर्थ" सम्बन्धी विचारों में क्रमिक-विकास

काली चरण पाण्डेय : तर्कशास्त्र की आधारहीनता (फाऊन्डेशनलेसनेस) पर विट्गेन्स्टाइन के विचार १

डॉ. मंगलराम : भारतीय दर्शन में काल की अवधारणा १

डॉ. सोमनाथ नेने : मीमांसा-दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप ३

डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय : रामचरितमानस : प्रपञ्च की मूल्यमीमांसा ४

आनंद मिश्र : अद्वैत वेदान्त में आन्तरप्रत्यक्ष : धर्मराजाध्वरीन्द्र की कठिनाइयाँ ५३

डॉ. नीलिमा सिन्हा : वैश्विक व्यवस्था और राष्ट्रवाद के संकट ६७

आलोक टण्डन : मानव अधिकार : सार्वभौमिक या संस्कृति सापेक्ष ८३

डॉ. सुस्मिता भट्टाचार्य : परिचर्चा में ९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २३, अंक ३

जून - जुलाई - अगस्त २००२

भारतीय सौर ज्येष्ठ-आषाढ-श्रावण शके १९२४

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलाहकार संपादक मण्डल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २०००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८०/-
एक प्रति का मूल्य		२५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

आजकल शिक्षानीति के विषय में बहुत विमर्श हो रहा है । हमारे देश में आज भी शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछडापन है ! बहुत सारे लोग शिक्षा से वंचित हैं और उन्हें शिक्षा देना एक चुनौती है । इस चुनौती के लिए जिम्मेदार कौन है ? क्या शासन तथा शासनयंत्रणा की यह जिम्मेदारी है ? प्रत्यक्ष व्यवहार में न तो शासन तथा न ही शासनयंत्रणा दिलोजान से इस कार्य में जुटे हुए नजर आते हैं । क्या विविध शैक्षिक संस्थान इस चुनौती के लिए जिम्मेदार हैं ? शैक्षिक संस्थान किसी तात्त्विक चुनौती में विश्वास करते नजर नहीं आ रहे हैं । इस कार्य में वे मानते हैं कि उनके हाथ-पैर बँधे हुए हैं । तो फिर क्या समाज इस चुनौती के लिए जिम्मेदार है ? लेकिन इस देश में किसी रचनात्मक कार्य में जुट जाने के लिए समाज की न कोई पहचान बन पाती है, न उसे कोई अखंडता और समग्रता प्राप्त होती है । अतः इस देश में समाज केवल शब्दमात्र ही रह चुका है, उस का कोई ठोस अस्तित्व अभी तक बन नहीं पाया है । फलतः इस देश के उन्नयन के लिए कोई भी रचनात्मक कार्यक्रम चलाने के लिए कोई भी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है । जिस देश की अतिप्राचीन संपन्न परंपरा की तारीफ के पुल बाँधते हमारा सारा समय गुजर जाता है उस देश की यह हालत है । इस देश की संस्कृति में अगर जो भी चीज उगती है तो वह आपततः उगती है, उसके पिछे न कोई व्यवस्था होती है, न कोई मूल्य-परंपरा । अतः इस संस्कृती में जो भी उगता है वह अपने अधुरेपन में ही मिट जाता है ।

शिक्षा के बारे में जो कुछ भी बातें हो रही हैं, वे शिक्षा के सभी स्तरों के बारे में हो रही हैं । अगर हम उसमें उच्चस्तरीय शिक्षा के बारे में देखना चाहें तो बहुतसी बातें हमारे ध्यान में आती हैं । उच्चशिक्षा के बारे में पहली बात बतायी जाती है उस के संख्यात्मक विस्तार की । संख्यात्मक विस्तार के आकर्षक रूप को सामने फैलाकर एक लुभावना दृश्य पैदा किया जाता है । देश की आबादी तथा जरुरतों की तुलना के मुताबिक इसे कभी भी प्रस्तुत नहीं किया जाता । संख्यात्मक विस्तृत शिक्षाव्यवहार में जो धनराशि की लगत आती है उसे सामने रख कर आँखे चौंधिया दी जाती हैं । जब जब धनराशि का विषय निकलता है तो उसे मात्र मुनाफे की दृष्टि से ही नपा-तुला जाता है। वास्तव में इस तरह का विचार एक जानबूझकर की गई साजिश है ।जब कोई साजिश की जाती है तो उसे साजिश मानने से इन्कार ही किया जाता है । और स्वतंत्र देश के कुछ लोग, चाहे वे शासनवर्ग के हों, शासनयंत्रणा के हों, संस्थाओं या संस्थानों से जुडे हों, जब किसी साजिश में जुटे रहतें हैं तब उनकी साजिश साबित करना करीब-करीब असंभव होता है क्यों कि लोकतंत्र के नाम से उन्हें सुरक्षा मिलती है । यह लोकतंत्र भी ऐसा बहुआयामी तंत्र है जिसका उपयोग किसी की चोरी, चालबाजी, बेईमानी तथा नादानी को छिपाने या वैधरूप में प्रतिष्ठित बनाने के लिए बडी आसानी से किया जाता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उच्चशिक्षा के स्तर के बारे में केवल निर्देश दिये जा सकते हैं। उन्हें मूल्यांकित करना कठीन है। फिर भी पानी की मछली दूसरी मछलियों को ठीक पहचान लेती है, भले ही वह दूसरी मछली को ना पकडे या ना बतावे। पानी में रहकर एक मछली दूसरी मछली से बैर लेना संभव नहीं बना पाती है। अतः सभी का स्तर हमेशा के लिए ऊँचा ही रहता है जिस में सुधार या विकास की कोई गुंजाईश नहीं रहती है। जहाँ सुधार की गुंजाईश नाकाम है वहाँ गति मंद होती जाती है। पूर्ण विकसित फूल को उस के बाद मुरझा जाना है। इस तरह स्तर की बात पूरी होने के पहले ही विनिष्ट हो जाती है। लोकतंत्र ने व्यक्ति को स्वतंत्रता की पहचान दी है। इस स्वतंत्रता से व्यक्ति को अधिकार भी प्राप्त होते हैं और व्यक्ति अपने को सार्वभौम मानने लगता है। व्यक्ति का सार्वभौम होना तवतक कोई सवाल नहीं पैदा कर सकता जबतक अधिकार के साथ आयी जिम्मेदारियों को भी उसी विश्वास से पूरा किया जाता है। लेकिन समाज में बहुतसी समस्याएँ इन जिम्मेदारियों को लेकर ही आती हैं। अपने को सार्वभौम स्वतंत्र माननेवाला व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों में उतनी निष्ठा नहीं दिखाता जितनी अपने अधिकारों में दिखाता है। वह अपने को सार्वभौम मानता है इसलिए उसे जिम्मेदारियों की याद दिलाने से वह उसे अपने सार्वभौमत्व पर आक्रमण समझकर उस का प्रतिवाद करता है। इस तरह का व्यवहार तो पूरे समाज में ही दिखाई देता है, शिक्षाक्षेत्र इस का कोई विशेष उदाहरण नहीं है। अतः स्तर को ऊँचा उठाये रखने की कोशिश के लिए आत्मपरीक्षण, परस्पर आलोचना एवं आपसी संवाद जैसी गतिविधियाँ आवश्यक होती हुई भी संभव नहीं बन पाती हैं। इस में अगर परिवर्तन होना है तो स्वयं को इन हालतों से ऊँचा उठाना होगा। यह जिम्मेदारी प्रायः अध्यापकों की ही होती है कि वे इस परिवर्तन के मोड को शिक्षाक्षेत्र में लाएँ। समाज में व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता एवं सार्वभौमता बनाए रखने के लिए दूसरे की स्वतंत्रता एवं सार्वभौमता का सम्मान करना चाहिए तथा खुद को समाज के अधीन करना चाहिए। इस से अहं का विलय होकर झूठमूठ की करतूतों पर प्रतिबंध आएगा। लोकतंत्र में सहभागी व्यक्ति को दूसरों से स्वयं का परीक्षण करवाना होगा ताकि वह लोक का समुचित अंश बन जाए; अन्यथा वह मात्र व्यष्टितंत्र ही होकर रहेगा। लोकतंत्र की आधारभूमि व्यक्तियों से बनने के बावजूद भी लोकतंत्र की पहचान किसी भी व्यक्ति से नहीं बनती है, वह बनती है केवल 'लोक' से, जो व्यक्तियों का ऐसा समूह है जहाँ व्यष्टिगत इच्छा-आकाक्षाएँ नहीं होती हैं। शिक्षाक्षेत्र के सहभागी घटकों की यह शिक्षा प्राथमिक आवश्यकता है। तभी उस में कोई ठोस भूमिका लेने का आत्मबल उन घटकों को प्राप्त होगा और वे विधायक दिशा से शिक्षा के बढते संख्यात्मक रूप को स्तर से ऊपर उठाने में सफल हो पाएँगे। शिक्षाक्षेत्र की समस्या जटिल है और उसे अध्यापकों ने गंभीरता से न लेने के कारण वह नुक्कड की चर्चा जैसे बन गयी है। इस में परिवर्तन करना होगा और समय की सीमा में ही करना होगा नहीं तो कहना पडेगा अब पछताए क्या होत है जब चिडियाँ चुग गयीं खेत !

- सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भौतिक विद्या तथा अध्यात्मविद्या का समन्वय

कठोपनिषद् में दो तरह की विद्याओं का उल्लेख किया गया है : भौतिक जगत् में सफलता (प्रेय) दिलाने वाली लौकिक विद्या तथा आध्यात्मिक कल्याण (श्रेय) दिलाने वाली पारलौकिक विद्या। इस तरह हमारे पूर्वजों ने जीवन के दो भेद बताये - आंतरिक जीवन और बाह्य जीवन। हमारे पूर्वजों का स्वाभाविक रुझान आंतरिक जीवन की उन्नति की ओर रहा। उन्होंने इस आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सिखाने वाली विद्या के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे गूढ विद्या या रहस्य विद्या कहा। परिणामतः इसे सदैव छुपाकर रखा गया। जिज्ञासु के लिए प्राथमिक अर्हताओं के तौर पर कठिन संयम की साधनायें निर्देशित की गईं। पूर्वजों की यह सारी आयोजना बहुत ही गंभीर, तर्कसंगत और सुन्दर थी किन्तु एक तो उन्होंने इस विद्या को सभी के लिए सुलभ नहीं होने दिया। दूसरे, इस पर अत्यधिक जोर देने के कारण भौतिक जगत् की समृद्धि पर से पूरा ध्यान हटा। यही सही है कि बाजार में बैठकर अध्यात्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती, इसके लिए श्रद्धा, समर्पण और गांभीर्य की आवश्यकता होती है। साधन-चतुष्टय, यम-नियम जैसे शिष्यलक्षण निश्चय ही आवश्यक हैं परन्तु आध्यात्मिक साहित्य को जन-साधारण में सुलभ न करने में, अवश्य ही त्रुटि होनी चाहिए।

आधुनिक मनीषियों विशेषकर स्वामी विवेकानंद और श्रीअरविंद ने इस त्रुटि को पहचाना। स्वामी विवेकानंद पुरातन ऋषियों की शिक्षापद्धति पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए कहते हैं - "पुराकाल के ऋषियों के प्रति मेरी असीम श्रद्धा होते हुए भी मैं उनकी लोक-शिक्षापद्धति की आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। ...यदि तुम किसी मनुष्य को इन शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ समझते हो, तब तो तुम्हें उसे और भी परिश्रम से सिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि कम, ताकि वह अपनी बुद्धि का विकास कर सके और इस तरह सूक्ष्मतर विषयों और समस्याओं को समझने में समर्थ हो सके।"[१]

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा कि इस आध्यात्मिक शिक्षाओं को औसत आदमी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की समझ से बाहर माना गया। साधारण जनमानस के लिए तो केवल कुछ नियमों के पालन का आदेश दे कर इतिश्री समझ ली गई। ऐसी दशा में, धर्म का अर्थ एक यांत्रिक जीवन के कुछ नियत क्रिया-कलापों से किया जाने लगा। तब धर्म, जीवनी-शक्ति न रहकर, एक आदत रह गया। भाव उड गया, केवल यांत्रिक क्रियाओं का ऊपरी आवरण ही शेष रह गया।

स्वामी विवेकानंद जैसे आधुनिक महापुरुषों ने इस दोष का निवारण आम जनमानस में वेदांत की शिक्षाओं का प्रचार करके किया।[२]

बाह्य जगत् के प्रति उदासीन रहना, पूर्वजों की दूसरी गलती रही। बाह्य जगत् के अपने अनुसंधान में ऋषियों ने यहा अवश्य जाना कि बाह्य संसार के निरीक्षण की कोई सीमा नहीं है और वे अंतर जगत् की ओर झुके। उन्हें वहाँ समाधान भी मिला परंतु भौतिक उन्नति की ओर सदैव निम्न दृष्टि रखने से भारतीयों का बाह्य संसार में पर्याप्त वैज्ञानिक विकास नहीं हुआ। स्वामी विवेकानंद ने अपने जीवन के मिशन के रूप में इसे अपनाया। उन्होंने पश्चिम के भौतिक विज्ञान तथा प्राच्य के आध्यात्मिक ज्ञान में परस्पर आदान-प्रदान की बात कही।[३]

पराविद्या और अपराविद्या या भौतिक ऐश्वर्य और आध्यात्मिक कल्याण में भेद करके पूर्व और पश्चिम का जो एकांगी विकास हुआ उसका दिग्दर्शन श्री अरविंद ने भी कराया। उन्होंने लिखा है - ''युरोप में जडवादी के निषेध ने और भारत में संन्यासी के निषेध ने एकमात्र सत्य के रूप में अपनी-अपनी प्रस्थापना करने का प्रयत्न किया है और जीवन की धारणा पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा है। भारत में यदि इसके परिणामस्वरूप आत्माकी संपदाओं का, या उनमें से कुछ का ढेर लग गया है, तो साथ ही जीवन के क्षेत्र में बडा दिवालियापन भी आया है।''[४] श्री अरविंद ने जीवन जीने की दोनों शैलियों को अपूर्ण मानते हुए एक को 'जडवादी का नकार' तथा दूसरे को 'संन्यासी का इंकार', ऐसी संज्ञाएँ दीं। अपने दिव्य जीवन के दर्शन में, उन्होंने इन दोनों का समन्वय किया - ''हम भौतिक विज्ञान के सत्यों और उसकी वास्तविक उपयोगिताओं को अंतिम सामंजस्य में संरक्षित रखेंगे, भले ही उसके वर्तमान रूपों में बहुतों को या सबों को तोडना या छोडना पडे।''[५]

१९वीं और २०वीं शती की भौतिकविज्ञान की प्रगति ने, दुनिया की संस्कृतियों को पास ला दिया। ऐसे में, पश्चिम का पूर्व पर तथा पूर्व का पश्चिम पर प्रभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़ना स्वाभविक था। दोनों ओर की संस्कृतियाँ एक दूसरे की अपूर्णताओं को दूर करने में सहायक हो सकती हैं, ऐसा सार उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में निहित है किंतु दोनों जीवनशैलियों में केवल एक के चयन करने की बात रखी जाय तो इन समकालीन मनीषियों का रुझान किस ओर रहेगा, यह देखना रुचिकर रहेगा।

स्वामी विवेकानंद ने पश्चिम के भौतिक विज्ञान और भारत के आध्यात्मिक ज्ञान के परस्पर आदान-प्रदान की बात पर जोर दिया किंतु वे भौतिकवादी सभ्यता की वास्तविकता से भी भली-भाँति परिचित थे। उनके मन में जब कभी भी दोनों को लेकर द्वन्द्व उठता, वे भारत की आध्यात्मिक जीवन प्रणाली को ही चुनते। बाह्य जीवन के विकास से तात्पर्य भौतिक ऐश्वर्य से है। भौतिक विज्ञान की प्रगति ने ही जीवन की सुख-सुविधाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। अत: विज्ञान का स्वरूप जानना जरूरी हो जाता है। विज्ञान का कार्य घटनाओं के कारणों की खोज करना है। जिन घटनाओं की व्याख्या उनके कारणों के आधार पर की जा सकती है, वे ही विज्ञानसम्मत कहलाती हैं। विज्ञान का संबंध घटना-जगत् से है। वह एकसमान घटित होने वाली घटनाओं का प्रेक्षण लेकर, उनके कारणों की खोज करता है। ठीक इन्हीं परिस्थितियों में कारणों के आधार पर किसी घटना की भविष्यवाणी या पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। विज्ञान समरूप घटनाओं के आधार पर व्याख्या तो प्रस्तुत करता है, किंतु अपवादों के बारे में वह निरूपाय है। वस्तु जगत् की ऐसी व्यक्तिनिरपेक्ष तटस्थ व्याख्या ने विज्ञान को एक प्रभुता प्रदान कर दी है। युक्तिसंगत प्रतीत होनेवाली इन व्याख्याओं ने, लोगों के मन में रूढि उत्पन्न कर दी है। हर मामले में विज्ञान और वैज्ञानिकों की ही बातें प्रामाणिक मानने का एक अन्धविश्वास प्रचलित हो गया है। विवेकानंद इस पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं - "पहले था धर्म का अन्धविश्वास अब है विज्ञान का अन्धविश्वास; फिर भी पहले के अन्धविश्वास में एक जीवनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक अन्धविश्वास के भीतर से तो केवल काम और लोभ ही आ रहे हैं। वह अन्धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर और आजकल का अन्धविश्वास है महाघृणित धन, यश और शक्ति को लेकर। बस, यही भेद है।"[६] ऐसा नहीं है कि विवेकानंद ने धर्म के अन्धविश्वास को प्रश्रय दिया बल्कि वे तो भौतिक विज्ञान की अन्वेषण पद्धतियों को, धर्म के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षेत्र में प्रयोग करने को उत्सुक रहे, किंतु वे विज्ञान के नाम पर होने वाली भ्रान्तियों के लिए भी सावधान कर गये हैं।[७] श्री अरविंद ने भी न केवल विज्ञान, वरन् धर्म की अपूर्णताओं को भी स्वीकार करते हुए दोनों का समन्वय किया है।[८]

भारत में विज्ञान के व्यापक अनुप्रयोग को लेकर गांधी-विनोबा का मत निषेध का है; हालाँकि दोनों ही विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। गांधीजी को तो इस बात का पक्का निश्चय था कि भारत को पश्चिम से बहुत कम सीखना है। उनका यह मानना था कि हमारे पूर्वजों ने आंतरिक और बाह्य जीवन के सारे प्रयोगों के उपरांत ही बाह्य-जगत् में आत्मसंतोषी प्रवृत्ति को अपनाया - ''ऐसा नहीं था कि हमें यंत्र वगैरा की खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग यंत्र वगैरा की झंझट में पड़ेंगे तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे।''[९] फिर भी वे यंत्रों की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं - ''मैं मशीन का विरोधी कैसे हो सकता हूँ, जबकि मैं यह जानता हूँ कि यह शरीर भी एक यंत्र ही है। मैं मशीन के खिलाफ न होकर मशीन के पीछे चल रहे पागलपन के खिलाफ हूँ।''[१०] विनोबा ज्यादा खुला नजरिया रखते हुए विज्ञान और आत्मज्ञान के समन्वय की बात करते हैं।[११] वे बिजली को अपर्याप्त मानकर, आण्विक ऊर्जा के प्रयोग की वकालत करने की हिम्मत करते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि शक्ति के विकेन्द्रीकरण की सामर्थ्य बिजली से कहीं अधिक आण्विक ऊर्जा में है। यह तो रही दोनों के प्रगतिशील विचारों की बात, परन्तु जनता ने जैसा इनके विचारों को समझा है, उसमें तो ये दोनों ही तकनीकी ज्ञान के खिलाफ नजर आते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति पूर्व और पश्चिम, परा विद्या और अपरा विद्या जैसे भेद अर्थ नहीं रखते। उनके लिए जीवन अविभक्त है, उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः तथ्य यही है कि जीवन, भौतिक अथवा आध्यात्मिक न होकर केवल जीवन होता है, जिसमें दोनों पक्ष सम्मिलित रहते हैं। दोनों का सामंजस्य ही जीवन जीने की वास्तविक कला है, पर चूँकि एक पक्ष पर अधिक जोर देने के फलस्वरूप दूसरे पक्ष की अवहेलना होती रही, इसलिए उपर्युक्त मनीषियों को, समन्वय की बात कहनी पडी।

कृष्णमूर्ति के विचार से, परम्परा जहाँ मनोवैज्ञानिक अर्थों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विनाशकारी है, वहीं विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र में इसका सृजनात्मक मूल्य है। परम्परा से प्राप्त तकनीकी ज्ञान, मानव की धरोहर है। कृष्णमूर्ति के समक्ष विज्ञान और अध्यात्म दोनों में किसी एक को चुनने की दुविधा उपस्थित नहीं हो सकती। फिर भी, उनके लिए भी आन्तरिक जीवन ही बाह्य जीवन का नियमन करने वाला है।

अब, प्रत्यक्ष ही विज्ञान और दर्शन की तुलना की जाए। विज्ञान और दर्शन की दृष्टियों में अंतर है। विज्ञान की दृष्टि वस्तुमूलक है। उसका अवलोकन सीमित क्षेत्र के लिए है। इसके विपरीत, दर्शन मूल प्रश्नों की व्याख्या करने की कोशिश करता है। कार्यों (घटनाओं) के कारण की खोजबीन करते हुए, दर्शन की दृष्टि, व्यक्तिमूलक हो जाती है। जगत्, जगत् में मानव का अस्तित्व, उसका प्रयोजन जैसे प्रश्न दर्शन के लिए अधिक महत्त्व के हैं। अपनी शोध-यात्रा में दर्शन ने इन प्रश्नों का समाधान भी कर लिया है। मानव-अस्तित्व की प्रयोजन-सिद्धि ही जगत् के अस्तित्व की सार्थकता है। इसे ही सभी दर्शन या अध्यात्म व्यक्ति के मोक्ष या मन की निश्चल शांति के रूप में घोषित करते हैं। ठीक यहीं, दर्शन या धर्म का विज्ञान से मुख्य भेद है। जहाँ धर्म के पास लक्ष्य है, वहीं विज्ञान इसे रिक्त। बाह्य संसार की कुशलतापूर्ण व्याख्या मानव की भौतिक सुख-सुविधाओं को तो बढाती है, पर वह मानव के मानसिक पक्ष के लिए कुछ नहीं देती। प्रेम, करुणा, नीति और सदाचार के रूप में मानव के पास जो आंतरिक जीवन का वैभव है, वस्तुतः वही व्यक्ति के कर्म-व्यवहार के लिए जिम्मेदार है। आंतरिक जीवन में इन तत्त्वों की दरिद्रता, विज्ञान की शुभ-अशुभ से निरपेक्ष शक्ति को विध्वंसकारी गतिविधियों की ओर ले जाती है। ठीक इसी स्थल पर आकर धर्म-अध्यात्म की भूमिका उजागर होती है। केवल अध्यात्म ही मानवीय मन को विवेकशील बनाने का कार्य कर सकता है। आधुनिक महापुरुषों यथा स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविंद, जे. कृष्णमूर्ति और विनोबा आदि ने, इस तथ्य को समझा और अध्यात्म और विज्ञान या पराविद्या और अपराविद्या के समन्वय में ही भावी सभ्यता का कल्याण देखा।

नवीन दीक्षित

शोध छात्र
३४, जानकी नगर मेन,
इन्दौर (म. प्र.) ४५२००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. विवेकानंद साहित्य, खंड-१, तृतीय संस्करण, १९९३, अद्वैत आश्रम, पृ. ३२६
२. विवेकानंद साहित्य, खंड-२, तृतीय संस्करण, १९९३, अद्वैत आश्रम, पृ. ४२
३. देखिए रोमां रोलां कृत विवेकानंद नवम संस्करण, १९९६, लोकभारती प्रकाशन, पृ. ७३
४. श्री अरविंद साहित्य, खंड-७ (दिव्य जीवन), प्रथम संस्करण, १९७०, श्री अरविंद सोसायटी, पृ. ११
५. वही, पृ. २९.
६. वि. सा. खं - २ तृ. सं., अद्वैत आश्रम, पृ. ७
७. वही, पृ. २७८
८. देखिए पूर्व उद्धृत उद्धरण ५
९. गांधीजी कृत हिन्द स्वराज्य, १९९४, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, पृ. ५६
१०. वही, पृ. १४
११. देखिये विनोबा भावे कृत आत्मज्ञान और विज्ञान, छठा संस्करण, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, पृ. १३७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेश्या और रंग

लेश्या

लेश्या जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उत्तराध्ययन सूत्र का चौंतीसवाँ अध्ययन लेश्या के सम्बन्ध में ही है। इस अध्ययन की ६९ गाथओं में लेश्याओं का स्वरूप बतलाया गया है। कर्म के साथ आत्मा (जीव) श्लिष्ट हो जाए (या चिपक जाए) उसे लेश्या कहा गया है। स्पिनोजा जिसे उद्वेग कहता है, उसी को जैन दर्शन में लेश्या कहा गया है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में लेश्याओं का योगदान रहता है। लेश्याओं की पहचान बढेगी तो व्यक्ति के व्यक्तिमत्व को पहचाना जा सकेगा। इन लेश्याओं का वर्णन अनेक रूपों में किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है -

नामाइं वण्ण-रस-गन्ध-फास-परिणाम-लक्खणं।
ठाणं ठिंइ गइं चाऊं लेसाणं लु सुणेह मे ॥२॥३४॥[1]

अर्थात् इन लेश्याओं का (वर्णन) नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य (इन द्वारों के माध्यम से) मुझ से सुनो।

लेश्याओं का वर्णन ग्यारह द्वारों के आधार पर किया गया है। उन द्वारों में वर्ण (रंग) भी है। वर्ण से पहले नाम है। नामकरण में वर्णों के नाम है। चौतीसवें अध्ययन की तीसरी गाथा -

किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ढाउ नामाइं तु जहक्कमं॥३॥३४[2]

अर्थात् लेश्याओं के नाम इस प्रकार है - (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजस् (५) पद्म और (६) शुक्ल।

चौथी गाथा से लेकर नौवीं गाथा तक प्रत्येक के वर्ण (रंग) का विवेचन है। विवेचन इस प्रकार है -

चौथी गाथा : कृष्ण लेश्या वर्ण की अपेक्षा से, स्निग्ध (सज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ल काले) मेघ के समान, भैंस के सींग एवं रिष्टक (अर्थात् - कौए या अरीठे) के सदृश, अथवा खंजन (गाडी के ओंगन), अंजन (काजल या सुरमा) एवं आँखों के तारे (कीली) के समान काली है।

पाँचवीं गाथा : नील लेश्या वर्ण की अपेक्षा से नील अशोक वृक्ष के समान, चास-पक्षी की पाँख जैसी, अथवा स्निग्ध वैडूर्य रत्न-सदृश (अतिनील) है।

छठी गाथा : कापोत लेश्या वर्ण की अपेक्षा से अलसी के फूल जैसी, कोयल की पाँख सरीखी तथा कबूतर की गर्दन (ग्रीवा) के सदृश (अर्थात् कुछ काली और कुछ लाल) है।

सातवीं गाथा : तेजो लेश्या वर्ण की अपेक्षा से - हींगलू तथा धातु - गैरु के समान, तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के सदृश्य तथा तोते की चोंच या (जलते हुए) दीपक के समान (लाल रंग की) है।

आठवीं गाथा : पद्म लेश्या वर्ण की अपेक्षा से हडताल (हरिताल) के टुकडे जैसी, हलदी के रंग सरीखी तथा सण और असन (बीजक) के फूल से समान (पीली) है।

नौवीं गाथा : शुक्ल लेश्या वर्ण की अपेक्षा से शंख, अंक रत्न (स्फटिक जैसे श्वेत रत्नविशेष) एवं कुन्द के फूल के समान है, दूध की धारण के सदृश तथा रजत (चाँदी) और हार (मोती की माला) के समान (सफेद) है।

इन छः लेश्याओं में तीन अशुद्ध तीन शुद्ध मानी गई हैं। क्रम इस प्रकार है -

अ	कृष्ण लेश्या	—	अशुद्धतम	—	क्लिष्टतम
शु	नील लेश्या	—	अशुद्धतर	—	क्लिष्टतर
भ	कापोत लेश्या	—	अशुद्ध	—	क्लिष्ट
	तेजोलेश्या	—	शुद्ध	—	अक्लिष्ट
शु	पद्मलेश्या	—	शुद्धतर	—	अक्लिष्टतर
भ	शुक्ल लेश्या	—	शुद्धतम	—	अक्लिष्टतम

कहने को ये छः प्रधान हैं किन्तु तस्तम में इनकी संख्याओं का विस्तार अधिक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तरंगदैर्घ्य और आवृत्ति

त्रिपार्श्व कांच से जब सूर्य का प्रकाश गुजरता है तो उससे रंगों का विभाजन होता है। वे रंग क्रमशः लाल/नारंगी/पीला/हरा/नीला/जामुनी और बैंगनी होते हैं। सब रंगों की अपनी-अपनी तरंगदीर्घता होती है। तरंगों की दीर्घता और कम्पन की आवृत्ति को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। प्रकाश तो तरंगरूप होता है। लाल रंग की तरंगदीर्घता सब से अधिक होती है और बैंगनी रंग की सब से कम। इसी तरह लाल रंग की कम्पन आवृत्ति सबसे कम होती है और बैंगनी रंग की सब से अधिक।

लेश्या सिद्धान्त का विवेचन करते हुए डॉ. शान्ता जैन ने लिखा है -

"लेश्या सिद्धान्त में तरंगदैर्घ्य और आवृत्ति संबंधी रंग से वैज्ञानिक सिद्धान्त की झलक देखी जा सकती है। कषायों के तीव्र और अल्प प्रकम्पनों के आधार पर लेश्या प्राणिमात्रा के अच्छे बुरे व्यक्तित्व को निर्धारित करती हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक 'आभामण्डल' में लिखा है कि कृष्ण-लेश्या में आवृत्ति ज्यादा और तरंगें छोटी होती हैं। नील लेश्या में तरंग की लम्बाई बढ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। कापोत लेश्या में तरंग की लम्बाई और बढ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। तेजो लेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या में पहुँचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।"[३]

मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण को पहचानने में रंग सहायक हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. शान्ता जैन आगे लिखती हैं -

"मनुष्य और रंग दोनों आन्तरिक स्तर पर एक-दूसरे से बहुत अधिक जुडे हुए हैं। आज के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति के अवचेतन स्तर को और मस्तिष्क को सब से अधिक प्रभावित करनेवाला तत्त्व है — रंग। रंग मनुष्य का स्वभाव बतला देता है। यह रहस्यवादी तथा विकृत मनवाले लोगों से प्रत्युत्तर निकलवा लेने की क्षमता रखता है। यह अन्दर के अवरोधकों को समाप्त कर आन्तरिक संवेगों को बाहर आने देता है।"[४]

लेश्याओं से सम्बन्धित रंगों को समझने में कठिनाई हो सकती है। इसका कारण लेश्याओं के ये रंग स्थूल आँखें देख नहीं सकतीं। लेश्याओं का विवेचन सहज और स्थूल रूप में प्रस्तुत करना कठिन है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेश्या और उद्वेग

लेश्या और उद्वेग दोनों का सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाशक्ति से है। लेश्याओं का सम्बन्ध जैसे भावों (मावजगत्) से है, वैसे ही उद्वेगों का सम्बन्ध भी भावों से है। बात इतनी ही है कि उद्वेग व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, इस तुलना में भाव वैयक्तिक होने पर भी वे सामाजिक अधिक हैं। इसी तरह लेश्याएँ भी व्यक्ति से अधिक सम्बन्ध रखती हैं।

लेश्या और उद्वेग दोनों ही परिवर्तनशील हैं । ये स्थिर नहीं रह सकते। इसलिए इस परिवर्तन और गति को पहचानने की आवश्यकता है। लेश्याएँ बदलती हैं तो उनसे सम्बन्धित रंग भी बदलते रहते हैं। दोनों का सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाशक्ति के बढने और घटने से है। मनुष्य की क्रियाशक्ति बढती है तो वह सुख का अनुभव करता है और क्रियाशक्ति घटती है तो दुःखका अनुभव करता है। लेश्या और उद्वेग को तुलनात्मक रूप में स्पष्ट करने को लिए नीचे रेखांकन प्रस्तुत कर रहा हूँ। उद्वेग का स्वरूप स्पिनोजा के आधार पर प्रस्तुत कर रहा हूँ और लेश्याओं का स्वरूप जैनदर्शन के आधार पर।

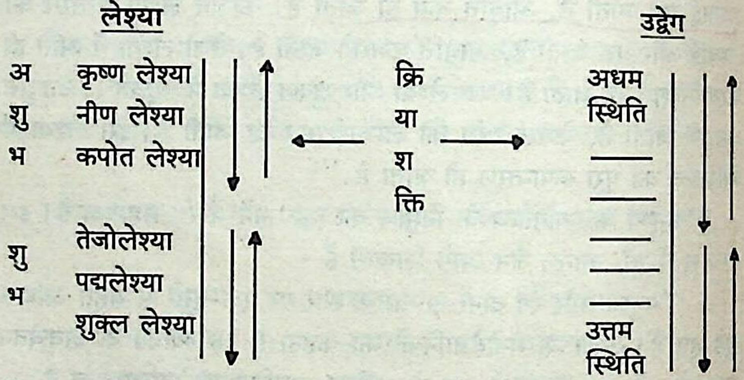

लेश्या : क्रियाशक्ति घटती है और घटने के क्रम में है तो मनुष्य की लेश्याएँ शुभ से अशुभ की ओर बढती हैं और ठीक इसके विपरीत क्रियाशक्ति बढती है या बढने के क्रम में है तो लेश्याएँ अशुभ से शुभ की ओर अग्रसर होती हैं।

उद्वेग : क्रियाशक्ति घटती है और घटने के क्रम में है तो मनुष्य के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्वेग उत्तम स्थिति से अधम स्थिति की ओर बढते हैं और ठीक इसके विपरीत क्रियशक्ति बढती है और बढने के क्रम में है तो उद्वेग अधम से उत्तम की ओर अग्रसर होते हैं।

उद्वेगों को व्यावहारिक स्तर पर समझाने का प्रयास स्पिनोजा ने जैसा किया है, उस तरह से लेश्याओं का विवेचन जैन दर्शन में नहीं मिलता। लेश्याओं का जो विवेचन उपलब्ध है, वह प्रतीकात्मक पद्धति का है और शास्त्रीय अधिक है। अन्य शास्त्रों से लेश्याओं का सम्बन्ध तो बतलाया जाता है किन्तु लेश्याओं का स्वतंत्र स्वरूप बतलानेवाला ग्रंथ हमें जैन दर्शन में नहीं मिलता है। अलग-अलग संदर्भों में शास्त्रीय पद्धति से लेश्याओं की परिभाषाएँ भी अलग-अलग प्रसार से की गई हैं। लेश्याओं पर स्वतंत्र पुस्तक व्यावहारिक पर (शास्त्रीय पद्धति से युक्त) नहीं मिलती। स्वयं डॉ. शान्ता जैन की पुस्तक सैद्धान्तिक अधिक है।

स्पिनोजा का चिन्तन अद्वैतवाद की ओर झुका हुआ है। इस अर्थ में भारतीय दर्शन के निकट है। लेश्याओं का चिन्तन द्वैतवादी चिन्तन है। पुद्गल (जीव) को आधार मानकर लेश्याओं का विवेचन किया गया है।

शुभ लेश्याएँ-अशुभ लेश्याएँ - ऐसा विभाजन न कर स्पिनोजा ने सीधे अधम स्थिति और उत्तम स्थिति कह दिया है। क्रियाशक्ति बढती है तो हम उत्तम स्थिति की और बढते हैं और क्रियाशक्ति घटती है तो हम अधमस्थिति की ओर बढते हैं।

लेश्याओं में ऊर्जा बतलाई गई है

सूर्य में विपुल ऊर्जा पाई जाती है। वह ऊर्जा विकीर्ण होते रहती है। सूर्य के प्रकाश का सम्बन्ध रंगों से है। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी ऊर्जा होने के कारण उससे भी प्रकाश विकीर्ण होता रहता है। शास्त्रीय और वैज्ञानिक पद्धति से इसका विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मनुष्य में जो ऊर्जा है, वह लेश्याओं के कारण है। लेश्याओं के जैसे रंग होंगे उसी हिसाब से उनमें ऊर्जा होगी। इन ऊर्जाओं के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

लेश्याएँ स्थिर नहीं रहतीं

लेश्याएँ स्थिर नहीं रहतीं, इनमें परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है। चित्त स्थिर हो तो लेश्याओं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में परिवर्तन नहीं होगा। यह सब मनुष्य की क्रियाशक्ति पर निर्भर है। क्रियाशक्ति बढेगी तो अशुभ लेश्याओं से शुभ लेश्याओं की ओर गमन होगा और इसके विपरीत भी।

बिहारी का एक दोहा है —

बढत बढत संपत्ति सलिलु मन सरोजु बढि जाइ।
घटत घटत सु ज फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥३३१॥

बिहारी रत्नाकर

अर्थात् सम्पत्ति-रूपी जल के बढते बढते मन-रूपी कमल बढता जाता है। किन्तु वह जिस क्रम में बढते बढते बढता है, उस क्रम में घटते घटते नहीं घटता। प्रत्युत् मूलसहित कुम्हला जाता है।

कहना यह है कि क्रियाशक्ति के बढते बढते हम सुख की ओर जैसे अग्रसर होते हैं, वैसे घटते-घटते नहीं घटते—मूल में ही कुम्हला जाते हैं।

मानस को बल प्रदान करना और क्रियाशक्ति को सजग कर पुनः उत्तमस्थिति की ओर बढना कठिन है।

अशुभ लेश्याओं की ओर अग्रसर होने पर पुनः शुभ लेश्याओं की ओर अग्रसर होना कठिन है। इसके लिए आत्मबल चाहिए। ये लेश्याएँ ही मनोविकारों से सम्बद्ध रहती हैं। मनोविकारों का परिष्कार करने से ही लेश्याओं की दिशा को बदला जा सकता है।

स्पिनोजा उद्वेग को उद्वेग ही कहता है, उसका कहना है कि उद्वेग का स्वरूप ठीक ठीक ज्ञात होगा तो उसके परिष्कार की मानसिक तैयारी भी होगी। उद्वेगों को घृणा का या निन्दा का पात्र न समझा जाए। स्पिनोजा लिखता है—

"जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक किसी ने उद्वेगों की प्रकृति और शक्ति को निश्चित नहीं किया, न यह बताया है कि मन उन्हें शासन में रखने के लिए उनके विरोध में क्या कर सकता है ? ... जो उद्वेगों और क्रियाओं को समझने की अपेक्षा उन्हें निन्दा और हँसी का विषय बनाना पसन्द करते हैं। इन लोगों के लिए यह बहुत अजीब बात होगी कि मैं मनुष्यों की बुराई और त्रुटियों का रेखागणित की विधि के अनुसार वर्णन करने का यत्न करने लगा हूँ और उन चीजों को यथार्थ युक्ति से सिद्ध करना चाहता हूँ जिन्हें वे बुद्धि के प्रतिकूल असार, अर्थहीन और घृणित समझकर फटकारते हैं। इस पर भी मेरा वह आयोजन है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पिनोजा अपने आयोजन में सफल हुआ है। उद्वेगों की पहचान बढाकर नीति का स्वरूप उसने स्पष्ट किया है। उद्वेगों के शासन का वह अनकहे ही इस तरह समर्थन कर देता है जिससे नीति-निर्धारण में सहायता मिलती है।

उद्वेगों का विवेचन जैसे स्पिनोजा ने स्पष्ट किया है, वैसे लेश्याओं का विवेचन किसी एक ग्रंथ में पूरी तरह नहीं मिलता। परम्परा से इसका विवेचन और चिन्तन हो रहा है और इस चिन्तन में शास्त्र का विवेचन ही अधिक है। और मूल बात यह कि स्थिरता और अस्थिरता के कारणों की मीमांसा नहीं मिलती।

लेश्या का स्वरूप

डॉ. शान्ता जैन ने अपनी पुस्तक **'लेश्या और मनोविज्ञान'** के उपसंहार में लेश्या का शास्त्रीय स्वरूप उजागर करने का प्रयत्न किया है। वह इस प्रकार है —

''जैनाचार्यों ने लेश्या की जो परिभाषा की, उसमें निम्नांकित दृष्टिकोण मुख्य रहे हैं —

लेश्या योग परिणाम

लेश्या कषायोदयरंजित योग प्रवृत्ति है।

लेश्या कर्म निष्पद है।

लेश्या सर्मण शरीर की भाँति कर्मवर्गणा निष्पन्द कर्म द्रव्य है।

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि लेश्या का जीव और कर्म से गहरा सम्बन्ध है। लेश्या के मुख्य भेद हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या पुद्गलात्मक होती है और भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। मन के परिणाम शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं और उनके निमित्त भी शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार से होते हैं। निमित्त को द्रव्य लेश्या और मन के परिणाम को भाव लेश्या कहा गया है। इसीलिए लेश्या के भी दो कारण बतलाए हैं निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादाने कारण हैं — कषाय की तीव्रता और मन्दता। निमित्त कारण है — पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण।

पुद्गल परमाणु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सभी होते हैं। लेश्या के प्रतिपादन में मुख्यता वर्ण की है। चूँकि वर्ण/रंग का मन पर सीधा प्रभाव पडता है। रंगों की विविधता के आधार पर मनुष्य के भाव,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचार और कर्म सम्पादित होते हैं। इसलिए रंग के आधार पर लेश्या के छः प्रकार बतलाए गए हैं।

लेश्या आचरण और व्यवहार की नियामिका है। आचारण पक्ष जुडा है कषाय से और व्यवहार पक्ष जुडा है योग से। योग यानी मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। कषाय यानी आरमा के निषेधात्मक भाव। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि योग लेश्या की भूमिका बनाता है और कषाय उस पर रंग चढाता है।''[६]

डॉ. शान्ता जैन का कहना है कि लेश्या को समझने समझाने के लिए 'मनोविज्ञान' का ज्ञान सहायक है। वह यह भी कहती है कि फ्रायड ने जिस अर्थ में काम (sex) को प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति माना है, उसी अर्थ में जैन-दर्शन राग की व्याख्या करता है।

डॉ. शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में कुछ अध्याय लिखे हैं और अन्तमें उपसंहार है। अध्यायों के शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं- १. लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, २. मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या, ३. रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, ४. लेश्या और आभामण्डल, ५. व्यक्तित्व और लेश्या, ६. संभव है व्यक्तित्व बदलाव, ७. जैन साधना पद्धति में ध्यान और रंगध्यान और लेश्या। इन आठ अध्यायों में तीन अध्याय रंग से सम्बन्धित हैं। वे हैं रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, 'लेश्या और आभामण्डल'-और 'रंगध्यान और लेश्या।'

कहा गया है कि मनुष्य के अवचेतन को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है — रंग। अवचेतन से रंग का सम्बन्ध होने के कारण रंगों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरसे है। सूक्ष्म शरीर रंगों से प्रभावित होता है।

कहा गया है कि रंगध्यान से हमारा तैजस शरीर जागता है। उसके स्पन्दन स्थूल शरीर में आते हैं। रंगध्यान के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बतलाए गए हैं —

आध्यात्मिक गुणों का विकास, एकाग्रता की शक्ति का विकास

निषेधात्मक शक्तियों का अन्त, स्वचिकित्सा की क्षमता उपयोग में सहयोग, विचार संप्रेषण की शक्ति का जागरण।

ये रंगध्यान की परम्परा को बहुत पुरानी बतलाया गया हैं। जैनधर्म के महामंत्र में भी वर्णों का उल्लेख है और वह रंगध्यान का द्योतक है। महामंत्र में पाए जाने काले रंगों की तालिका इस प्रकार है[७]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद	केन्द्र	वर्ण	निष्पति
णमो अरिन्ताणं	ज्ञान केन्द्र	श्वेत वर्ण	ज्ञान चेतना का जागरण
णमो सिद्धाणं	दर्शन केन्द्र	लाल वर्ण	शारीरिक सामर्थ्य एवं अन्तर्दृष्टि का जागरण
णमो आयरियाणं	विशुद्धिकेंद्र	पीलावर्ण	आवेग उपशमन
णमो उवज्झायाणं	आनन्द केन्द्र	नीला वर्ण	शान्ति, समाधि
णमो लोएसव्व-साहूणं	शक्ति केन्द्र	श्याम वर्ण	ग्राहक शक्ति का विकास

लेश्याएँ और साधना पद्धतियाँ

लेश्याओं का सम्बन्ध साधना पद्धतियों से है। चेतन और अचेतन, या अवचेतन के स्वरूप को समझने-समझाने में लेश्याओं की साधना आवश्यक है। लेश्याएँ अपने आपमें मनुष्य में शक्ति के केन्द्र हैं। इनको जाग्रत रखने और इनका समुचित उपयोग करने के लिए साधना पद्धतियों को जानना उपयोगी होगा। इन साधना पद्धतियों में ध्यान भी है और ध्यान में रंगध्यान विशेष है।

महामंत्र का जाप अपने आप में साधना है और उसकी महिमा के सम्बन्ध में यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

साधना से अशुभ लेश्याओं को शुभ लेश्याओं में परिणत किया जा सकता है। लेश्याएँ वशीभूत हों तो आत्मबल बढता है और व्यक्ति का विकास होता है।

लेश्याएँ अपने आप में मनोविकारों की द्योतक भी हैं और इनके आधार पर नीति-निर्धारण में सहायता मिलती है।

साधना से सिद्धि मिलती है। सिद्धि प्राप्त व्यक्ति में चमत्कृत कृत्तियाँ देखी गई हैं। सहज में इन पर विश्वास न भी करें तब भी साधना के लाभ साधक को मिलते ही हैं।

हमारा प्रयत्न लेश्याओं को समझने का हो तो धीरे-धीरे अन्य ग्रंथियाँ अपने आप खुलती जाएँगी।

राजमल बोरा

५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा
औरंगाबाद ४३१००५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. उत्तराध्ययन सूत्र, डॉ. राजेंद्र मुनि, श्री तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर, पृ. ६१०
२. वही पृ. ६११
३. लेश्या और मनोविज्ञान, डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वचभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण १९९६, पृ. ८४
४. वही पृ. ६५
५. स्पिनोजा : नीति अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९६४, ई. पृ. १०४-१०५
६. लेश्या और मनोविज्ञान, डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण १९९६, पृ.२०९-२१०
७. वही, पृ.२०९-२१०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाद एवं अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास निरास

प्रस्तावित निबन्ध का उद्देश्य हेत्वाभास की न्यायसम्मत् अवधारणा का वादविधान एवं अनुमान के सन्दर्भ में शून्यवादी माध्यमिक दृष्टि से खण्डनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करना है। इस समीक्षा को हम नागार्जुन प्रणीत ''वैदल्यसूत्रम्'' नामक ग्रन्थ के आधार पर विवेचित करने का प्रयास करेंगे। ''वैदल्यसूत्रम्'' नागार्जुन प्रणीत ७२ सूत्रों में निबद्ध एक लघु ग्रन्थ है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य न्यायशास्त्र सम्मत् षोडश पदार्थों का साङ्गोपाङ्ग खण्डन है। नागार्जुन की रचनाओं में आगमपरक एवं युक्तिपरक नामक दो प्रकार की व्याख्यापद्धतियों का अनुप्रयोग देखा जाता है। सूत्रसमुच्चय ६६ प्रश्नों के साथ ६९ सूत्रों में आगमपरक व्याख्यापद्धति को प्रस्तावित करता है। वहीं, मूलमाध्यमिक कारिका आदि छः ग्रन्थों का परिवार युक्तिपरक व्याख्यापद्धति की शैली में प्रणीत हुए हैं। युक्तिपरक व्याख्यापद्धति का अनुप्रयोग साध्य एवं साधन निषेध नामक द्विविध रूप से हुआ है। मूलमाध्यमिक कारिका में जहाँ साध्यगत विप्रतिपत्तियों की प्रधानता है, वहीं वैदल्यसूत्र एवं विग्रहव्यावर्त्तनी जैसे ग्रन्थों में मुख्य रूप से साधनगत विप्रतिपत्तियों की उद्भावना की गई है। नागार्जुन द्वारा उठाये गये साधनगत विप्रतिपत्तियों को भी द्विविध सन्दर्भों में देखा जा सकता है। विग्रहव्यावर्त्तनी जैसे ग्रन्थों में सामान्य रूप से पूर्वपक्ष को विशुद्ध तार्किक प्रारूप में उठाया गया है। वहीं, ''वैदल्यसूत्रम्'' में विशेष रूप पूर्वपक्ष को ऐतिहासिक रूप में उठाया गया है। उदाहरण के लिए, वैदल्यसूत्र के आरम्भिक पंक्तियों[१] में ही यह कहा गया है कि तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो वाद करना चाहते हैं, उनके अहंकार नाश के लिए मैं (नागार्जुन) वैदल्यसूत्र की रचना कर रहा हूँ। इसे प्रतिज्ञावचन में ''यः'' पद से निश्चित रूप में न्यायसूत्रकार गौतम एवं उनके अनुयायियों को लक्षित किया गया है, क्योंकि इसके बाद सम्पूर्ण ग्रन्थ न्यायसम्मत् षोडश पदार्थों के क्रमशः खण्डन में प्रणीत हुआ है। अतः वैदल्यसूत्र का महत्त्व इस बात में निहित है कि माध्यमिक सम्प्रदाय का यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें परयुथ्य खण्डन के लिए विप्रतिपत्तियों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐतिहासिक पूर्वपक्ष के रूप में उठाया गया है। वैदल्यसूत्रकार के समक्ष कितने न्यायसूत्र उपस्थित थे, इस सन्दर्भ में यह ग्रन्थ न्यायसूत्रों की रचना प्रक्रिया एवं इतिहास पर भी कुछ एक गम्भीर एवं ऐतिहासिक प्रश्नों को उत्थापित करता है। प्रसंगवश यह समस्या यहाँ विचारणीय नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में हम अपनी विवेचना को वैदल्यसूत्रानुसारी न्यायसम्मत् षोडश पदार्थों के खण्डन तक विस्तृत न करते हुए केवल 'हेत्वाभास' नामक पदार्थ के खण्डन तक अपने को सीमित रखेंगे। न्यायदर्शन में हेत्वाभास की अवधारणा का वादप्रक्रिया एवं प्रमाण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रमाण दृष्ट्या अनुमिति के सन्दर्भ में हेत्वाभास असद् हेतु के रूप में वैध अनुमान के फलन को दूषित करता है, वहीं वाद के प्रसंग में हेत्वाभास निग्रहस्थान है, जो वादी या प्रतिवादी के समक्ष पराजय प्रसंग को उपस्थापित करता है। ध्यातव्य है कि न्यायसम्मत् सभी हेत्वाभास वाद विधान के अन्तर्गत "निग्रहस्थान" भी स्वीकार किये गये हैं। अतः एक ही हेत्वाभास को वाद प्रक्रिया एवं अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में दो प्रकार से दोष माना जा सकता है। प्रश्न उठता है कि हेत्वाभास जिस रूप में अनुमान का दोष है, उसी रूप में वह निग्रहस्थान भी होता है या निग्रहस्थानीय हेत्वाभास कुछ विशिष्टताओं को लिए रहता है। यद्यपि न्यायदर्शन में परम्परागत रूप से इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है, क्योंकि प्रमाण के सन्दर्भ में और वाद के सन्दर्भ में हेत्वाभास इसीलिए दोष रूप में प्रसक्त होता है कि इसके होने से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः यहाँ केवल सन्दर्भ भेद है, स्वरूप भेद नहीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक दोषयुक्त हेतु अनुमान को दूषित कर देता है, लेकिन प्रत्येक दूषित अनुमान असद् हेतु के साथ वाद को भी दूषित कर दे, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि वाद प्रक्रिया से पृथक् रूप में भी अनुमान प्रमाण का विनियोग सम्भव है। यदि अनुमान को वाद का अंग बना कर प्रयुक्त किया जाय तो आवश्यक रूप से हेत्वाभास से दूषित अनुमान वाद को भी दूषित कर देगा। इस तरह यदि वादी और प्रतिवादी में कोई एक दूषित अनुमान को प्रयुक्त करता है, और दूसरा पक्ष इस बात को घोषित कर दे, तभी हेत्वाभास से दूषित अनुमान को वाद प्रक्रिया में निग्रहस्थान कहा जा सकता है। वादी या प्रतिवादी के द्वारा घोषित न होने पर यह एक प्रकार से छल हो जायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त बातों को केवल हेत्वाभास के सन्दर्भ में भेद होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से उचित कहा जा सकता है, लेकिन दोनों प्रसंगों में हेत्वाभास का स्वरूप समान ही होता है। इसीलिए न्यायसूत्रकार गौतम ने "हेत्वाभासाश्च यथोक्ता"[३] कहकर अनुमान और निग्रहस्थान के रूप में हेत्वाभास का पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं किया है। उनके अनुसार अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास जिस रूप से स्वीकार किये गये हैं, उसी स्वरूप में वे सभी निग्रहस्थान भी हैं। अतएव नागार्जुन द्वारा हेत्वाभास का खण्डन, अनुमान एवं निग्रहस्थान दोनों के सन्दर्भ में हेत्वाभास का निराकरण करता है। **अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास के खण्डन से सद् और असद् हेतु का विवेक सम्भव नहीं** और तब वाद प्रक्रिया में हेत्वाभास बताकर वादी या प्रतिवादी को निग्रहीत नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए सम्भव है, क्योंकि नागार्जुन ने न्यायसम्मत् हेत्वाभास की अवधारणा पर संशोधनात्मक रूप से विचार नहीं किया है, जैसा कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति इत्यादि बौद्ध नैयायिक करते हुए प्रतीत होते हैं, बल्कि नागार्जुन हेत्वाभास का स्वरूपतः और स्वभावतः खण्डन करते हुए हेत्वाभास की सम्भावना का ही निराकरण करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार हेतु का लक्षण न घटने पर जब वस्तुतः अहेतु ही हेतुसादृश्य के कारण हेतु के समान आभासित होते हैं, तो "हेत्वाभास" कहलाते हैं।[४] नागार्जुन के अनुसार ऐसे सभी हेत्वाभास जिनकी गणना पाँच प्रकारों में की गई है, उन पर विचार तभी सम्भव है, जब साधर्म्य, वैधर्म्य और उनका अधिकरण स्वभावतः मान्य हों। ये ही आधारभूत तत्त्व हेत्वाभास की सम्भावना को सुनिश्चित कर सकते हैं, परन्तु परीक्षा करने पर इनकी स्वभावतः सिद्धि नहीं होती। अतः हेत्वाभास का विचार ही विचारासह्य है।

नागार्जुन हेत्वाभास के खण्डन से पूर्व स्वयं अपने विरुद्ध एक रोचक पूर्वपक्ष का अध्याहार करते हुए कहते हैं कि कोई प्रतिवादी यह कह सकता है कि आपके सभी हेतु हेत्वाभास मात्र हैं। इस पूर्वपक्ष को यदि वैदल्यसूत्रों की अन्विति में देखा जाय तो ४१वें एवं ४२वें सूत्र में हेतु का निषेध करते हुए सभी हेतुओं को हेत्वाभास कहा गया है। पुनः कोई भी खण्डन स्वयं हेतुपूर्वक ही सम्भव है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो खण्डन ही आधारविहीन हो जायेगा। अतः नागार्जुन हेतु का खण्डन करते हुए कम से कम हेत्वाभास नामक एक तार्किक कोटि को स्वीकार करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ही हेत्वाभास की अवधारणा का सम्पूर्ण खण्डन निहित है। नागार्जुन के अनुसार हेत्वाभास सम्भव नहीं, क्योंकि तथाकथित सद् हेतु और असद् हेतु के मध्य साधर्म्य एवं वैधर्म्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[६] दूसरे शब्दों में हेत्वाभास की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो वह सद् हेतु के सदृश्य होगा या असदृश्य होगा, परन्तु उभयविध विकल्प सिद्ध नहीं किये जा सकते।

यदि प्रथम विकल्प को लिया जाय कि हेत्वाभास तथाकथित हेतु के सदृश हुआ करता है तो वह उन सभी गुण-लक्षणों से युक्त होगा जो वस्तुतः एक हेतु में होते हैं। ऐसी स्थिति में उसे किस प्रकार हेत्वाभास की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है ? वास्तव में हेतुत्व का आत्मलाभ होने से जो हेतु है, वह कभी हेत्वाभास नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए परीक्षित सुवर्ण कभी भी सुवर्णाभास नहीं होता है।

यदि दूसरे विकल्प को लिया जाय कि हेत्वाभास तथाकथित हेतु से विसदृश होता है तो उसमें हेतु के गुण-लक्षणों का सर्वथा अभाव होगा। ऐसी स्थिति वह हेतु ही नहीं होगा और तथाकथित हेतु से किञ्चित् भी सादृश्य के अभाव में उसे किस प्रकार हेत्वाभास कहा जाना सम्भव होगा। उदाहरण के लिए मृत्तिका जो सुवर्ण नहीं है, वह सुवर्णाभास नहीं हो सकता। अतः स्वभाव से प्रच्युत हेतु कभी हेतु के समान नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों विकल्पों के अतिरिक्त नागार्जुन एक तीसरे विकल्प को भी हेत्वाभास खण्डन के लिए प्रस्तावित करते हैं। यह कहा जा सकता है कि हेतु के स्वभाव में रूपान्तरण से कोई हेतु हेत्वाभास रूप हो सकता है। यदि इस विकल्प को विवेचित किया जाय तो इसके भी दो पक्ष हो सकते हैं।

यदि प्रथम पक्ष को लिया जाय तो कहा जा सकता है कि रूपान्तरित होकर तथाकथित हेतु अपने स्वभाव से विसदृश कुछ विरोधी धर्मों को अवाप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति रूपान्तरित हेतु वह नहीं रह जायेगा जो वह था, बल्कि कुछ और ही हो जायेगा, जो वह नहीं था। अतः विसदृश धर्मों को अवाप्त कर कोई हेतु हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता है।

यदि दूसरे पक्ष को लिया जाय कि रूपान्तरित हेतु कुछ अपने स्वभाव से सदृश धर्मों को अवाप्त कर हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत होता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में रूपान्तरित हेतु रूपान्तरित होकर भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वही रहेगा जो वह पहले से था। अतः सदृश धर्मों में तथाकथित हेतु का रूपान्तरण, उसे हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

इस प्रकार नागार्जुन के इस सूत्र की व्याख्या से दो बातें सामने आती हैं। प्रथम यह कि सद् हेतु सिद्ध नहीं है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी हेतुओं को हेत्वाभास स्वीकार कर लिया जाय। दूसरा यह कि हेतु और हेत्वाभास में साधर्म्य या वैधर्म्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इसके पश्चात् नागार्जुन अनेकान्तिक या सव्यभिचारी हेत्वाभास का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिसमें व्यभिचार का अभाव है, वही अव्यभिचारी होता है।[७] तात्पर्य यह है कि यदि हेतु के स्वभाव में व्यभिचार नहीं है तो वह कभी भी सव्यभिचारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यदि वह स्वभाव का परित्याग कर देता है तो वह हेतु ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उसका सव्यभिचारी होना असम्भव है। अतः हेतु और अ-हेतु नामक दो ही विकल्प सम्भव हैं, और दोनों ही विकल्पों में सव्यभिचार नामक हेत्वाभास की सम्भावना नहीं बनती है।

यदि पूर्वपक्षी सव्यभिचार की सम्भावना को प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि सव्यभिचार से युक्त होना किसी हेतु का स्वभाव ही होता है। अर्थात् सव्यभिचारी हेतु होते हैं[८] जैसे 'अमूर्तत्व' सव्यभिचारी हेतु है, क्योंकि वह नित्य आकाश और अनित्य कर्म आदि दोनों में रहता है। इसी तरह सामान्य और विशेष भी सव्यभिचारी हैं, क्योंकि वे नित्य परमाणु और अनित्य घट आदि में विद्यमान होते हैं।

नागार्जुन पूर्वपक्ष के प्रस्ताव का खण्डन करते हुए कहते हैं कि न तेषां तदन्यत्वात्। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण उचित नहीं हैं। वस्तुतः उनमें एक ही और समान हेतु नहीं बल्कि दो भिन्न हेतुओं का निर्देश किया गया है। आकाश की भाँति अनुत्पन्न धर्मों में विद्यमान अमूर्तत्व और कर्म आदि उत्पन्न धर्मों में विद्यमान अमूर्तत्व को समान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उत्पन्नता और अनुत्पन्नता परस्पर विरोधी गुण हैं। कर्म आदि का अमूर्तत्व कर्म के उत्पन्न और विनष्ट होने के साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होता है, परन्तु आकाश में रहने वाला अमूर्तत्व ऐसा नहीं है। आकाश की अमूर्तता आकाश के नित्य होने से नित्य है, जबकि कर्म की अमूर्तता ऐसी नहीं है। अतः प्रतिवादी के पक्ष से सव्यभिचार को बताने वाला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरण वास्तव में सव्यभिचारी हेतु को सिद्ध नहीं करता है। यदि एक ही और समान अमूर्तत्व आकाश के सन्दर्भ में नित्यता को सिद्ध करता और वही कर्म के सन्दर्भ में अनित्यता को सिद्ध करता, तभी ऐसे अर्मूतत्व हेतु को सव्यभिचारी हेतु कहा जा सकता था, लेकिन प्रकृत में यहाँ दो अलग-अलग प्रकार की अमूर्तताएँ हैं, जिनसे दो भिन्न प्रकार के साध्य का साधन हो रहा है। परमाणु और घट के सन्दर्भ में दिया गया सामान्य और विशेष हेतु के सव्यभिचार में भी उपयुक्त प्रकार का भेद ही विवक्षित है।

नागार्जुन एक दूसरी युक्ति "सर्व क्षणिकम्"[९] के आधार पर भी सव्यभिचारी हेतु का खण्डन करते हैं। इस युक्ति के अनुसार तर्कतः साधन या दूषण को उस वस्तु के लिए प्रयुक्त ही नहीं किया जा सकता, जिसका साधन या दूषण किया जाना है, क्योंकि क्षणिकता की दृष्टि से वस्तु जिस क्षण उत्पन्न होती है, उसी क्षण उसका नाश भी हो जाता है। साधन और दूषण के लिए प्रयुक्त हेतु और साध्य तथा दृश्य का सहावस्थान हुए बिना साधन और दूषण दोनों ही व्यर्थ हैं। क्षणिकवाद में ऐसा सहवस्थान सम्भव नहीं होने के कारण किसी हेतु को सव्यभिचारी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नागार्जुन द्वारा सव्यभिचारी हेत्वाभास के उपर्युक्त खण्डन के प्रति पूर्वपक्ष की ओर से यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि सव्यभिचारी हेत्वाभास सम्भव नहीं, लेकिन स्वयं नागार्जुन कृत सव्यभिचार के खण्डन से ही "विरुद्ध" नामक हेत्वाभास की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए हम नैयायिक सव्यभिचार हेत्वाभास को स्वीकार करते हैं और नागार्जुन यह कहते हुए उसका खण्डन करते हैं कि यदि हेतु की परिभाषा "साध्यसाधनं हेतुः" है तो वह सव्यभिचारी नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी नैयायिक और प्रतिपक्षी नागार्जुन के अभ्युगम में ही विरोध होने से "विरुद्ध हेत्वाभास" की सिद्धि होती है।[१०]

नागार्जुन इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि "पूर्व" और "अपर" भाव होने से विरुद्धत्व दोष की सम्भावना ही नहीं बनती है।[११] तात्पर्य यह है कि पक्ष और प्रतिपक्ष में पूर्वापर भाव होता है। क्षणिकवादी दृष्टि से जब पूर्व के समय पर नहीं और पर के समय पूर्व नहीं तो पूर्व और अपर में विरोध प्रतिपादित होने के लिए अवसर ही कहाँ हैं ? इस युक्ति को हेतु और प्रतिज्ञा के परस्पर सम्बन्ध पर भी प्रयुक्त किया जा सकता है। हेतु की स्थिति या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो प्रतिज्ञा के पूर्वक्षण में हो सकती है या उसकी क्षणस्थायी स्थिति उत्तर क्षण में हो सकती है। दोनों ही स्थितियों में हेतु और प्रतिज्ञा का सम्बन्ध ही नहीं बनता है तो किस प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता कि हेतु प्रतिज्ञा का विरोधी है? हेतु और प्रतिज्ञा का तुल्यकाल में सहवस्थान क्षणिकवादी दृष्टि से सम्भव नहीं है। अतः विरुद्ध नामक हेत्वाभास सम्भव नहीं है।

नागार्जुन कृत हेत्वाभास (विरुद्ध) के प्रति पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि आपके खण्डन से ही ''कालातीत'' नामक हेत्वाभास की स्वीकृति परिलक्षित होती है। आपके खण्डन का निहितार्थ यह है कि यदि कोई हेतु प्रतिज्ञा के पूर्वकाल में उपस्थित होता है और उपस्थित होते ही विनष्ट हो जाता है, तो ऐसे हेतु के द्वारा उस प्रतिज्ञा का साधन या दूषण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका काल बीत चुका है, अर्थात् वह कालात्यय से युक्त हो गया है। ऐसा हेतु ही हमारे (नैयायिक) मत में ''कालात्ययापदिष्टः कालातीत'' हेत्वाभास कहा गया है। अतः पूर्व-अपर काल की दृष्टि से जो विरुद्ध हेत्वाभास का खण्डन किया गया है, उससे कालातीत नामक हेत्वाभास की सिद्धि होती है।[१२]

नागार्जुन पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्तावित कालातीत नामक हेत्वाभास की परीक्षा करते हुए कहते हैं कि आत्मभाव से प्रच्युत धर्म ही अतीत कहलाता है। ऐसा धर्म, चाहे वह काल हो, चाहे हेतु, उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती है। प्रतिपक्षी की विचार-योजना में किसी वस्तु से ही सम्बन्धित होकर काल भूत, वर्तमान और भविष्य में विभाजित होता है और प्रागभाव, भाव और प्रध्वंसाभाव के रूप में वस्तु तीनों कालों से सम्बन्धित रहती है। घट का घटरूप में भाव वर्तमान काल है। घट का मृत्तिका रूप में भाव भूत काल है। भग्नावशेष रूप घट भविष्यत् काल है। प्रश्न उठता है कि क्या तीनों कालों की सत्ता निरपेक्ष है ? वास्तव में मृत्तिका पिण्ड (भूत) और घट (वर्तमान) के सन्दर्भ में ही भग्नावशेष घट को भविष्य कहा जा सकता है। इसी तरह भग्नावशेष घट के सन्दर्भ में ही मृतिका पिण्ड एवं घट को भूत कहा जा सकता है। अतः भूत, वर्तमान एवं भविष्य की सत्ता एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। परन्तु विचार करने पर विदित होता है कि जब घट का भग्नावशेष रहता है तो मृतिका और घट नहीं होते हैं, अविद्यमान् मृत्तिका और घट के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्दर्भ में भग्नावशेष को भविष्य नहीं कहा जा सकता है। अतः भविष्य की सत्ता नहीं है, क्योंकि जिनके सन्दर्भ में भविष्य को भविष्य कहा जाना सम्भव है, अर्थात भूत और वर्तमान, वे ही वहाँ नहीं होते हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि भूत और वर्तमान की सत्ता है, क्योंकि एक ओर भूत और वर्तमान की सत्ता परस्पर एक-दूसरे के सापेक्ष ही सम्भव है तो दूसरी ओर जब भूत है तो वर्तमान नहीं और जब वर्तमान है तो भूत नहीं। इस प्रकार जब भूत की सत्ता ही तर्कतः असंगत है तो अनस्तित्ववान् भूत से सम्बन्धित कोई कालातीत हेतु की अवधारणा ही कैसे की जा सकती है, जिसे पूर्वपक्षी "कालातीत" हेत्वाभास कहता है।

वस्तुतः नागार्जुन की परीक्षा का निहितार्थ यह है कि अतीत हेतु और अतीत काल, जो बीत चुका है, की सत्ता नहीं है।[१३] वास्तव में इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कानों के द्वारा हेतु सुने जाते हैं लेकिन सुनाई पड़ते ही वे विगत हो जाते हैं, और उनका विगत हो जाना ही आत्मभाव से प्रच्युत हो जाना है। यहाँ ध्यातव्य है कि काल सदैव किसी वस्तु के सम्बन्ध में ही निर्देशित होता है। वस्तु से निरपेक्ष काल का विधान नहीं किया या सकता। इस प्रकार अतीत काल और कालातीत हेतु की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार नागार्जुन हेत्वाभास की अवधारणा की ऐसी परीक्षा करते हैं, जिससे वाद एवं अनुमान दोनों ही सन्दर्भों में हेत्वाभास का वैय्यर्थ फलित होता है। ध्यातव्य है कि नैयायिकों के लिए सद् हेतु की तरह हेत्वाभास भी "तत्त्वनिर्णय" तथा "विजय" का प्रयोजक है।[१४] अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास का निराकरण करते हुए नागार्जुन एक ऐसी स्थिति को प्रस्तावित करते हैं, जिसमें सद् हेतु और असद् हेतु का विवेक ही अनिर्धार्य हो जाता है। एतद्विषयक अनिर्धार्यता अनुमान के द्वारा तत्त्वनिर्णय को असम्भव बना देता है। पुनः जब सद् हेतु और असद् हेतु का विवेक करते हुए हेत्वाभास को निश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता तो वाद प्रक्रिया में किस प्रकार हेत्वाभास बताकर किसी वादी या प्रतिवादी के समक्ष पराजय प्रसंग को उपस्थापित किया जाना सम्भव होगा ? इस तरह नैयायिकों का निग्रहस्थान ही स्वयं निग्रहीत हो जाता है। इस पूरी परीक्षा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह है कि नागार्जुन कोई अपना पक्ष नहीं रखते। वस्तुतः पक्षहीनता ही तो प्रसज्यप्रतिषेधवादी शून्यता की निष्पक्षता है।

डा. अम्बिका दत्त शर्मा
रीडर, दर्शनशास्त्र,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **वैदल्यसूत्रम्**, सैम्बा दोरजे (तिब्बती से पुनर्रचित) तिब्बती हिन्दी केन्द्र वाराणसी, १९७४ - तर्कज्ञानाभिमानेन वादं यः कर्त्तुमिच्छति। तस्याहंकारहानाय वच्मि वैदल्यसूत्रकम्॥

२. यद्यपि परम्परागत रूप से वैदल्यसूत्र को नागार्जुन की कृति के रूप में स्वीकार किया जाता है, तथापि फरनेन्डो टोला एवं कारमेन ड्रैगोनेट्टी ने अपने वैदल्यसूत्र के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में वैदल्यसूत्र को नागार्जुन की रचना होने पर कतिपय प्रश्नचिह्नों को खडा किया है। दृष्टव्य **वैदल्य प्रकरण**, अंग्रेजी अनु. मोतीलाल बनारसीदास - १९९५.

३. **न्यायसूत्र**, ५/२/२५ - हेत्वाभासाश्च यथोक्ता॥

४. **न्यायभाष्य**, १/२/४ - हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।

५. **न्यायसूत्र**, १/२/४ - सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।

६. **वैदल्यसूत्रम्**, वही - ५७ - - सन्ति हेत्वाभासाः, साधर्म्यवैधर्म्याभावात्।

७. वही - ५८ - व्यभिचाराभावेऽव्यभिचारित्वम्।

८. वही - ५९ - सव्यभिचारी हेतुर्भवतीति चेत्। न तेषां तदन्यत्वात्।

९. वही - ६० - क्षणिकत्वात्।

१०. वही - ६१ - त्वदुक्ताः सर्वेहेतुवो विरुद्धाः, न तु सव्यभिचाराः।

११. वही - ६२ - न विरुद्धत्वं, पूर्वापरभावात्।

१२. वही - ६३ - अतीतस्त्वतीताः, अतीतन्यातीतत्वात्। नास्त्यतीता नामतीतत्त्वम्।

१३. वही - ६५ - अतीतो हेतुः कालो वा नास्ति, असम्भवात्।

१४. **तत्त्वचिन्तामणि**, गंगेश उपाध्याय - अथ हेत्वाभासस्तत्त्वनिर्णय-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विजयप्रयोजकत्वान्निरूप्यन्ते।

हम प्रो. दयाकृष्ण जी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने न्यायसूत्र एवं वैदल्यसूत्र के अन्त:सम्बन्ध पर विचार करने के लिए प्रेरित किया और सामग्री भी उपलब्ध करायी। यह निबन्ध उन्हीं की प्रेरणा का फलित है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राण की यज्ञरूपता

यजु: ऋक् और साम - इन तीनों वेदों की सन्निविष्टि से यज्ञ का स्वरूप बनता है। ये तीनों वेद वाक् हैं। यज्ञ प्राणप्रधान है। प्राण और वाक् सर्वदा साथ में संयुत रहते हैं। ये दोनों अयुतसिद्ध[1] हैं। यजुरादि तीनों वेद यज्ञ का प्रत्रवस्थान एवं कर्मस्थान हैं। यज्ञ के त्रिवेद स्वरूप होने के कारण उसे 'त्रिधातु' कहा जाता है। इस सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रहे समस्त पदार्थ प्राणस्वरूप हैं। प्राण मन के प्रकाश में विद्यमान् है और इन प्राणों के आधार पर तेजस्वरूप वाक् रहता है। मन, प्राण और वाक् की समष्टि ही प्रजापति कहलाता है। प्रजापति के मन का प्राण में जाना, प्राण का वाक् में जाना और पुन: वाक् का मन में जाना ही यज्ञ कहलाता है। क्रियास्वरूप प्राण मुख्य है तथा मन और वाक् उस प्राण के सदा पार्श्व में रहने वाले दो स्थायी तत्त्व हैं।

प्राण का स्वरूप

प्राण प्रतिपल क्रियाशील है। जागतिक क्रिया प्राण के कारण होती है। प्राण ही एक वस्तु का अन्य वस्तु से सम्बन्ध करवा कर उसमें कम्पन अर्थात् क्रिया उत्पन्न करवाता है। जिस वस्तु में क्रिया होती है उस से कुछ प्राण का भाग निकल जाता है। हम लोगों द्वारा काफी देर तक कार्य करने के पश्चात् शिथिल होना प्राण की न्यूनता के कारण होता है। इस प्रकार समस्त क्रियाएँ प्राण का विकार ही सिद्ध होती हैं। परस्पर टकराने पर वस्तुओं में शब्द उत्पन्न होता, स्पर्श का अनुभव होना, रक्त पीतादि रंगों का बोध होना इत्यादि पञ्चभूतों के लक्षण प्राण में घटित नहीं होते। प्राण विधरणशक्ति अथवा आसञ्जनशक्ति (आकर्षणशक्ति) के द्वारा परमाणुओं को बांध कर वस्तु को स्थूल आकार प्रदान करता हैं। प्राण मूलमात्रा के बिना कभी नहीं रहता। प्राण के कारण ही मन प्राणियों के शरीर में बन्धा हुआ रहता है। प्राण विसारी धर्म वाला होने के कारण अल्पप्रदेशव्यापी होकर भी बहुप्रदेशव्यापी हो जाता है। प्राण का प्रत्येक कार्य मन की आज्ञा से होता है। मन के सो जाने पर भी प्राण कभी भी नहीं सोता। प्राण न तो कभी थकता है और न ही विश्राम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना चाहता है। संक्रमण करता हुआ प्राण एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चला जाता है। वह चलते-चलते रुक जाता है और थोडी देर बाद पुनः चलने लगता है।

प्राणसृष्टि

प्राण मन की इच्छा से नाना जाति वाले असंख्य रुढतत्त्व के रूप में उद्‌भूत हुआ है। प्रत्येक रूढतत्त्व, जो कि दूसरे रुढतत्त्व से बिना मिले पृथक् रूप धारण करते हैं, इन सबको ऋषि कहते हैं। यद्यपि प्राण ही ऋषि कहलाते हैं, तथापि प्राण की दो अवस्थाएँ हैं रूढ और यौगिक। इनमें रूढप्राण को ही ऋषि कहते हैं। यौगिक अवस्था होने पर इन्हीं रूढ रूपी ऋषियों का स्वरूप परिवर्तन होता है। ऋषियों के योग से पितर उत्पन्न होते हैं, फिर पितृप्राण के योग से देव और असुर उत्पन्न होते हैं, उनके पश्चात् मनुष्य और गन्धर्व उत्पन्न होते हैं। समस्त ऋषि, पितर, देव, असुर, मनुष्य और गन्धर्व ये सब प्राण के ही भेद हैं।

इन्द्रियों में प्राण की श्रेष्ठता

प्राण आशा से बढकर है। प्राण पिता है।[२] प्राण ही सब कुछ है।[३] वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पांचों भिन्न-भिन्न देवता होने पर भी पांचों ही अग्नि रूप से प्रज्ञा में स्थित हैं। प्रज्ञा और इन पाँचों देवताओं के मेल से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की उत्पत्ति में एक प्रज्ञा और दूसरा पांचों देवताओं में से एक देवता - ये दोनों ही सहकारी हैं। वाक् आदि पाँचों इन्द्रियों में प्राणेन्द्रिय ही श्रेष्ठ है।[४] मन इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों का आयतन है। चक्षु इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। वागिन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों में वरिष्ठ है और श्रोत्रेन्द्रिय शेष चार की सम्पति है। सामान्यतया समस्त इन्द्रियाँ प्राण कहलाती हैं।[५]

तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों में प्रत्येक इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों से उपयोग रखती है और सहकारिणी होती है, क्योंकि ये पाँचों ही इन्द्रियाँ कुछ न कुछ क्रिया करती हैं अर्थात् कतिपय व्यापार के अनन्तर ही ज्ञान का उत्पादन करने में समर्थ होती हैं। यह क्रिया करना प्राण के सम्बन्ध से होता है, ज्ञान अक्रिय है। यदि इन पाँचों में प्राण का सम्बन्ध हटा दिया जाय तो किसी भी इन्द्रिय से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि पाँचों ही इन्द्रियाँ प्राण पर आश्रित हैं। इसलिए प्राण को समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ माना जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्त इन्द्रियाँ प्राणबन्धन से बद्ध हैं। श्रुति भी यही कहती है -

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः षड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हात्रिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति।[६]

प्राण और उद्गीथ रूप ओङ्कार का तादात्म्य

प्राणविषयक एक रोचक आख्यान छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में उद्धृत है। एक बार देवताओं ने असुरों को परास्त करने के लिये, नासिका में रहने वाले प्राण रूप में, उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार अक्षर की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे पापविद्ध कर दिया, इसलिए नासिकाप्राण पाप सन्निविष्ट होने के कारण सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को सूँघता है। पुनः देवताओं ने मुख्य प्राण की उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार अक्षर के रूप में उपासना की। मुख में रहने वाला प्राण ही 'मुख्यप्राण' कहलाता है।[७] उस मुख्यप्राण के समीप पहुँच कर असुर गण ठीक उसी प्रकार ध्वस्त हो गये जिस प्रकार दुर्भेद्य पाषाण के पास पहुँच कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी का ढेला दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाश को प्राप्त हो जाता है जो प्राणोपासक पुरुष के प्रति पापाचार की कामना करता है अथवा उसको कोसता है या मारता है, क्योंकि यह प्राणोपासक अभेद्य पाषाण ही है - स एषोऽश्माखणः।[८]

लोक इस मुख्यप्राण के द्वारा न तो सुगन्ध को जानता है और न दुर्गन्ध को जानता है, क्योंकि यह पाप से पराभूत नहीं है। अतः यह जो कुछ खाता-पीता है उससे अन्य प्राणों (इन्द्रियों) का पोषण होता है। अन्तकाल में इस मुख्यप्राण को प्राप्त न होने के कारण ही घ्राणादि पापसमूह उत्क्रमण करता है और इसी कारण अन्तकाल में पुरुष मुख फाड देता है।

इस मुख्यप्राण की अनेक ऋषियों ने उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार रूप में उपासना की है। अङ्गिरा ऋषि ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार की उपासना की थी, अतः इस प्राण को ही आङ्गिरस कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गों का रस है।[९] ऋषि बृहस्पति ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार की उपासना की है। लोग इस प्राण को ही बृहस्पति मानते हैं, क्योंकि वाक् ही बृहती है और यह उसका पति है।[१०] ऋषि आयास्य ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ रूप ओङ्कार की उपासना की है। लोग इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह आस्य अर्थात् मुख्य से निकलता है।[११] दल्भ के पुत्र बक ने प्राणमय उद्गीथ रूप ओङ्कार की उपासना की। वह नैमिषारण्य में जाकर यज्ञ करने वालों का उद्गाता हुआ और उसने उनकी कामनापूर्ति के लिए उद्गान किया। इस प्राणमय उद्गीथ रूप ओङ्कार को जानकर जो पुरुष उपासना करता है वह कामनाओं का आगान करने वाला होता है। इसे ही अध्यात्म-उपासना कहते हैं -

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्।[१२]

प्राण और सूर्य परस्पर समान ही हैं। प्राण उष्ण है और सूर्य भी उष्ण है। प्राण और सूर्य का अभेद मानने पर प्राण को 'स्वर प्राण' कहा जाता है और सूर्य को 'प्रत्यास्वर' कहा जाता है। अतः साधक को प्राण और सूर्य की उद्गीथ रूप में उपासना करनी चाहिये। व्यानदृष्टि से भी उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। पुरुष द्वारा की जा रही प्राणनक्रिया प्राण कहलाती है और अपश्वासक्रिया अपान कहलाती है। प्राण और अपान की सन्धि 'व्यान' कहलाती है।[१३] व्यान ही वाक् कहलाती है। वाक् से ही पुरुष प्राण और अपानक्रिया न करते हुए ही वाणी बोलती है। वाक् ही ऋक् है। ऋक् से पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ ऋक् का उच्चारण करता है। ऋक् ही साम कहलाता है। साम से ही पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ सामगान है। साम ही उद्गीथ कहलाता है। उद्गीथ से प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ पुरुष उद्गान करता है। अग्निमन्थन प्रभृति वीर्ययुक्त कर्मों को भी पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ ही करता है। इसलिए व्यानदृष्टि से ही पुरुष को उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। 'उद्गीथ' शब्द में प्राण ही 'उत्' है, क्योंकि प्राण ही उठता है। वाणी ही 'गी' है, क्योंकि वाणी को 'गिरा' कहते हैं। अन्न ही 'थ' है, क्योंकि अन्न में ही यह सब स्थित है -

उद्गीथ इति प्राण एवो प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचाचक्षतेऽन्नं धमन्ने हीदं सर्वं स्थितम्।[१४]

उद्गीथ और प्रणव एक ही तत्त्व है। इन दोनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। आदित्य, उद्गीथ और प्रणव में भी परस्पर कोई भेद नहीं है, क्योंकि आदित्य 'ओऽम्, का उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है।[१५] साधक को मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि यह मुख्यप्राण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'ओऽम्' इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ गमन करता है -

य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति।[१६]

हृदयस्थ प्राण तथा ब्रह्मपुरुष

शरीरस्थ हृदय के पाँच देवसुषि हैं। देवसुषि का अर्थ है देवताओं के स्वर्गलोक प्राप्ति के द्वारभूत छिद्र।[१७] हृदय का प्रथम छिद्र पूर्वदिशावर्ती है। वही प्राण है, वही चक्षु है, वही आदित्य है, वही तेज है और वही अन्नाद्य है - इस बात का ज्ञाता तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। हृदय का द्वितीय छिद्र दक्षिणदिशावर्ती है। वही व्यान है, वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है, वही श्री है और वही यश है - इस बात का ज्ञाता श्रीमान् और यशस्वी होता है। हृदय का तृतीय छिद्र पश्चिमदिशावर्ती है। वही वाक् है, वही अग्नि है, वही ब्रह्मतेज है और वही अन्नाद्य है - इस बात का ज्ञाता ब्रह्मतेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। हृदय का चतुर्थ छिद्र उत्तरीय है। वही समान है, वही मन है, वही मेघ है, वही कीर्ति है और वही व्युष्टि (देहलावण्य) है - इस बात का ज्ञाता कीर्तिमान् तथा व्युष्टिमान् होता है। हृदय का पञ्चम छिद्र ऊर्ध्व है। वही उदान है, वही वायु है, वही आकाश है, वही ओज है और वही महः है - इस बात का ज्ञाता बलवान् और तेजस्वी होता है। ये पञ्च छिद्र रूप पञ्च ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो व्यक्ति स्वर्गलोक के द्वारपाल रूप इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को जानता है उसके कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है तथा वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है -

य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकम्।[१८]

प्राण का अन्न

मुख्यप्राण का अन्न वही है जो कुत्तों और पक्षियों से लेकर सब जीवों का अन्न हैं। सर्वान्नभक्षी प्राण का प्रत्यक्ष नाम 'अन' भी है - इस बात को जानने वाले के लिए कुछ भी अनन्न ((अभक्ष्य) नहीं होता।[१९] प्राणदर्शन करने वाला पुरुष यदि इस प्राण का शुष्क स्थाणु के पास खडा होकर नाम ले तो उसमें शाखा उत्पन्न होकर पत्ते फूट आते हैं-

यद्यप्येतंच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्ज्ञायेरन्नवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि।[२०]

जो अन्न प्रथमतः आवे उसका हवन करते हुए भोक्ता को प्रथम आहुति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'प्राणाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये। इस प्रकार प्राण तृप्त होता है। प्राण के तृप्त होने पर नेत्रेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय की तृप्ति से सूर्य, सूर्य की तृप्ति से द्युलोक और द्युलोक ही तृप्ति से आदित्याधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को द्वितीय आहुति 'व्यानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे व्यान तृप्त होता है। व्यान की तृप्ति से श्रोत्रेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय की तृप्ति से चन्द्रमा, चन्द्रमा की तृप्ति से दिशाएँ और दिशाओं की तृप्ति से चन्द्रमाधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को तृतीय आहुति 'अपानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे अपान तृप्त होता है। अपान की तृप्ति से वागिन्द्रिय, वाक् की तृप्ति से अग्नि, अग्नि की तृप्ति से पृथिवी तथा पृथिवी की तृप्ति से अग्न्यधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को चतुर्थ आहुति 'समानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे समान तृप्त होता है। समान की तृप्ति से मन, मन की तृप्ति से पर्जन्य, पर्जन्य की तृप्ति से विद्युत् और विद्युत् की तृप्ति से पर्जन्याधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को पञ्चम आहुति 'उदानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे उदान तृप्त होता है। उदान की तृप्ति से त्वचा, त्वचा की तृप्ति से वायु, वायु की तृप्ति से आकाश और आकाश की तृप्ति से वाय्वधिष्ठित लोक तृप्त होता है और उसकी तृप्ति के पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज तथा ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है -

तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेन।[२१]

प्राण की आदिमूलकता

स्वयम्भूमण्डल, परमेष्ठीमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और पृथिवीमण्डल इन पांचों मण्डलों में भिन्न-भिन्न प्राण रहते हैं। स्वयम्भू में रहने वाले तत्त्व का नाम 'प्राण' है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द रहित जो एक मौलिक तत्त्व है उसी का नाम प्राण है। इस मैथुनी सृष्टि के पहले इस प्राणतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है -

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदीति ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वं स्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।[२२]

प्राण में प्राण नहीं रहता अतएव इसको 'असत्' शब्द से व्यवहृत किया गया है। यह असत् प्राणतत्त्व उस अव्यय मन पर प्रतिष्ठित रहता है। इस मन पर प्रतिष्ठित रहता है। इस मन और प्राण की समष्टि को ही आत्मा कहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस आत्मा की परमेष्ठी आदि प्रजाएँ हैं, अतएव स्वयम्भू को प्रजापति कहा जाता है। इस प्रजापति से सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है इसलिए इस मैथुनी सृष्टि में पहली सृष्टि पानी ही है। अतएव कहा जाता है -

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविद्याः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥[२३]

डा. मंगलराम बिश्नोई

४५, नव दुर्गास्कीम
शिवाजी स्कूल के सामने
झालामण्ड चौराहा, जोधपुर ३४२००५

टिप्पणियाँ

१. तावेवायुतसिद्धो द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपरानितमेवावतिष्ठते॥
केशवमिश्र, तर्कभाषा, प्रमाणप्रकरण

२. प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवास्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यःप्राणो ब्राह्मणः। छान्दोग्योपनिषद्, ७.१५.१

३. प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। वही, ७.१५.४

४. यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। वही, ५.१.१

५. न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनासीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। वही, ५.१.१५

६. वही, ५.१.१२

७. य एवायं प्रसिद्धो मुखे भवो मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य, १.२.७

८. छान्दोग्योपनिषद्, १.२.८

९. एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः। वही, १.२.१०

१०. वाग्धि बृहती तस्या एष पतिः। वही, १.२.११

११. एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यादयते। वही, १.२.१२

१२. वही, १.२.१४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१३. अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः। वही, १.३.३
१४. वही, १.३.६
१५. असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति। वही, १.५.१
१६. वही, १.५.३
१७. एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चसंख्याका देवानां सुषयो देवसुषयः स्वर्गलोकप्राप्ति द्वारच्छिद्राणि देवैः प्राणादित्यादिभी रक्ष्यमाणानीत्यतो देवसुषयः। छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य, ३.१३.१.
१८. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१३.६
१९. एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं विदि किञ्चिन्नान्नं भवति। वही, ५.२.१
२०. वही, ५.२.३
२१. वही, ५.२३.२
२२. शतपथब्राह्मण, ६.१.१.१
२३. मनुस्मृति, १.८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इक्कीसवीं शताब्दि का भारतीय चिन्तन : संभावना एवं अपेक्षा

बहुत महत्त्व न होने पर भी अभारतीय परम्पराओं के अविचारित अनुकरण का अभ्यस्त भारतीय प्रबुद्ध वर्ग इक्कीसवीं शताब्दि का स्वागत कर रहा है। शताब्दि संख्या जो भी हो, विगत सौ वर्ष भारतीय समाज में द्रुत परिवर्तन का काल रहा है। इसलिए नई शताब्दि में समाज के हर क्षेत्र में कुछ संभावनाएँ, कुछ अपेक्षाएँ ढूँढी जा रही हैं। इसी क्रम में दार्शनिक चिन्तन का भी सिंहावलोकन और तदाश्रित भावी दिशा भी चिन्तनापेक्षी है। इस अपेक्षा की पूर्ति की दृष्टि से ही यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, इस निवेदन के साथ कि पाठकों से वैचारिक संवाद हो और कुछ निष्कर्ष निकले।

बीसवीं शताब्दि में - भारतीय समाज दो विरोधी अवस्थाओं में रहा है। लगभग आधी शताब्दि राजनैतिक परतंत्रता में और शेष आधी उसने स्वतंत्रता में व्यतीत किया है। इसलिए इस शताब्दि के चिन्तन में जहाँ परतंत्रता के लक्षण स्पष्टत: व्यक्त हुए हैं वहीं स्वतंत्रता के उत्साह की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस सदी के चिन्तन की पृष्ठभूमि में जहाँ मैकाले योजना और अंग्रेजी भाषा सक्रिय रही है, जिसने दार्शनिक चिन्तन को विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकीय प्रवृत्ति रूप में प्रस्तुत किया, वहीं परम्परा के संरक्षण की प्रवृत्ति भी सक्रिय रही है। प्रगतिवाद के नाम पर मार्क्सवाद भी कहीं-कहीं पल्लवित होता रहा।

इन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में वेदान्त, विशेषकर अद्वैतवेदान्त और बौद्ध परम्परा ही प्राय: रही है। विश्वविद्यालय अध्ययन केंद्रों में अधिकांशत: अंग्रेजी में पढे-लिखे, और पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्राच्य विद्या के क्षेत्र में स्थापित मान्यताओं और अवधारणाओं के साँचे में ही दर्शन पल्लवित होता रहा है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि पश्चिमी प्राच्य प्रतिभा भारतीय दर्शन के गौरव के रूप में बौद्ध और वेदान्त का ही महिमागान करती रही है। अत: विश्वविद्यालयों में भी प्राय: चिन्तन इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता रहा है, किसी मौलिक अथवा नवीन चिन्तन धारा का विकास विश्वविद्यालयों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के 'प्राध्यापकीय दर्शन' में नहीं हो पाया।

समकालीन दर्शन की दूसरी प्रवृत्ति - परम्परा संरक्षण की प्रवृत्ति, भी राजनैतिक और बौद्धिक दासता की ही प्रतिक्रिया थी। इस दिशा में जहां व्यवस्थित अध्ययनशील प्राध्यापकीय वर्ग लगा रहा वहीं समाज में सक्रिय भूमिका निभाने वालों का भी योगदान रहा। इस प्रवृत्ति ने चिन्तन के 'विषय' के रूप में समाज को चुना। राजनैतिक दासता में आत्मगौरव की स्थापना की दृष्टि से अतीत की उपलब्धियों का महिमागान और विदेशी संस्कृति से स्वयं की श्रेष्ठता निरूपण की प्रवृत्ति के साथ-साथ भारतीय समाज में प्रचलित दोषों का परिहार भी चिन्तकों का कार्यक्षेत्र बना। इनमें 'अधिकांशत: वेदान्त, विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त का ही पोषण होता रहा।

स्वतंत्रता के बाद की स्थिति अत्यन्त शोचनीय रही। इस अर्धशताब्दि में प्राध्यापकीय दर्शन तो प्रायश: पाश्चात्य परम्पराओं और अवधारणाओं के पोषण में ही व्यस्त रहा।[१] इस का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक दर्शन की प्रवृत्ति विकसित हुई। राधाकृष्णन, पी. टी. राजू, डी. एम. दत्ता, कालिदास भट्टचार्य आदि इस क्षेत्र में सक्रिय रहे। इसी क्रम में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा का भी विकास हुआ। प्राध्यापकीय दर्शन के विकास में न केवल बौद्धिक दासता महत्त्वपूर्ण बाधा रही, वरन् अध्ययन के केन्द्रों में 'पद' व 'प्रतिष्ठा' व्यामोह के कारण 'दार्शनिकता' का स्थान 'शास्त्रवेत्ता' ने ले लिया। परिणामस्वरूप आकर्षक बायोडाटा निर्माण केन्द्रित चिन्तन और लेखन का विश्वविद्यालय अध्ययन केन्द्रों में आधिपत्य होता गया। वास्तव में 'स्वतंत्रता के बाद वह वातावरण सचेत रूप से तैयार नहीं किया गया जिसमें नयी विचार पद्धतियों का ऊँचे धरातल पर समुचित विकास किया जा सके।[२] संगोष्ठियों और अधिवेशनों में 'दार्शनिकता' की जगह 'स्नेह सम्मेलन' की मानसिकता बढती गई। इन सबके बावजूद गत शताब्दि दर्शन शून्य नहीं कही जा सकती। अवस्था में आशाजनक कुछ न भी हो तो निराशाजनक भी नहीं था। बीसवीं शताब्दि का भारतीय दर्शन सिर्फ वही नहीं है जिसे प्राध्यपाकों ने मान्यता दी या जो समकालीन भारतीय दर्शन या चिन्तन के नाम से प्रकाशित पुस्तकों में है।

बीसवीं शताब्दि में कई दार्शनिक हुए हैं जिन्हें दार्शनिक के रूप में अध्ययन केन्द्रों में प्रस्तुत नहीं किया जाता और जिनका योगदान अनेक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राध्यापकीय दार्शनिकों से कम नहीं है। राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, विनायक दामोदर सावरकर, मा. स. गोलवलकर, दीनदयाल उपाध्याय, वैद्य गुरुदत्त (उपन्यासकार) आदि विचारकों ने समाज की जीवन्त समस्याओं पर चिन्तन किया। महेश योगी और रजनीश का योगदान भी है जिसे प्राध्यापकीय क्षेत्र में समुचित स्थान नहीं मिला। इनमें कुछ को राजनैतिक क्षेत्र में रख दिया गया और शेष का विचारकों की श्रेणी के बजाय साम्प्रदायिक राजनीति के प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर दिया गया। इन सभी विचारकों ने सैकडों वर्षों की दासता से उत्पन्न वैचारिक कुण्ठा और पश्चिमी विचारों के अन्धानुकरण से समाज को उबारने का प्रयास किया। कुल मिला कर बीसवीं शताब्दि में दार्शनिक चिन्तन में अस्मिता बोध, विदेशी-स्वदेशी समन्वय और सामंजस्य और पश्चिमी अवधारणाओं के पोषण की प्रवृत्तियाँ ही व्याप्त रहीं। इसे वैचारिक संक्रमण कहा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दि के समापन की वेला में, जब दासता की अवधि में परिपक्व विचारक या मैकाले योजना में शिक्षित पीढी के विचारक अब लुप्त हो गए हैं, स्वतंत्र भारत में शिक्षित पीढी वैचारिक परिपक्वता के स्तर पर आ चुके हों, इक्कीसवीं शताब्दि के दार्शनिक चिन्तन के संबंध में दो प्रश्न विचारणीय हो जाते हैं। बीसवीं शताब्दि के विचारों की परिणति इक्कीसवीं शताब्दि में किस प्रकार की होगी ? दूसरा प्रश्न है इक्कीसवीं शताब्दि में दार्शनिकों की वैचारिक प्राथमिकता किस प्रकार की होनी चाहिए। इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'दर्शन' के स्वरूप-विषयक हमारी मान्यता पर निर्भर है। दर्शन यदि दुःख निवृत्ति के साधन के रूप में या शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के साधन के रूप में मान्य हो तो भारत की प्राचीन परम्परा का विकास ही भारतीय दर्शन का भविष्य होगा। दर्शन यदि अन्वीक्षा के द्वितीय चक्र के रूप में मान्य हो तो यह भविष्य में वैज्ञानिक प्रतिज्ञाप्तियों की खोज और व्याख्या के शास्त्र के रूप में स्थापित होगा। जो भी हो, इक्कीसवीं शताब्दि में दर्शन की संभावना या अपेक्षा का रूप दर्शन के स्वरूप, विषय वस्तु आदि विषयक मान्यताओं पर ही निर्भर करेगा। अतः लेख के शेष भाग में हम इसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

दयाकृष्णजी के अनुसार "दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत् के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिर्भर करती हुई उन सब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं को देखती है जिनसे मानव चेतना ग्रसित और व्यथित रहती है।"[३] अब 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' एक अस्पष्ट और विस्तृत व्याख्यापेक्षी मान्यता है। दयाकृष्ण ने अपने संदर्भांकित लेख में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। दयाजी मानते हैं कि 'वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है।"[४] इससे 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' से उनका आशय समझा जा सकता है। संभवतः शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र वे ज्ञान के उस क्षेत्र को मानते हैं जहाँ ज्ञान किसी अन्य प्रयोजन का साधन न हो कर स्वयं में साध्य है। ऐसा क्षेत्र वहीं होगा जहाँ बुद्धि अपनी गतिविधियों या प्रकिया पर ही विचार करती हो। दयाजी के शब्दों में दर्शन बुद्धि द्वारा बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है। इसे वे दर्शन का मर्म स्थल मानते हैं। बुद्धि क्या है, ज्ञान क्या है, ज्ञान की प्रामाणिकता की क्या कसौटी है, प्रामाणिकता की क्या शर्तें हैं, बुद्धि की विचार सीमा क्या है- आदि प्रश्नों को शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र माना जा सकता है। यानि दर्शन का केन्द्र ज्ञानमीमांसीय प्रश्न ही हैं। श्री राजेन्द्र प्रसाद अपने एक लेख में यह बताने का प्रयास करते हैं कि "दार्शनिक अन्वेषण सम्प्रत्ययों के प्रयोग और व्यवहार की परीक्षा मुख्यतः तार्किक ढंग से अर्थात संगति और असंगति की दृष्टि से करता है।"[५] चाहे वे सम्प्रत्यय किसी भी क्षेत्र के क्यों न हो। दार्शनिक "अध्ययन के लिए विषयभूत सम्प्रत्ययों के चुनाव की कोई नपी-तुली कसौटी या तकनीकी नहीं दी जा सकती, किस सम्प्रत्यय या सम्प्रत्ययों के किस समूह को कोई दार्शनिक अपने अध्ययन का विषय बनाता है यह बहुत कुछ उसकी रुझान, शिक्षा-दीक्षा और विश्लेषण की विशिष्ट क्षमता, उसकी अपनी दार्शनिक वरीयताएँ, उसके मूल्यांकन, तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक वैचारिक फैशन आदि पर निर्भर करता है।"[६]

कालिदास भट्टाचार्य दर्शन को आत्म और अनात्म युक्त समस्त सृष्टि के व्यवस्थित अध्ययन को मानते हैं।[७] सारांश में यह कहा जा सकता है कि दर्शन की विषयवस्तु के रूप में वह सब कुछ स्वीकार कर लिया जाता है जो मानव के लिए ज्ञेय हो या जिसे वह विचारणीय समझता हो। लेकिन इसे परिभाषा नहीं कहा जा सकता। इसमें अतिव्याप्तता है। समाजशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान भी 'ज्ञेय' यद्यपि विशिष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षेत्र के हैं। जिस रूप में ये अध्ययन हैं उसी रूप में दर्शन भी इन समस्त विषयों का अध्ययन नहीं हो सकता। समस्त अध्ययन तथ्यों की खोज और विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसीलिए ये शास्त्र 'विज्ञान' मान लिए जाते हैं। यदि इन की पद्धति ही दर्शन हो तो दर्शन की स्वायत्तता पृथकृता और संभवतः आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

दर्शनशास्त्र के परम्परा से प्राप्त साहित्य से यह बात समझी जा सकती है कि दार्शनिक चिन्तक क्रमशः मानव जीवन की ज्वलन्त समस्याओं से अलग होता गया। यही नहीं, जो कुछ ज्ञेय, विचारणीय और सम्प्रेषणीय पहले दर्शनशास्त्र में था, उसमें ज्ञान के क्षेत्रों के अनुरूप अलग अलग शास्त्रों का निर्माण होता गया।[८] परिणाम स्वरूप दर्शन का 'अपना' विषय सिमटता चला गया। जो बच गया उसकी महत्ता, उसका औचित्य भी अब समझाना पड रहा है।

दार्शनिक चिन्तन के औचित्य का प्रश्न उसकी विषय वस्तु के कारण उठता है। यह प्रश्न प्राध्यपकीय दर्शन के प्रचलित मान्य रूप के संदर्भ में तो अवश्य ही उठता है। बीसवीं शताब्दि के प्राध्यापकीय दर्शनाशास्त्रियों ने दर्शन को अधिकांशतः ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, नीतिमीमांसीय 'प्रश्नों' पर चिन्तन के रूप में स्थापित तो किया ही है, साथ ही दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा के आधार पर इन प्रश्नों पर चिन्तन और लेखन भी किया है। उनके समक्ष यह प्रश्न सीधे महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि दर्शन की विषयवस्तु क्या हो ? उनके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है पाश्चात्य विचार प्रणाली के साथ समायोजन, सामन्जस्य और संगति का या फिर भारतीय परम्परा में मान्य प्रचलित विषय वस्तु के अस्मिता बोधजन्य पुनर्मूल्यांकन का।[९] इस वर्ग के विचारकों की प्रायः यह मान्यता रही है कि दार्शनिक चिन्तन को शुद्ध बौद्धिक समस्याओं तक सीमित रहना चाहिए। एक ओर समस्त विचारणीय समस्याओं या उनसे सम्बन्धित संप्रत्ययों को दर्शन के क्षेत्र में सम्मिलित करना और फिर शुद्ध बौद्धिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना-एक अन्तर्विरोध है। इसका परिहार न करने के कारण 'दार्शनिकता' शास्त्रीय दृष्टि से विश्वविद्यालयों तक सिमट कर रह गयी।

दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि कुछ एक अपवादों को छोड कर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस विषय को पढ़ने वाले छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है। यही नहीं अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दर्शन विभाग स्थापित करने का प्रयास भी नहीं किया गया। कई बार तो दर्शन विभागों को अनुपयोगी मानकर बन्द करने की चर्चायें भी होती रहती हैं क्योंकि इसमें छात्र-संख्या कम होती है। हाल ही में केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सचिव श्री काव का पत्र जो उन्होंने समस्त विश्वविद्यालयों को भेजा है उसमें दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता की स्वीकृति के साथ इस शास्त्र को व्यावहारिक बनाने की दिशा में प्रयास करने का सुझाव दिया गया। जिस देश में दर्शन स्वरूपतः व्यावहारिक रहा हो, वहाँ ऐसा विचार उठना विश्वविद्यालयों में प्रचलित दर्शनशास्त्र की दयनीय स्थिति का ही लक्षण है। ऐसी दुरवस्था के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो उच्च शिक्षा में रोजगार मूलकता की भ्रामक और आत्मघाती प्रवृत्ति का समावेश और दूसरा दर्शनशास्त्रियों का समाज की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति अनैतिक उदासीनता। जिन कथित समस्याओं में दर्शनशास्त्री उलझा हुआ है वे कुछ बौद्धिक प्रश्न मात्र हैं। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में दर्शन को सीमित करने से दर्शन मूल लक्ष्य से भटक गया है। दार्शनिक चिन्तन की सामाजिक सार्थकता उसके 'समस्या-समाधान-मूलक' होने में है। वास्तव में दार्शनिक चिन्तन - या सिर्फ चिन्तन के लिए तीन प्रेरक बिन्दु हैं - समस्या, जिज्ञासा और प्रश्न। दार्शनिक चिन्तन, इन तीनों में किस बिन्दु से आरंभ होता है, उस पर निर्भर करता है कि चिन्तन के विषय की प्रासंगिकता कितनी है।

समस्या हमेशा जीवन्त होती है। समस्या पर बुद्धि जब विचार करती है तो उस विचार करने में वे सारी परिस्थितियाँ अन्तर्निहित रहती हैं जिनमें वह समस्या उत्पन्न होती है। वे परिस्थितियाँ शुद्ध बौद्धिक नहीं होती। अपनी बात को मैं एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा। शुद्ध बौद्धिक कहे जाने वाले एक प्रश्न को लें- 'ज्ञान क्या है ?' क्या यह मनुष्य के लिए कोई समस्या है ? मनुष्य को वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, अपने मन की भावनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन 'ज्ञान' क्या है यह किसी के लिए भी समस्या नहीं होती। हाँ यह एक प्रश्न हो सकता है (शायद प्रश्न ही है) प्रश्न हमेशा बौद्धिक होते हैं। 'प्रश्न' के पूछे जाने की (जो पूछा जाय वही होता है, चाहे फिर स्वयं ही क्यों न पूछा जाय) परिस्थिति, विशेष प्रशिक्षण, शिक्षा, अभ्यास और आवश्यकता से बनती है। समाज विज्ञानों या प्राकृतिक विज्ञानों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्येताओं के लिए यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। दर्शनशास्त्र का अध्येता अवश्य यह प्रश्न पूछ सकता है। यह इसलिए नहीं कि उसके जीवन में यह एक समस्या है बल्कि इसलिए कि जिस क्षेत्र को उसने अध्ययन के लिए चुना है उसमें ऐसा प्रश्न किया जाता है, और उसके उत्तर दिए जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने का उसे प्रशिक्षण प्राप्त है। 'शुद्ध बौद्धिक' तो किसी प्रश्न को तब कहा जा सकता है जब 'बुद्धि' में यह प्रश्न सहज भाव से उठे। तब भी इसे बौद्धिक 'समस्या' कहने के बजाय प्रश्न कहना अधिक सार्थक होगा क्योंकि प्रश्न हमेशा रचित या निर्मित होते हैं जबकि समस्या और जिज्ञासा सहज उत्पत्ति है। विशेष प्रकार के कुछ प्रश्नों को दर्शनशास्त्र की स्वायत्तता के नाम दर्शन का स्वरूप मान लेना और उन्हीं तक चिन्तन को सीमित कर देना दार्शनिक चिन्तन के लिए अस्वाभाविक प्रवृत्ति है। "कोई मौलिक, सृजनात्मक दार्शनिक अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी दार्शनिक समस्या से जूझना, उसके विषय में अपने मत को सुव्यवस्थित और सुचिन्तित रूप में रखना चाहता है। अपने द्वारा किए गए दार्शनिक अन्वेषण के स्वरूप के विषय में चिन्तन करना उसे उतना रूचिकर नहीं लगता जितनी किसी समस्या के विषय में... अपने चिन्तन को सुदृढ रूप में स्थापित करना। ...यही स्वाभाविक है यह नहीं कि पहले यह मानकर कि दर्शन क्या है, दार्शनिक चिन्तन किया जाय।"[१०]

समस्या के संदर्भ में औचित्य का प्रश्न नहीं उठता। समस्या जीवन्त तथ्य है। वह हमें सोचने के लिए विवश करती है क्योंकि समस्या (जिसकी है उसके लिए) समाधान ही अपरिहार्य अपेक्षा रखती है। समस्या यदि उत्पन्न हो गई हो और समाधान न हो तो मनुष्य व्याकुल और अशान्त हो जाता है। उसकी यह व्याकुलता और अशांति अवांछित होने से 'सोचना' उसकी विवशता हो जाती है लेकिन यह सोचना सिर्फ सोचना नहीं है। इस सोचने के साथ 'करना' भी अनिवार्यतः जुडा रहता है। 'सोचने' और 'करने' में विरोध नहीं होना चाहिए, समस्या के संदर्भ में विरोध होता भी नहीं है। हाँ, प्रश्न के उत्तर सोचने में विरोध अवश्य हो सकता है। नैतिक प्रश्नों (समस्या नहीं) पर विचार करने वाला व्यक्ति अनैतिक हो सकता है। इस तरह का सोचना वास्तव में यदि दार्शनिक चिन्तन कहा जाय तो इस की कोई सार्थकता नहीं होती। भारत में दर्शनशास्त्र विषय में पालक, विद्यार्थी और शासकों की रुचि न होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में यह निरर्थकता भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। दर्शन की भारतीय परंपरा 'समस्या-समाधान' रूप है। अतः समाधान 'करने' की अपेक्षाएँ भी 'सोचने' के साथ जुडी हैं। अपवाद छोड कर भारतीय दर्शनपरंपरा जीवन में 'दुख' की 'समस्या' के समाधान की दिशा में सोचती है इसलिए यहाँ 'साधना' पक्ष भी दर्शन का अंग है, जबकि लगभग समूचा पाश्चात्य चिंतन 'जिज्ञासा' या प्रश्नों पर सोचने की प्रक्रिया है। इसलिए 'साधना' का पक्ष वहाँ नगण्य है।

समस्याएँ व्यक्ति और समाज दोनों की होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति की समस्याएँ ही समाज की भी हों समाज की समस्याएँ व्यक्ति की भी हों। दोनों ही अवस्थाओं में अर्थात् व्यक्ति की अथवा समाज की समस्याओं में, 'सोचने' का कार्य व्यक्ति ही करता है। व्यक्ति जब समस्याओं पर सोचता है तब वह प्रायः सामाजिक सोच के नियंत्रण से बाहर आ कर सोचने का प्रयास करता है। इस प्रयास में लीन कभी-कभी वह भूल जाता है कि वह समाज का घटक है और ऐसी समस्याओं पर सोचना आरंभ कर देता है जो वास्तव में समस्या नहीं मात्र 'प्रश्न' होते हैं। प्रश्न चूँकि प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता-द्विविध पक्षों की अपेक्षा रखते हैं इसलिए विचारक स्वयं ही दोनों भूमिकाओं में प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न और उत्तर दोनों में विचारक के संस्कार, अभिरुचि और प्रश्न की प्राथमिकता का समावेश हो जाता है। यही नहीं इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर स्वयं को भी पूर्ण संतोष नहीं देते। तब व्यक्ति ऐसे प्रश्न और उत्तरों की पुष्टि के लिए अन्य विचारकों की तलाश करने लगता है और इस प्रकार वह 'सोचने' के दायरे से बाहर निकल कर 'पठन-श्रवण' या संवाद के क्षेत्र में विचरण करने लगता है। ऐसी अवस्था में सोचने वाला विचार जगत् में स्वच्छन्द विहरण आनंद का (यदि ऐसा कुछ, जो दिवा स्वप्न से भिन्न हो, संभव है) अनुभव कर सकता है।

दयाजी ने उन्मीलन वर्ष- १, अंक-१, जनवरी १९९५ में प्रकाशित लेख 'आओ कुछ सोचें' में एक ऐसा प्रश्न उठाया जिस पर बहुत गंभीरता और निष्पक्षता से विचार करना चाहिए। यह प्रश्न वास्तव में सोचने वालों की नैतिकता की ज्वलंत 'समस्या' है। क्या दार्शनिक चिंतन किसी अन्य के प्रति जिम्मेदार हो सकता है ? इस प्रश्न में निहित एक नैतिक समस्या यह है कि क्या इस रूप में प्रश्न उठाना उचित है ? क्या व्यक्ति, जो समाज का घटक भी है, ऐसा प्रश्न कर सकता है ? दार्शनिक चिंतन किसी 'अन्य' के प्रति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

जिम्मेदार हो सकता है क्या-इस प्रश्न का 'न' में उत्तर हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति 'अन्य' से स्वतंत्र और निर्लिप्त नहीं होता (मानवेतर व्यक्ति की बात हम नहीं जानते)। वास्तव में प्रश्न होना चाहिए कि दार्शनिक चिंतन की अन्य के प्रति किस तरह की, कैसी या क्या जिम्मेदारी होनी चाहिए ?

हमारा आशय यह नहीं है कि प्रश्नों पर न सोचा जाय। अवश्य ही ऐसे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर सोचा जाना चाहिए। लेकिन उन प्रश्नों पर सोचना तब तक सार्थक नहीं होता जब तक वे प्रश्न समस्या अथवा जिज्ञासा के रूप में अनुभूत न हों। प्रश्न के उत्तर पर तभी सोचा जा सकता है जब प्रश्न का औचित्य, उसकी प्रासंगिकता और किसी समस्या से उसका अनिवार्य संबंध हो। ऐसा न होने पर भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं, उत्तर सोचे जा सकते हैं, लेकिन यह केवल 'सोचने के लिए सोचना' होगा। ऐसा सोचना किसी अन्य उद्देश्य के प्रति आकर्षण या/ और उक्त उद्देश्य से सोचने का अभ्यास/आदत/संस्कार के कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए दर्शनशास्त्र के अध्यापकों द्वारा सोचने को लें। विद्यार्थियों को दर्शनशास्त्र पढाने के लिए, अधिवेशनों या सेमिनार में वक्तव्य के लिए, या लेख लिख कर छपवाने के लिए सोचा जाता है। अध्यापन पेशे में आकर्षक बायोडाटा बनाने के लिए इस तरह का सोचना बाध्यता है। लगातार वर्षों तक इस पेशे में रहकर सोचने की पडी हुई इस आदत या संस्कार के कारण भी सोचा जा सकता है। इस तरह का चिन्तन समाज के लिए बहुत उपयोगी नहीं होता।

जिज्ञासा पर सोचना जिज्ञासु के लिए ही सहज और सार्थक होता है। जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत करके इतर विचारशील लोगों से अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है। लेकिन जिनके समक्ष उसकी जिज्ञासा प्रश्न के रूप में प्रस्तुत होती है, उसके लिए प्रश्न का औचित्य उत्तर देने की बाध्यता का निरूपण आवश्यकता हो जाता है। जिज्ञासु यदि अपने प्रश्नों को, अपनी जिज्ञासा को 'समस्या' के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत कर दें तो 'सोचने' की सार्थकता अनुभव की जा सकती है। सोचना विचारक (शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों पर सोचने वाला) के रूप में नहीं बल्कि दार्शनिक (समस्या के समाधान करने वाला) के रूप में होना चाहिए।

वास्तव में प्रश्न, जिज्ञासा और समस्यों में जो महत्त्वपूर्ण अंतर है वही दर्शन के स्वरूप और औचित्य का प्रश्न उठाता है। जिज्ञासा अपनी उत्पत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और तृप्ति या पूर्ति के लिए पूर्णतः जिज्ञासु पर निर्भर करती है। इसे आत्मनिष्ठ कहा जा सकता है। प्रश्न अपनी उत्पत्ति के लिए आत्मनिष्ठ और उत्तर के लिए पराश्रितता की पूर्व स्वीकृति लिए हुए होता है। यह व्यक्ति में निहित 'अहं' तक सीमित न हो कर 'वयं' भाव में होता है। यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, या मैं किसी को अपने तुल्य सक्षम नहीं मानता तो मुझमें जिज्ञासा तो होगी पर प्रश्न नहीं होगा। समस्या की स्थिति इनसे भिन्न है। समस्या में प्रश्न और जिज्ञासा-दोनों का समावेश होता है। (यद्यपि प्रश्न और जिज्ञासा में 'समस्या' अनिवार्यतः निहित नहीं होती) समस्या प्रश्न और जिज्ञासा की तरह अपनी उत्पत्ति के लिए पूर्णतः आत्माश्रित या समस्याग्रस्त व्यक्ति पर आश्रित हो यह अनिवार्य नहीं है। प्रायः व्यक्ति की समस्या की उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था, मूल्य, मानदण्ड और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए समस्या सिर्फ 'सोचने' की वस्तु नहीं होती, उसका समाधान अपेक्षित है।

प्रश्न और जिज्ञासा, तृप्ति या पूर्ति की दृष्टि से केवल प्रश्नकर्ता या जिज्ञासु तक सीमित होती है, समस्या व्यक्ति की सीमा से बाहर भी समाधान की अपेक्षा रखती है, अर्थात् समस्याएँ केवल व्यक्तिगत नहीं होतीं। समस्याएं समाज की भी होती हैं और प्रायः समाज की समस्याएँ व्यक्तिगत समस्याओं को भी जन्म देती हैं चूँकि समाज की समस्याओं पर 'सोचना' भी व्यक्ति का दायित्व और बाध्यता है, अतः दार्शनिक चिन्तन उन समस्याओं पर भी केन्द्रित होना चाहिए जो समाज की हैं। उदाहरण की लिए साम्प्रदायिकता की समस्या को लें। विगत दस-बारह वर्षों में कथित साम्प्रदायिकता ने भारतीय समाज को आन्दोलित किया हुआ है। इसका निमित्त बना अयोध्या विवाद। अयोध्या विवाद एक वास्तविक समस्या थी। दार्शनिक चिन्तन में अभ्यस्त लोग इस समस्या से दूर रहे (स्व. हर्षनारायण जैसे अपवाद को छोडकर)। समस्या चूँकि मजहब से जुडी हुई थी इसलिए विद्वानों ने साम्प्रदायिकता, धर्म निरपेक्षता, आदि अवधारणाओं पर चिन्तन को केन्द्रित कर लिया और मूल समस्या से दूर हो गए। समस्या विकराल होती गई और समाज ने स्वयं एक अस्थाई समाधान ढूँढ लिया और बहस का मुद्दा बदल गया। यदि दार्शनिक वर्ग इस समस्या पर गंभीर होता तो यह स्पष्ट हो जाता कि साम्प्रदायिकता और धर्म निरपेक्षता समस्या नहीं, महज प्रश्न थे। समस्या मजहबी या रिलीजियस भी नहीं थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्या थी तो सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति संलग्नता की लेकिन इस समस्या पर दार्शनिकों की अनैतिक उदासीनता ने समाज को दिग्भ्रमित किया।

इसी प्रकार उदारीकरण और वैश्वीकरण की भी स्थिति है। यह केवल आर्थिक या राजनैतिक विषय मात्र नहीं है। इसके जो प्रभाव भारत की संस्कृति पर पड रहे हैं वे ज्यादा गंभीर हैं। वैश्वीकरण और संस्कृति संरक्षण एक गंभीर समस्या है। अपसंस्कृति केवल समाज के बाह्य ढाँचे को ही नहीं बल्कि वैचारिक प्रवाह को भी भ्रष्ट करती है। दार्शनिक चिन्तन के सामयिक बिन्दु क्या हों ? यह भी संस्कृति में हो रहे आंतरिक परिवर्तनों से तय हो रहा है। ऐसा होना उचित है या नहीं ? यदि हाँ तो किस सीमा तक, आदि प्रश्न उदारीकरण और वैश्वीकरण को आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्र से निकालकर दर्शन के क्षेत्र में ले आते हैं। इन पर चिन्तन इन्हें शुद्ध बौद्धिक प्रश्न मानकर नहीं किया जा सकता क्योंकि ये 'समस्या' है 'प्रश्न' मात्र नहीं। चरित्र निर्माण कैसे हो सकता है, कैसे राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है, राजनीति को नैतिक किस तरह बनाया जा सकता है, परिवार-विखण्डन क्यों हो रहा है, समाज में साधन-साध्य संबंध के बजाय आत्मीय संबंध कैसे स्थापित किया जाय, प्रगति क्या है, संस्कृति क्या है, उसका क्या महत्त्व है - आदि कुछ समस्या रूप प्रश्न हैं जो सीधे देश की समस्याओं से जुडे हैं। इन पर सोचना सिर्फ सोचना नहीं है, 'करना' भी है। ज्ञान मीमांसा, तत्त्व मीमांसा आदि के प्रश्नों का 'अपना महत्त्व है क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केंद्रबिंदु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा' (आओ कुछ सोचे, पृ. १०) इसलिए उपर्युक्त प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर सोचना दार्शनिक चिंतन का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है। इसे स्वीकार 'करना' ही चिंतन के प्रति ईमानदारी भी है।

बीसवीं शताब्दि के दार्शनिक चिन्तन में कम से कम दर्शन के प्राध्यापकीय क्षेत्र में, ऐसे सहज उत्पन्न समस्याओं पर चिन्तन और लेखन का विशेष प्रयास नहीं किया गया। इसलिए कि रुचि ऐसे दर्शनशास्त्र के प्रति निरन्तर घटती जा रही है। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में उलझकर समाज में अपनी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाने का अवसर दर्शनशास्त्रियों ने दिया है। अनादिकाल से मानवमात्र की एकमात्र समस्या त्रिविध दुखों से निवृत्ति रही है। जीवन का भौतिक पक्ष जब तक सरल-संतुष्ट था, जीवन सरल था तब तक आध्यात्मिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुख प्रबल था। अतः चिन्तन का केन्द्र आध्यात्मिक समस्या थी। आज हमारे समाज में जीवन का भौतिक पक्ष न तो सरल और संतुष्ट है और न ही उसे अनदेखा किया जा सकता है। जब तक आध्यात्मिक दुख की स्पष्ट अनुभूति भी नहीं होगी। एकांगी आध्यात्मिकता कुछ अपवादों को छोड़कर व्यक्ति या समाज के लिए आदर्शों और मूल्यों का केन्द्र नहीं बन सकती। आज दार्शनिक चिन्तन 'सामयिक' होकर ही प्रासंगिक हो सकता है अतः समस्यामूलक विषयों पर ध्यान केन्द्रित करके दर्शन को समाज में पुनर्प्रतिष्ठित करना इक्कीसवीं शताब्दि के लिए चिन्तकों से अपेक्षा है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला डा. बी. कामेश्वर राव
पं. रविशंकर शुक्ल वि. वि.,
रायपुर

टिप्पणियाँ

१. संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ. ३४१
२. देवराज, *दार्शनिक* त्रैमासिक, अप्रैल १९८०, पृ. ९६
३. भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि, पृ. ८
४. वहीं, पृ. ४
५. परामर्श, खंड १९, अंक - ३, जून १९९८, पृ. २१
६. वही, पृ. १९-२०
७. Philosophy is a systematic study of the basic structure of the Universe that as much includes all that is self or all that is outside the self. **Presupposition of Science and Philosophy**. p. 154
८. द्रष्टव्य **Philosophical Reconstruction** में N. V. Banerji लिखते हैं - "as a result of the emergence of the various sciences in separation from philosophy, philosophy not only lost its earlier importance and influence but was perhaps left with hardly any worthwhile funcation to perform p. 59

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. Indian Philosophy : past & future पुस्तक में विद्वानों ने यही किया है। भारत में प्रकाशित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी यही प्रयास दिखलाई पडता है।

१०. प्रो. राजेन्द्र प्रसाद, परामर्श, जून १९९८ में प्रकाशित लेख "दार्शनिक अन्वेषण"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नीतिशास्त्र, व्यापार-नीतिशास्त्र और बैंकिंग-नीतिशास्त्र

मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अपनी इच्छा से किये गये कई कार्य-कलापों का मूल्यांकन करता है। उन्हें 'अच्छा' अथवा 'बुरा', 'शुभ' अथवा 'अशुभ', 'उचित' अथवा 'अनुचित' या अन्य मूल्य-सूचक शब्दों से आँकता है। नीतिशास्त्र का दायरा मनुष्य के ऐच्छिक अथवा अपनी इच्छा से किये गये कार्य-कलापों तक इसलिये सीमित है कि अनैच्छिक कर्मों को करने के बारे में वह स्वतंत्र नहीं है। अनैच्छिक कर्मों अथवा शारीरिक क्रियाओं जैसे हृदय के धडकने, छींक आने, बाहरी खतरे से खुद को तत्काल बचाने इत्यादि पर मनुष्य का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थितियों में वह स्वतंत्र नहीं है। स्वतंत्र होने की कसौटी यह है कि मनुष्य दो या दो से अधिक पर्यायों में से एक को चुन सके, जैसे पढाई समाप्त कर चुकने के बाद कोई नवयुवक तुरन्त शादी करने अथवा अपनी बहन को पढा-लिखाकर उसकी शादी करने के बाद अपनी शादी करने के दो पर्यायों में से दूसरे को चुनता है तो वह एक ऐच्छिक कर्म द्वारा अपनी शादी टालना 'अच्छा', 'शुभ' अथवा 'उचित' कर्म है। छोटे शिशुओं के कार्य-कलाप, विक्षिप्त व्यक्तियों की हरकतें नैतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी नहीं हो सकती क्योंकि उनका कर्ता समज बूझकर कई पर्यायों में से एक को स्वतंत्रता से चुन कर उन्हें नहीं करता।

किसी भी कार्य, कर्म, निर्णय को अच्छा अथवा बुरा ठहराये जाने के कुछ मापदंड होते हैं जिनके आधार पर तर्कसंगत ढंग से उन्हे अच्छा अथवा बुरा ठहराया जा सकता है। ये मापदंड क्या हैं ? ये किन मूल्यों पर आश्रित हैं ? ये नीतिशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले कई मुद्दों में से हैं। इस शास्त्र में चर्चित और विवेचित होने वाले अन्य मुद्दे इस प्रकार हैं।-

मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ?

उसके कर्मों का उद्देश्य क्या उसका अपना हित है या दूसरों का हित ?

मनुष्य के कर्तव्य अथवा नैतिक दृष्टि से करने योग्य कर्म क्या हैं ? उनका आधार क्या है ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्तिगत जीवन और समाज के हितों के बीच टकराव की स्थिति में कौन सा पर्याय उचित है ?

हमारे रोजमर्रा के जीवन में ऐसे प्रश्न हमें झकझोरते रहते हैं। जब से मनुष्य ने परस्पर मिलजुलकर समाज बनाया और उसी में रह कर अन्य व्यक्तियों के साथ अपनी दिक्कतों को सुलझाने लगा तभी से उसे कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता पडी जो उसकी तथा दूसरे मनुष्यों की इच्छाओं और हितों में होनेवाले तनाव को घटा सकें अथवा समाप्त कर सकें। अंग्रेजी शब्द 'इथोस' (Ethos) वस्तुतः यूनानी भाषा के शब्द 'इथोस' का ही आधुनिक रूप है जिसका अर्थ है रीतिरिवाज या लोकाचार और 'एथिक्स' शब्द भी यूनानी 'एथिका' से व्युत्पन्न है जो अर्थ में 'इथोस' से भिन्न नहीं है।

आज नीतिशास्त्र एक उन्नत शास्त्र की कोटि पा चुका है जिसमें मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों पर व्यवस्थित रीति से विचार कर के निर्णय दिया जाता है। ऊपर की गयी चर्चा के आधार पर अब हम नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं-

नीतिशास्त्र एक ऐसा मूल्यपरक शास्त्र है जो सामान्य व्यक्ति के जीवन के आचरण, ऐच्छिक कर्म तथा उसके चरित्र और निर्णयों पर पूर्वग्रहरहित तथा व्यवस्थित ढंग से मूल्यांकन करने हेतु मानक प्रस्तुत करता है और इन मानकों के आधार-स्वरूप कुछ मूल सिद्धान्त अथवा मूल्यों की स्थापना करता है।

नीतिशास्त्र केवल आचरण या आचारशास्त्र नहीं है। कौन सा आचरण या व्यवहार उचित है, मात्र यही सुझाना नीतिशास्त्र की विषयवस्तु नहीं है। बल्कि इसका विचारक्षेत्र व्यापक है जिसमें उक्त आचरण की अच्छाई किस वजह से है, किस तत्त्व में निहित है, उसकी यह अच्छाई किस सिद्धान्त पर आधारित है यह भी सोचा-विचारा जाता है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। नीतिशास्त्र आदर्शमूलक विज्ञान है और यह मानते हैं कि कोई भी आदर्श-मूलक विज्ञान व्यावहारिक-विज्ञान नहीं होता। अतः मनुष्य के व्यवहार में अच्छाई लाने के लिये यह मार्गदर्शन नहीं कर सकता। वह केवल आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों अथवा आदर्शों की स्थापना करता है, लेकिन उन्हें जिंदगी में किस प्रकार जिया जाये इसके उपाय नहीं बताता। परन्तु कुछ अन्य दार्शनिक नीतिशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान मानते हैं। आधारभूत नैतिक सिद्धान्तो की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थापना के साथ साथ यह किसी न किसी तरह मनुष्य के आचरण को अच्छा रखने के उपाय सुझाता है।

हम यह मान सकते हैं कि आदर्शमूलक होते हुए भी नीतिशास्त्र न तो केवल सैद्धान्तिक विज्ञान है और न पूरी तौर से व्यावहारिक विज्ञान। नैतिक शास्त्र की समानता चिकित्साशास्त्र जैसे व्यावहारिक विज्ञान से नहीं की जा सकती। किस रोग की पहचान कैसे हो और निदान क्या है, इसके बारे में चिकित्साशास्त्र में जिस प्रकार की वस्तुनिष्ठता है वैसी नीतिशास्त्र के ऐसे प्रश्नों के उत्तरों में देखने में नहीं मिलती जैसे मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? इत्यादि। मनुष्य का जीवन इतना जटिल और उसकी परिस्थितियाँ इतनी विभिन्न हैं की किसी भी नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श को पूरी मानवता के लिये हर परिस्थिति में योग्य नहीं माना जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब नैतिक सिद्धान्त सारी मानवता पर परिस्थिति-निरपेक्ष ढंग से लागू नहीं किये जा सकते या होते तो उनके अध्ययन से क्या लाभ ? प्रत्येक मनुष्य विरला है उसका व्यक्तित्व और चरित्र असामान्य है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में वह अपने अंदाज से जीता है। यही विविधता मानव जीवन की विशेषता है। किन्तु यह विविधता नैतिक विचारों के स्तर पर असंख्य और असीम नहीं है। कोई व्यक्ति अपने भीतर के सदगुणों के विकास को चरम लक्ष्य मानता है, तो कोई वैयक्तिक सुख को, तो कोई अपने सुख के साथ दूसरे के सुख के मध्य सामंजस्य को। इस तरह ले दे कर ३-४ विविधताएँ या और बारीकी से देखा जाये तो ७-८ विविधताएँ हमें मानव जीवन के चरम लक्ष्य के मुद्दों पर प्राप्त होती हैं।

साधारणतया लोग नीतिशास्त्र और धर्म अटूट रूप से जुडा हुआ मानते हैं, किन्तु इनके बीच संबंध बहुत सरल नहीं है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि दोनों के उद्देश्य में बुनियादी फर्क है। धार्मिक दृष्टि से कर्मों का अच्छा या बुरा होना भगवान की इच्छा के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना है। किन्तु आज साधारण विवेकशील मनुष्य यह जानता है कि नैतिकता और ईश्वर में आस्था के बीच कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। हमारे देश के दो प्रमुख धर्मों- जैन तथा बौद्ध - में भगवान की अवधारणा के बगैर नैतिकता के महत्त्व पर बल दिया गया है। हमारे यहाँ ढाई हजार साल पहले से नैतिकता के वर्चस्व को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वीकारा गया है। यह बात अलग है कि बाद में अन्य धर्मों की तरह ही इन नैतिकता प्रधान धर्मों में पूजापाठ जैसे रीतिरिवाज मान्य हो गये। परन्तु नैतिकता का इतना प्राचीन इतिहास हमें नैतिक निर्णयों को नैतिकता के दायरे में ही लेते रहने की प्रेरणा दे सकता है।

व्यापार का नीतिशास्त्र

पिछले कुछ दशकों में नीतिशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष पर गहन चिन्तन हुआ है। विज्ञान, औद्योगिकी, प्रबंधन और लोक प्रशासन ने मानव के सामाजिक जीवन पर अनेक तरह से प्रभाव डाला है। अतः यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या मानव के विकास में लगे ये प्रयास सच्चे मायने में उसका कल्याण कर रहे हैं ? एक ओर, आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने विविध प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध करा के मानव जीवन में सुविधाएँ बढाई हैं, तो दूसरी ओर पर्यावरण में असंतुलन और प्रदूषण, विकासशील देशों में जनसंख्या में अपार वृद्धि (भारत में संख्या का हाल ही में एक अरब के ऊपर चले जाना), व्यापार के क्षेत्र में धोखाधडी और भ्रष्टाचार के बडे बडे मामले, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में जीव प्रौद्योगिकी के मानवीय क्लोनिंग की संभावना से जनित नैतिक प्रश्न, असाध्य रोग से पीडित व्यक्ति का अपनी इच्छा से मरण को वरण करना कुछ ऐसे विकराल प्रश्न उभरकर सामने आये हैं जिनका गहराई में जाकर उत्तर देने की आवश्यकता है। इन प्रश्नों के संतोषप्रद उत्तर देने हेतु कुछ नये व्यावहारिक नैतिक शास्त्र उदित हुए हैं जैसे व्यापार नीतिशास्त्र, पर्यावरण नीतिशास्त्र, चिकित्सा नीतिशास्त्र इत्यादि।

नीतिशास्त्र जहाँ मानव जीवन में शुभ अथवा अच्छे की पहचान के साथ ही मानवीय सामाजिक जीवन के विविध क्रियाकलापों अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान में नैतिक औचित्य की विवेचना करता है वहीं व्यापार-नीतिशास्त्र सामाजिक लेन देन के उस भाग पर केन्द्रित है जिसमें मानव व्यापार हेतु मुद्रा, धन, सम्पत्ति, सेवा अथवा इनसे संबंधित वायदों का आदान-प्रदान करता है। मानवीय सामाजिकता का महत्त्वपूर्ण भाग व्यापार के जरिये अपनी जीविका के उपार्जन तथा समाज में अपने जीवन को आर्थिक दृष्टि से सफल बनाने के प्रयासों से जुडा है। और व्यापार का मुख्य उद्देश व्यापारकर्ता की आस्तियों के दीर्घ कालीन मूल्य को सेवा अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय अथवा पट्टे पर लेने अथवा देने के मार्फत अधिकाधिक बढाना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापार नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है व्यापार में नैतिकता की आवश्यकता को पहचानना, किन उपायों से व्यापार में इसकी स्थायी स्थापना हो सकती है, कौन सी संस्थायें, रीतियाँ इसे बढा सकती हैं - ये इस शास्त्र के मुख्य सरोकार हैं। ऐसा देखा जाता है कि कई बार व्यापारिक निर्णय झूठ, छल, धोखाधडी और जालसाजी पर टिके हुए रहते हैं या इन उपायों के इस्तेमाल से लाभ में वृद्धि या हानि से उबरने में लगे रहते हैं। उनका ध्येय उत्तरोत्तर धन-वृद्धि होता है। क्या व्यापार का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना है या नैतिक दृष्टि से अच्छा बने रहते हुए व्यापार में लाभ रूपी अच्छाई प्राप्त करते रहना है ?

व्यापार नीतिशास्त्र, व्यावहारिक नीतिशास्त्र का एक प्रकार है जिसका प्रतिपाद्य विषय है मानव के व्यापार-व्यवहार की नीतिगत समीक्षा तथा व्यापार में नैतिकता की अवस्थापना तथा व्यापार में निर्णय लेते समय नैतिक दृष्टि का समावेश।

जॉन डोनाल्डसन के अनुसार व्यापार नीतिशास्त्र के प्रमुख प्रश्न ये हैं[१]

१. क्या व्यापार नीतिशास्त्र संभव है ? २. क्या व्यापार नीतिशास्त्र में विवेचित मूल्यों, मानकों और तर्कों को तथ्य परक तौर पर विश्लेषित किया जा सकता है ? ३. क्या सामान्य नैतिक सिद्धान्तों जैसे उपयोगितावाद अथवा 'स्वर्णिम नियम' को सिद्ध किया जा सकता है ? ४. क्या विभिन्न मूल्यों अथवा मूल्यों के समूह में आपस में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ? ५. क्या विभिन्न सिद्धान्तों में संगत बिठायी जा सकती है ? ६. व्यापार-नीतिशास्त्र और इससे जुडे अन्य विषय जैसे कानून, सरकारी नीति, राजनीति, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र और भाषा में परस्पर क्या सीमा रेखाएँ हैं जो उन्हें बाँधे हुए हैं ?

डोनाल्डस द्वारा बताये ये आधार प्रश्न उच्चस्तरीय और अधिनैतिक (metaethical) हैं।

एक अन्य तरीके से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि व्यापार नीतिशास्त्र में विवेचित होनेवाले मुद्दे दो प्रकार के हैं - (१) समष्टि स्तरीय तथा (२) व्यष्टि स्तरीय

समाष्टि स्तर के मुद्दे हैं -

१. व्यापारिक संस्थान का सामाजिक दायित्व २. मूल्य निर्धारण तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्पाद देयता (Price fixing and product liability) ३. नैगम जवाबदेही अथवा नैगम प्रशासन (Corporate governance) ४. पर्यावरणीय नैतिकता ५. बहुराष्ट्रीय और पारदेशीय व्यापारिक नैतिकता ६. अधिग्रहण और विलय की नैतिकता ७. कर्मचारियों की संख्या में कटौती ८. कार्यस्थल पर कर्मचारियों के वैयक्तिक एकान्त का अधिकार ९. व्यापार की उसके घटकों जैसे ग्राहक, आपूर्तिकर्ता, कर्जदार, कर्मचारी के प्रति नीति, समाज के प्रति नीति

व्यष्टि स्तर के मुद्दे इस प्रकार हैं-

१. कार्यस्थल की छोटो-मोटी समस्याएँ जैसे संस्थान में कार्यरत विभिन्न कर्मचारी वर्गों में टकराव, २. कर्मचारियों के अधिकार और कर्तव्य, ३. कर्मचारियों की जवाबदेही, ४. कर्मचारियों के कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन, ५. निष्पक्ष और न्यायिक प्रोन्नति, ६. यौन उत्पीडन की समस्या, ७. सूचना का अधिकार, ८. जाति तथा वर्ण के आधार पर भेदभाव, ९. कीमती उपहारों का लेन देन, १०. अनुशासनात्मक कार्यवाही में न्यायप्रियता, इत्यादि।

व्यापारिक और प्रबंधकीय निर्णय में नैतिकता के आयाम कहीं छुपे रहते हैं तो कहीं व्यापारिक पहलुओ के साथ घुले मिले रहते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई कारखाना चलाते रहने से घाटा बढता जा रहा हो और उसे बंद कर देने पर सैकडों कर्मचारियों की नौकरी छूट रही हो तो ऐसे स्थिति में मालिकों/अंशधारकों और कर्मचारियों के हितों में सीधा टकराव उत्पन्न हो जाता है तथा व्यापारिक निर्णय में नैतिकता का पहलू प्रवेश कर जाता है। अगर कारखाना चालू रखना है तो कर्मचारियों के प्रति कल्याण की भावना से जिसे नुकसान से, फायदे में लाना उनका भी नैतिक कर्तव्य बन जाता है। कई सरकारी उपक्रम जैसे कोलार की सोने की खानें कई वर्षों से नुकसान में चल रही हैं और सरकार नैतिक नियोजक की हैसियत से कोई बीच का रास्ता चुन रही है।

जब किसी संस्थान के निदेशक अपने संस्थान की अथवा अपने प्रभाव से अन्य संस्थान की वास्तविक अंदरूनी जानकारी का लाभ उठाते हुए अपनी अथवा अपने अधिकार क्षेत्र की कंपनियों के शेयर के क्रय-विक्रय से बडा मुनाफा कमाए तो वे सामान्य अंशधारकों के हितों को कुचलते हैं। इस कर्म में नैतिकता का अभाव स्पष्ट झलकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सस्ते बाल-श्रम के नियोजन से हमारे देश में आतिशबाजी, पटाखा सामग्री बनाने का उद्योग, माचिस, बीडी बनाने तथा कालीन बनाने के उद्योग खूब पनप रहे हैं। कानूनी बंदिशों के बावजूद भी अब तक बाल-श्रम को अवैध तौर पर व्यापार में लाभ कमाने या लाभ में अधिकता लागे के निर्णय के इनके वैधिक पहलू के साथ ही नैतिक पहलू भी हैं। इसी प्रकार जर्मनी के कालीन आयातकों द्वारा भारत में बाल-श्रम से बनी कालीनों की खरीद का बहिष्कार उनका अपने व्यापार के नैतिक आयामों के मद्दे नजर लिया निर्णय है।

बैंकिंग-नीतिशास्त्र

जिस तरह व्यापार-नीतिशास्त्र एक उच्च विकसित शास्त्र का रूप ले चुका है, उस तरह बैंकिंग नीतिशास्त्र जैसा स्वतंत्र, स्वच्छंद विषय अभी तक उभर कर सामने नहीं आया है किन्तु इसकी अल्प - विस्तर संभावनाएँ अवश्य हैं। व्यापार-नीतिशास्त्र की तमाम मूलभूत बातें बैंकिंग पर भी लागू हैं किन्तु कुछ विलक्षण विशेषताओं के कारण बैंकिंग के मुद्दों को अलग से विवेचित करने की आवश्यकता है। ये विशेषताएँ क्या हैं ?

हम पहले कह चुके हैं कि बैंकिंग एक नाजुक और बुनियादी उद्योग है जिसकी छत्र-छाया में अन्यान्य उद्योग सहजता से फलते फूलते रहते हैं।

नाजुकता : बैंक का व्यवसाय विश्वास की डोर से बँधा है। गरीब अमीर, मध्यम वर्गीय, व्यापारी, वेतन भोगी या पेन्शन भोगी हर तबके का मनुष्य अपने जीवन में संजोयी बचत को अपने आडे वक्त में काम आने के लिये तथा सुरक्षा के साथ ही मुद्रास्फीति के थपेडों से उसे बचाने के लिये उचित ब्याज दर पर बचत का मूल्य बढाने के लिये उसे बैंक में जमा रखना चाहता है। उसे इसके वक्त पर लौटाये जाने का शत प्रतिशत विश्वास है। इसी प्रकार व्यापारी, उद्यमी अथवा उद्योगपति अपने व्यापार का विस्तार करने के लिये आस्तियों की खरीद तथा कार्यशील पूँजी वित्तपोषण के लिये बडे विश्वास और उम्मीद से बैंक की और देखते हैं।

बुनियादीपन : बैंकिंग को उद्योगों का राजा कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उद्योगों की सब विशेषताएँ तो हैं ही, साथ ही एक विशेषता और यह है कि किसी भी उद्योग के आवश्यक घटकों में से एक - वित्तपोषण - का यह जरिया है। चाहे स्टील बनाने का उद्योग हो या जूता बनाने का, अस्पताल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो या होटल, हर संस्थान को वित्तपोषण की आवश्यकता यदा कदा पडती रहती है। अपवादों में बीमा उद्योग, पेन्शन फंड या म्यूचुअल फंड हो सकते हैं।

मुद्रा का लेन देन : अन्य उद्योगों में वस्तुओं और सेवाओं के आदान प्रदान, क्रय विक्रय में उन वस्तुओं अथवा उन सेवाओं के सृजन, कच्चे माल की अवस्था से उन्हें तैयार माल की श्रेणी तक पहुँचाना या सेवा के लिये मनुष्य के शरीर या मस्तिष्क के विकास, सुरक्षा या आमोद प्रमोद के लिये व्यवस्था करना शामिल है। अर्थात् लेन-देन वस्तुओं और सेवाओं की है। किन्तु लेन-देन के माध्यम - मुद्रा अथवा रुपये - की लेन देन नहीं है या प्रधानतया नहीं है। यह बैंकिंग ही है जिसमें रुपया जो विनिमय का माध्यम है खुद विनिमयित होता रहता है किसी अन्य हित अर्थात ब्याज या कुछ अतिरिक्त सेवाओं के एवज में। ब्याज अगर शालीन तरीके से नहीं लिया जाता तो हमेशा तिरस्कृत रहा है। ईसाई और यहूदी धर्म ने सूदखोरी को पाप माना है। इस्लाम ने सूदखोरी को हराम कहा है। भारतीय परंपरा ने भी ब्याज से कमाई को उच्चकोटि का व्यापार नहीं माना है। उपनी पुस्तक 'राजनीतिशास्त्र' में प्रख्यात प्राचीन दार्शनिक अरस्तू ब्याज दर पर ऋण प्रदान करने की प्रक्रिया को अस्वाभाविक होने के कारण अनुचित ठहराते हैं और इसे बिचौलिये द्वारा दूसरों की कमाई अथवा खर्चे के दम पर अपना उल्लू सीधा करने जैसी घटिया प्रक्रिया मानते हैं। किन्तु कालान्तर में जब किसी भी व्यापारिक सफलता को मानवीय कौशल की सफलता माना जाने लगा और सूदखोरी के बजाय संतुलित मानव-मुखी ब्याज दर का प्रचलन बढने लगा तो ब्याज की भर्त्सना और धार्मिक निषेध पाश्चात्य जगत् में इतिहास की बातें हो कर रह गये। हम जानते हैं कि इस्लाम ने सूदखोरी की भर्त्सना की है। मुस्लिम विधिशास्त्रज्ञ रुपयों अथवा मुद्रा के तर्ज पर रुपयों अथवा मुद्रा की आमदनी को समूचे तौर पर अवैध न ठहराते हुए अब यह कहते हैं कि मुस्लिम कर्जदाता को कर्जदार की मजबूरी का फायदा नहीं उठाना चाहिए किन्तु साथ ही यह ठीक है कि दो मुस्लिम व्यापारी वर्तमान में ऐसे सौदे कर सकते हैं कि उन्हे भविष्य में होने वाले लाभ को वे एक खास अनुपात में बाँट लें। इस संकटमोचक उपाय को 'हियाल' कहते हैं जिसके सहारे ब्याज के लेन देन के बगैरे भी बडे बडे व्यापारियों के बीच रुपयों अथवा मुद्राओं के लेद देन का व्यापार चलता रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुद्रा के लेन देन में ब्याज की अवधारणा में कर्ज लेनेवाले की मजबूरी अथवा स्वस्त पेशेवर इच्छा (जैसी बैंकों की अपने जमाकर्ताओं से होती है) के अलावा एक और तत्त्व या आयाम है - वह है समय का काल। ब्याज की गणना समय के आधार पर होती है जितने अधिक समय के लिये राशि जमा रखी जाती है उसी के अनुसार अधिक ब्याज दर तय की जाती है। जहाँ धनराशि की जितनी अधिक आवश्यकता होती है वहाँ माँग और आपूर्ति के नियमों के अनुसार उतनी ही अधिक ब्याज दर लगायी जा सकती है। माँग मुद्रा बाजार में बैंक अपनी गरज के मुताबिक जमाराशियों पर दी जाने वाली ब्याज दर से अनेक गुना ज्यादा पर ब्याज देते आये हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट कि बैंकिंग के लिये समय सापेक्ष ब्याज दर व्यापार की बुनियादी आवश्यकता है। पैसे के अतिरिक्त वस्तुओं/ सेवाओं का लेन देन पैसे (विनिमय का माध्यम) से होता है किन्तु जब पैसे का ही लेनदेन व्यापार हो जाये तो उसी पैसे को अतिरिक्त पैसे से संवलित किया जाना चाहिए और यही अतिरिक्त पैसा ब्याज है। इस अतिरिक्त पैसे के दमघोटू दबाव हो हर सभ्यता ने लताडा है। अंत में कह सकते हैं कि नैतिकता का पाठ तो बैंकिंग उद्योग को घुट्टी में मिला है। स्वस्थ ब्याज दर और सूद खोरी की ब्याज दर में केवल मात्रा का फर्क है गुणात्मकता तो एक जैसी है। युरोपीय सभ्यता में सन १७४५ में पोप चतुर्दश ने इस विषय पर एक विश्वपत्र (Encylical Letter) जारी किया जिसमें आर्थिक विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से ब्याज के लेनदेन से संबंधित सभी संविदाओं को अनैतिक न ठहराते हुए इस बात की चर्चा है कि कौन सी संविदाएँ सूदखोरी की हीन श्रेणी में समावेशित की जा सकती हैं।[२]

मानवीय वायदों का आदान प्रदान

मुद्रा, समय और ब्याज से जुडी विशेषताओं के साथ ही एक और विशेषता है- बैंक द्वारा अपने जमाकर्ता को यह वायदा दिया जाना कि जब वह माँग करेगा उसे चाही हुई रकम लौटा यी जायेगी। इसी तरह बैंक अपने कर्जदार से वायदा लेता है कि जब बैंक माँग करे उसे कर्ज दी गयी राशि वापस की जानी चाहिये और इसी के अनुसार माँग वचनपत्र निष्पादित किये जाते हैं अथवा सावधि ऋणों में यह उपबंध रखा जाता है कि अमुक सीमा तक किश्तों के न भरे जाने पर पूरा ऋण तुरन्त देय अथवा ऋण दाता द्वारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माँगने योग्य बन जाता है।

बैंकिंग में व्यवहृत होने वाले परक्राम्य लिखत को पैसे देकर अथवा मूल्य चुका कर बिना संशय और विश्वास के साथ खरीदने वाले को पूर्व धारक का उस पर सही स्वामित्व न रहने पर भी अधिकृत धारक माना जाता है जब कि सामान्य वस्तुओं के संदर्भ में यह बात लागू नहीं है।

बैंकिंग को नियमन की आवश्यकता

यह तो सर्वविदित है कि बैंक ऋण प्रदान करने के माध्यम से बैंकिंग जगत् में नये जमा की सृष्टि करते हैं और मुद्रा-प्रसार में सहायक होते हैं। मुद्रासृजन का अपना नैतिक आयाम है जो सामान्य वस्तुओं अथवा सेवाओं के सृजन की बनिस्बत विलक्षण है। कोई भी सरकार यही चाहेगी की बैंकों की मुद्रासृजन की क्षमता को अपनी अथवा अपने केंद्रीय बैंक की बृहत् समष्टिपरक आर्थिकनीति (macroeconomic policy) के अनुरूप ही रखे जिससे उच्चतम सम्भाव्य विकास दर को प्राप्त करने के मार्ग में अप्रत्याशित मूल्यवृद्धि/मुद्रास्फीति की बाधाएँ न आए । अतः बैंकों के व्यापार करने के अपरोक्ष तौर-तरीकों पर यथा समय अंकुश लगाया जाना आवश्यक है। दीर्घ अवधि की आर्थिक नीति विशेषकर मौद्रिक नीति का उद्देश्य चल मुद्रा में स्थायित्व माना जाता है। स्थिर चल मुद्रा समाज और व्यापार जगत् हेतु उसी तरह आवश्यक है जैसे व्यक्तिस्वातन्त्र, निजी सम्पत्ति या कुशल सार्वजनिक सेवाएँ।

अत्यधिक लाभ कमाने के फेर में बैंक सामान्य नागरिकों से उधार पर लिये गये धन को अत्यधिक जोखिम वाले व्यापार में न लगा दें, कुछ निश्चित राशि का सुरक्षाकवच उपलब्ध रहे ताकि अपने जमाकर्ताओं को सतत सेवा देते रहें, इस आशय से केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंकों पर नियंत्रण अत्यावश्यक है। बैंकिंग व्यापार, वगैरे नियामक की मध्यस्थता के, खतरे का व्यापार है। बैंकों को नियामकों की आँखों से देखना और कानों से सुनना अपने अस्तित्व को बचाने के लिये जरूरी है।

बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं के नियमन और नियंत्रण में सातत्य आवश्यक है जिसका मुख्य कारण है असंख्य लोगों से उनकी बचत का बैंकों के पास व्यापार संसाधन के रूप में मौजूद होना जो कानूनी तौर पर एक बार बैंक मे जमा हो जाने पर बैंक का हो जाता है और जिसके विशिष्ट इस्तेमाल को ग्राहक को बतलाने हेतु वह बाध्य नहीं है। कानूनी बाध्यता है उसका समतुल्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चुकाने की और साथ ही नैतिक दायित्व है कि जमाकर्ता द्वारा रकम माँगे जाने पर बैंक उसे तत्काल चुकाये। सरकार और नियामक बैंक द्वारा एक विशेष सीमा तक बैंक में जमा की गयी जमा राशि का बीमा कराया जाना इसी कर्तव्यबोध को आधार प्रदान करता है कि बैंक के खतरे की स्थिति में पहुँच जाने पर भी निर्दोष जमाकर्ता का, एक सीमा तक रखे गये जमा पर, नुकसान न हो।

व्यावसायिक और केन्द्रीय बैंक के नैतिक सरोकारों को बैंकिंग की निजी विशेषताओं की इस चर्चा का समापन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबँक के नैतिक दायित्व से करते हैं जिनके पास विभिन्न देशों को अपने संसाधनों और प्रतिमा के अनुसार ऋण बाँटने हेतु धनराशि है और न्यायसंगत तरीके से बाँटने का नैतिक दायित्व भी है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर बैंकिंग नीतिशास्त्र ने मूल्य, प्रश्न और मुद्दे (व्यापार नीतिशास्त्र के मुद्दों के अलावा) इस प्रकार हैं-

पारस्परिक विश्वास की क्या नैतिकता है ? बैंकर का गोपनीयता का दायित्व कितना गहन है ? वित्तीय विवरणियों में प्रकटीकरण की सीमा क्या हो ?

क्या पहले के जमाने की दिखावटी साज-सज्जा (Window dressing) किसी रूप में अब नहीं होती और नहीं होना चाहिये ?

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा शेयर निर्गत करते समय कर्मचारियों को प्राथमिकता, दबाव और सहूलियत पर ऋण देकर शेयर बेचना, उनके द्वारा सामान्य जनता में शेयर बेचते समय झूठे वादों का इस्तेमाल होना।

बैंकों के कर्मचारियों की लापरवाही अथवा बेइमानी अथवा दोनों से जनता के विश्वास का डगमगाना। करोडों रुपयों के गबन, धोखाधडी जालसाजी के मामले जिनमें या तो बाहर वालों ने बैंक कर्मियों की लापरवाही का फायदा उठाया अथवा स्वयं बैंक कर्मियों ने अपने बैंक को धोका दिया। क्या धोखाधडी के मामले केवल नियमों के प्रति सजगता से रोके जा सकते हैं ? या कर्मचारियों के प्रशिक्षण में नैतिक आचरण बनाये रखने के विशेष कार्यक्रमों का आयोजन हो। नैतिक कार्य निष्पादन पर अधिक जोर देने की आवश्यकता।

वचन निभाने की नैतिकता, दिवालियेपन की नैतिकता, बीमार उद्योग को स्वस्थ बनाने की नैतिकता, गैर निष्पादक आस्ति को बट्टे खाते में डालने की नैतिकता, अधिकारों के प्रत्यायोजन में गलत व्यवहार से उत्पन्न अनैतिकता,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋण-माफी की नैतिकता। बैंकों का सामाजिक दायित्व, बैंकों में नैगम प्रशासन (corporate governance), इत्यादि।

सी २६४ सेक्टर - ७ चंद्रशेखर व्यास
इन्दिरानगर, लखनऊ

टिप्पणियाँ

१. जॉन डोनाल्डसन - की इशूज इन बिजनेस ऐथिक्स - एकाडेमिक प्रेस हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच पब्लिशर्स, लंडन, १९८९, पृ. २९-३३
२. स्टीफन फ्रॉवेन एवं फ्रान्सिस मेक्ह्यूग (संपादित) फायनान्शियल डिसिशियन - मेकिंग एंड मोरल रिस्पोंसिबिलिटी, पृ. XXIII

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निर्वचनशास्त्र पारिभाषांकन और स्वरूप-निरूपण

आज बहुत सारे पश्चिमी सिद्धान्त आए हैं, जो रचना की समझ को खोलने का प्रयास कर रहे हैं। कभी जर्मनी में इसी सोद्देश्यता को लेकर "हर्मीन्यूटिक्स" का आरम्भ हुआ। समकालीन साहित्य-चिन्तन में आज फिर निर्वचनशास्त्र महत्त्वपूर्ण हो उठा है। इसलिए इस आलेख में "निर्वचनशास्त्र" क्या है, इस पर विचार किया जा रहा है।

'निर्वचन' शब्द अपने भीतर व्याख्या, अर्थनिर्णय अर्थप्रतिपादन अथवा किसी बात को निश्चित रूप में कहने जैसे अर्थों को सँजोए हुए है। 'निर्वचनशास्त्र' में 'शास्त्र' शब्द के मूल में संस्कृत 'शास्' धातु है, जिसका अर्थ है - "शासन करना, प्रदर्शन करना अथवा नियन्त्रण करना।" अतएव "निर्वचनशास्त्र" का सम्बन्ध व्याख्या, अर्थनिर्णय अथवा निर्वचन से सम्बद्ध नियमों, सिद्धातों के प्रदर्शन और नियंत्रण से है। इस अर्थ के आधार पर "निर्वचनशास्त्र" की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, उन्हें सात वर्गों में विभक्त करना समीचीन होगा-

१. रूपान्तरपरक परिभाषा
२. व्युत्पत्तिपरक परिभाषा
३. स्वरूपपरक परिभाषा
४. प्रकार्यपरक परिभाषा
५. विश्लेषणपरक परिभाषा
६. दर्शनपरक परिभाषा
७. कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा

१. रूपान्तरपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" अंग्रेजी शब्द "हर्मीन्यूटिक्स" का हिन्दी रूपान्तर है जिसके मूल में ग्रीक शब्द "हर्मोन्यूइन" (Hermeneuein) है, जिसका अर्थ है = "टु इन्टरप्रेट" अर्थात् व्याख्या करना।"[१] इसके मूल में ग्रीक शब्द "हर्मीन्यूतिक" (Hermeneutik) भी माना जाता है जिसमें "टिक्स" शब्द

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"विज्ञान के अर्थ को इंगित करता है यथा-"स्टाइलिस्टिक्स" (शैलीविज्ञान) अथवा "लिंग्विस्टिक्स" (भाषा विज्ञान)।

२. व्युत्पत्तिपरक परिभाषा

ग्रीक देवता "हर्मस" के साथ इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जोडा जाता है, जिसे "देवताओं का संदेशवाहक" और "सीमाओं का देवता" माना जाता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध को निर्वचनकार्य की त्रिकसंरचना को प्रतिबिम्बित करने वाला माना है -

१. एक संकेत, सन्देश या पाठ की अपेक्षा/आवश्यकता।

२. एक मध्यस्थ अथवा निर्वचक

३. किसी श्रोता तक सन्देश पहुँचाना।[२]

इस प्रकार "हर्मस" शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए "सन्देशवाहक" के अर्थ में इस शब्द का सम्बन्ध स्वत: ही "निर्वचन-प्रक्रिया" से तथा "सीमाओं के देवता" के अर्थ में "निर्वचन के नियमों अथवा सिद्धांतों के निर्धारक" से जुड जाता है।

३. स्वरूपपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" के स्वरूप की चर्चा करते हुए इसे "धार्मिक और साहित्यिक कृतियों के निर्वचन के सिद्धान्त[३] तथा व्यवहार[४] से सम्बद्ध माना गया है। यदि एक ओर इसे "निर्वचन और व्याख्या के पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन[५] रूप में व्याख्यायित किया गया है, वहीं दूसरी ओर इसे "संस्कृति-विज्ञानों का आधारशिला और समस्त समझ की स्थितियों की छाया अथवा प्रतिबिम्ब[६] कहा गया है। "अतीत के किसी दस्तावेज के अर्थ का निर्वचन करने वाले सिद्धान्तों के संग्रह"[७] होने के साथ साथ "निर्वचनशास्त्र" एक बौद्धिक अनुशासन भी है, जो मानवीय अभिव्यक्ति के स्वरूप और पूर्वग्रहों की व्याख्या"[८] है।

कहीं इसे "मात्रविज्ञान"[९] का दर्जा दिया गया है तो कहीं उसे "निर्वचन अथवा व्याख्या की कला और विज्ञान"[१०] के दोनों छोरों पर अवस्थित माना गया है।

४. प्रकार्यपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" जहाँ एक ओर "मानवीय व्यवहार और सामाजिक परम्परा की सूझ और व्याख्या की प्रकृति से सम्बद्ध दार्शनिक परम्परा[११] की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपलब्धि है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रमुख प्रकार्य है - "अतीत के किसी दस्तावेज के अर्थ को उद्घाटित करना। इसका सम्बन्ध व्याख्या मात्र के सिद्धान्तों से न होकर व्याख्या की प्रक्रिया से भी है।"[१२] यह किसी पाठ की प्रकृति, किसी पाठ को समझने से सम्बद्ध है। पाठ का क्या अर्थ है तथा किस प्रकार से श्रोताओं के पूर्वग्रहों और विश्वासों से सम्बद्ध कृति को व्याख्यायित किया जाए, यह इसकी समझ और निर्वचन का निर्धारण भी करता है।"[१३] इसे व्याख्या से संयुक्त होने के कारण "भाष्य-विज्ञान"[१४] भी कहा जाता है। अपने अन्य व्यापक अर्थों में "निर्वचनशास्त्र" शब्दार्थ-मीमांसा भाष्य, अर्थ, उल्था और टीका[१५] के प्रकार्यों को संजोए हुए है। इसलिए "निर्वचनशास्त्र" न केवल कृति की व्याख्या करता है अपितु "कृति के निर्वचन की जाँच"[१६] की ओर भी उन्मुख होता है।

५. विश्लेषणपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" का सम्बन्ध मूलतः निर्वचन से है और निर्वचन विश्लेषणाधारित होता है। इसलिए निर्वचन-प्रक्रिया में विश्लेषण का उद्देश्य "काव्यात्मक प्रभाव की क्रियाओं की रीति को प्रदर्शित करना[१७] रहता है। इसलिए विश्लेषणात्मक अर्थों में "निर्वचनशास्त्र" को "विश्लेषणात्मक और चिन्तनात्मक प्रथा"[१८] कहा गया है।

६. दर्शनपरक परिभाषा

"हर्मीन्यूटिक्स" मूलतः धर्मशास्त्रीय मीमांसा अथवा दर्शनशास्त्र से जुडा हुआ शब्द है तथा "दार्शनिक व्याख्या में इसका सम्बन्ध "देसीन" (DASEIN) आन्दोलन से जोडा जाता है।"[१९] "देसीन" (DASEIN) का अर्थ है- होना/अस्तित्व। इस दृष्टि से यह शब्द कहीं न कहीं अस्तित्ववाद से जुड जाता है जो निर्वचनशास्त्रीय संदर्भ में हेडेगर के दार्शनिक चिन्तन से संयुक्त है।

७. कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा

आधुनिक "निर्वचनशास्त्र" की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप में जानने के लिए इसकी कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा भी विशेष महत्त्वपूर्ण है, जो इन मुद्दों पर प्रकाश डालती है -

१. किसी कृति को समझने का अर्थ है और इसके विभव की क्या स्थितियाँ हैं ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. संस्कृति-विज्ञान प्रविधि और रूप में प्रकृत विज्ञानों से किस प्रकार भिन्न हैं ?

३. कौन-सी ऐसी स्थितियाँ हैं, जो किसी भी प्रकार की मानवीय समझ को संभाव्य बनाती हैं ?

४. हम किस प्रकार से समझ और अर्थ जैसी अवधारणाओं से युक्त कुछ अवधारणात्मक पहेलियों को सुलझा सकते हैं और किस प्रकार से यह समाधान हमें निर्वचन-कार्य को समझने में सहायता दे सकता है ?''[१०]

निर्वचनशास्त्र : स्वरूप-विवेचन

''निर्वचनशास्त्र'' की ऊपर निर्दिष्ट परिभाषाओं के आलोक में इसे एक ''चिन्तनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रथा'' के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। ''निर्वचनशास्त्र'' निर्वचन और 'शास्त्र' के योग से निष्पन्न है। ''निर्वचन'' शब्द निरुक्ति, व्याख्या, अर्थ-प्रतिपादन अथवा ''निश्चयकथनम्'' के अर्थ का द्योतन करता है तथा शास् धातु से व्युत्पन्न शास्त्र शब्द शासन, नियन्त्रण अथवा प्रदर्शन के अर्थों को ज्ञापित करता है। इसलिए निर्वचनशास्त्र निर्वचन के सिद्धान्तों के प्रदर्शन और नियन्त्रण से सम्बद्ध ऐसा विज्ञान है, जो न तो मात्र अर्थोद्‌घाटन की सैद्धान्तिकी के प्रति उन्मुख होता है, अपितु अर्थोद्‌घाटन-प्रक्रिया से भी संयुक्त है।

भाषाविज्ञान (लिंग्विस्टिक्स), शैलीविज्ञान (स्टाइलिस्टिक्स) और प्रतीक-विज्ञान (सिमिओटिक्स) की तरह निर्वचन की दिशा में उन्मुख ''हर्मीन्यूटिक्स'' (निर्वचनशास्त्र) मूलतः धर्म-मीमांसाशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्रीय परम्परा से जुडा हुआ शब्द है। इसका प्रारम्भिक विवरण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों, यथा-''बाइबिल'' के आध्यात्मिक सत्य की व्याख्या में उपलब्ध होता है। ''हर्मीन्यूटिक्स'' की इसी पृष्ठभूमि के कारण ही इसे धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक कृतियों के निर्वचन के पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा व्यवहार से सम्बद्ध ऐसा विज्ञान माना जाता है जो कृति की संभाव्यता और उसमें निहित विभिन्न अर्थच्छवियों को उजागर कर उसकी शब्दार्थमीमांसा भी करता है और इस प्रकार यह स्वरूपतः विज्ञान और कला दोनों ही छोरों पर अवस्थित रहता है।

कहना होगा कि मानवीय अभिव्यक्ति के स्वरूप और पूर्वग्रहों की व्याख्या तथा मानवीय समझ को संभाव्य बनानेवाली स्थितियों से सम्बद्ध यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"निर्वचनशास्त्र" एक ऐसा बौद्धिक अनुशासन भी है जो अन्तर्वस्तु और पद्धति को पूर्णतया अन्तर्ग्रंथित मानते हुए इस बात पर बल देता है कि कृति का अध्ययन-विश्लेषण इसकी सत्ता-मीमांसा (आंटोलोजी) पर आधारित होना चाहिए तथा इस सत्ता-मीमांसा का आधार भाषा है।

अतः अर्थोद्घाटन-प्रक्रिया, अर्थ के प्रतिपादन तथा निर्वचन की जाँच की दिशा में क्रियाशील उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त "निर्वचनशास्त्र" को "भाष्य-विज्ञान" के रूप में अभिहित करना भी समीचीन है।

उपर्युक्त विशेषताओं से जहाँ "निर्वचनशास्त्र" के स्वरूप एवं उसके प्रकार्यों का परिचय मिलता है, वहीं "निर्वचनशास्त्र" की वैचारिकता एवं क्रियाक्षेत्र पर प्रकाश पडता है।

सुश्री मीनू नन्दा
यू. जी. सी. शोधप्रज्ञ, हिन्दी विभाग,
गुरू नानक देव विश्वविद्यालय,
अमृतसर

टिप्पणियाँ

१. इलियड, मर्सिया दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन, छठा खण्ड, मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. २७९

२. वही

३. हिनेल्स, जॉन. आर., दि पेंगुइन डिक्शनरी अव रिलिजन्स, पेंगुइन बुक्स, लंदन १९८४, पृ. १४५

४. मोरनर, कैथलीन, डिक्शनरी अव लिटरेरी टर्मज, एन. टी. सी. पब्लिशिंग ग्रुप, यू. एस. ए. १९९८, पृ. ९७

५. वेबस्टर, मरियम वेबस्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी अव दि इंडियन लैंगवेज खण्ड दो, जी. एण्ड सी. मरियम कम्पनी, १९७६, पृ. १०५९

६. इलियड, मर्सिया दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन्स, छठा खण्ड, मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. १८२-२८४

७. लार्डएरिक ए थियोलोजिकल ग्लोसेरी, दि रिलिजिअस एजुकेशन प्रेस, ऑक्सफोर्ड १९६४, पृ. ५४

८. इलियड, मर्सिया, दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन, छठा खण्ड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. २७९

९. काने, मोरिस. ए. **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन्स**, दिल्ली : नाग पब्लिशर्ज प्रथम संस्करण १९७६, पृ. १७८

१०. दि फिलोलोजिकल सोसाइटी, **दि ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी**, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७०, पृ. २४३

११. इलियट, स्टीफन, **वेबस्टर्स न्यू वर्ल्ड इन्साइक्लोपीडिया**, न्यूयार्क : प्रेंटाइस हाल जनरल रेफरेंसिस, १९९३, पृ. ३८६

१२. लार्ड, एरिक, **ए थियोलोजिकल ग्लोसेरी**, ऑक्सफोर्ड : दि रिलिजिअस एजुकेशन प्रेस, १९६९, पृ. ५४

१३. इलियड, मर्सिया, **दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन** छठा खण्ड, न्यूयार्क : मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, १९८७, पृ. २७९

१४. बुल्के, कामिल, **अंग्रेजी-हिन्दी-कोश**, दिल्ली : एस. चांद एण्ड कम्पनी, तृतीय संस्करण, १९८१, पृ. २९३

१५. बाहरी, हरदेव, **बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश**, प्रथम भाग, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, १९६९, पृ. ०८८१

१६. इलियड, मर्सिया, **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खंड, न्यूयार्क: मेकमिलन एण्ड केगनपा, १९७३, पृ. ८

१७. फाउलर, रोजर, **डिक्शनरी अव मॉडर्न क्रिटीकल टर्मज**, लंदन एण्ड बोस्टन : रूटलेज एण्ड केगनपा, १९७३, पृ. ८

१८. इलियड, मर्सिया **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खण्ड, न्यूयार्क : मेकमिलन एण्ड कम्पनी, १९८७, पृ. २८५

१९. वुल्फ जेनेट, **हर्मीन्यूटिक फ्लासॉफी एण्ड दि सोशियोलोजी अव आर्ट**, लंदन एण्ड बोस्टन : रूटलेज एण्ड केगनपॉल, १९७५, पृ. १०३

२०. इलियाड, मर्सिया, **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन** छठा खण्ड, न्यूयार्क, मेकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, १९८७, पृ. २८१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वधर्म पालन : अत्याधुनिक समय की माँग

प्रारंभ से वर्तमान समय तक भारतीय वैचारिकी ने सत्यमय तथा कर्ममय जीवन जीने का उद्घोष दिया है। ऐसे निष्पाप उद्घोष की प्राप्ति हर मानव स्वधर्म पालन से कर सकता है। तो स्वधर्म है क्या ? सीधे-सीधे यही कि स्वधर्म मानव का कर्तव्य है जिसका मानव की प्रकृति से अन्वय संबंध है। हममें अधिकांश जन कहीं छात्र हैं कहीं अभिभावन हैं और कहीं शिक्षक। पुनः छात्र, अभिभावन और शिक्षक कहीं शोषित हैं कहीं शोषक। इस शोषण की जड है कि हम दिन-प्रतिदिन शिक्षा को अपने उद्देश्य का शगल नहीं वरन् व्यवसाय का रूप देते जा रहे हैं। ज्ञान हासिल करने के लिए शिक्षण संस्थानों में पढने-पढाने का ध्येय पीछे छूटता जा रहा है। ऐसे समय में स्वधर्म का निर्वहन हमारी बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

दर्शन के छात्र एवं शिक्षक के रूप में स्वधर्म विषय-चयन के पीछे हमारी भावना है कि यदि हम स्वयं से पृथक् हैं, अलग हैं और 'स्व' असंगत हैं तो किस तरह से 'स्वधर्म' की विविध धारणाओं की समयानुकूल व्याख्या करके वर्तमान संदर्भ में इसकी दार्शनिक प्रस्तुति की चेष्टा कर सकते हैं। फिर हमारी श्रुति हमें 'विश्वमानुष' बनने का आदेश देती है। यह भी न्यायोचित है कि स्व के अनुसंधान और प्राप्ति हेतु पुरानी प्रत्येक प्रतिमा को विसर्जित करने की हम चेष्टा करें तब धर्म पर विमर्श हो। मौजूदा समय में केवल एक शताब्दी का ही अंत नहीं हुआ है बल्कि नई सहस्राब्दी में हम प्रवेश कर चुके हैं। ईसा की तीसरी सहस्राब्दी के प्रारंभ होने से पाँच सौ वर्ष पूर्व भारतीय महाकाव्य महाभारत का एक अंग गीता[1] 'स्वधर्म की अवधारणा' को हम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

हम भू-मंडलीय एकीकरण की दौड में शामिल हैं लेकिन अपनी विशिष्टता भी हमें बनाये रखनी है। चतुर्दिक विकास के प्रयास में चहुँ ओर अव्यवस्था परिलक्षित है, बौद्धिक मानव के साथ हिंसक मानव भी हम ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। क्रूर दंगे आपराधिकवारदात, विभिन्न धर्मों के युद्ध, गृहयुद्ध, शीतयुद्ध के बाद हम परमाणु युद्ध के भय से आक्रांत हैं। पडोसी देशों के परस्पर युद्ध के साथ ही मानवीय संबंधों के विरुद्ध युद्ध से हमने संघर्षपूर्ण और विसंगतिपूर्ण जीवन पाया है। हमारी शंका यह भी है कि कहीं 'स्वधर्म' का हम छात्र, शिक्षक तथा नागरिक रूप में उचित निर्वहन करने में सक्षम नहीं हो पा रहे हों। वर्तमान समय में हम धर्म-सहिष्णुता, सर्वधर्मसमभाव, विश्व-धर्म, मानवीय-धर्म की बातों में उलझे रहने पर भी अपनी लडाकू, लोभी, ईर्ष्यालु, परम दुःख से बोझिल प्रवृत्तियों को खुद से अलग नहीं कर पाते। ऐसे परिवेश में सख्त जरूरत है स्वधर्म पालन की।

'स्व' उपसर्ग के साथ मूलशब्द 'धर्म' का प्रयोग 'स्वधर्म' शब्द का निर्माण करता है। यथा- स्वजन people; देश - country; धर्म - religion; पक्ष - party; राष्ट्र- country; स्वेच्छा - will[२] इत्यादि। शब्दकोश में वर्णित हर शब्द का विवेचन श्रमसाध्य कार्य है फिर भी जहाँ तक संभव है हमारी कोशिश जारी है। संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर में 'स्व' और स्वधर्म दोनों का संकलन मिलता है : स्व - वि (सं) अपना। निज का[३]; स्वधर्म - संज्ञा (पुं.) (सं) अपना धर्म[४]।

तो अपना धर्म क्या है ? इसे पहचानने की जरूरत है बाकी सब स्वमेव हल होना है। हम यह भी नहीं भूल सकते कि धर्म से ही कर्तव्य का निर्णय होता है। यहाँ हम कहना चाहते हैं कि छात्र अपना कर्तव्य पहचानें, जिनका काम स्वाध्याय है। इसे वे विनम्रता से ले सकेंगे और शिक्षक रूप में हम अपना कर्तव्य पहचाने अर्थात् सज्ञनता से विद्यादान को तत्पर हों। फिर, स्वधर्म प्रत्येक व्यक्ति से जुडा है, पेशा उसने जो भी अख्तियार किया हो।

धर्म भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूल भी माना जाता है, लेकिन हम विश्व में मौजूद असंख्य धर्मों के उदाहरणों के अध्ययन से स्पष्ट समझ लेते हैं कि धर्म मानवीय संस्कृति का प्राण है। पृथ्वी पर अनगिनत धर्मों की प्रेरणा है। उपनिषदों में धर्म शब्द का प्रयोग नैतिक आदर्श या सदाचार के अर्थ में हुआ है। जैसे - सत्यं वद। धर्मं चर।[५] अर्थात्, हे स्नातक, तुम सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो। विश्व में मौजूद तमाम धर्म के तार्किक विकास क्रम को डा. याकुब मसीह ने प्रस्तुत किया है जिसका उल्लेख विविध धर्मों की जानकारी देता है -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म

- १. प्राकृतिक धर्म — Natural
  - जादू का धर्म
  - द्रव्यमूलक (निर्गुणरूपी)
    - क) चीनी धर्म
    - ख) हिन्दू धर्म
    - ग) बौद्ध धर्म (जिसे हेगेल ने शून्यतावाद कहा है। हेगेल को बौद्ध धर्म की जानकारी हिंदुत्व की अपेक्षा अल्प थी)[६]
- २. आध्यात्मिक व्यष्टिनिष्ठता का धर्म — Religion of spiritual individuality
  - क) जरतुश्त धर्म
  - ख) सीरियाई धर्म
  - ग) मिस्री धर्म
  - घ) यहूदी धर्म
  - ड) यूनानी सौन्दर्योपासना
  - च) रूमी धर्म
- ३. निरपेक्ष धम अर्थात् ईसाई धर्म

यद्यपि बहुत से धर्मों की गिनती इसमें नहीं आ पाई है। स्वधर्म के विवेचन में किसी विशिष्ट धर्म के बनिस्पत मानव जो धारण करता है का अर्थ बेहतर है।

धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हम देखते हैं -

वैश्वानराय पृथुपाजसे विप्रो रत्ना विधन्त धरूणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्।।[७]

भावार्थ है कि जिस प्रकार अग्नि अपने सनातन गुणकर्म स्वभावों को सेवता है कभी दोषी नहीं होता, वैसे विद्वान् जन जिज्ञासुओं के हित के लिए विद्या देकर अपने-अपने स्वभावों को भूषित करते हैं। कभी अधर्माचरण से दूषित नहीं होते हैं। इसी विषय को अगले मंत्र में कहा गया है -

अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्त परिभूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितोधियावसुः ।।२।।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावार्थ है कि मनुष्यों को देश के अवयवों को प्राप्त होकर उत्तम विद्याध्ययन अध्यापन और उपदेशादि कर्मों के साथ समस्त मनुष्य सुभूषित करना चाहिए और इससे सबका हित सिद्ध करना चाहिए।

प्रथम मंत्र में 'धर्माणि सनता' से धर्म को नियम या विधि कहा गया है। ऋत अर्थात् नियम जिससे विश्व का धारण होता है। इस संबंध में पुनः उद्धरणीय है -

ऋतेन ऋत धरूण धारयन्त यज्ञस्य शाके प्ररमे व्योमन।
दिवो धर्मन्धरूणे सेदुषो नृञ्जातैरजाताँ अभिये ननक्षुः ॥२॥[९]

उपरोक्त मंत्र में वैसे मनुष्यों को विद्वान् कहा गया है जो पूर्व और वर्तमान विद्वानों से मिलकर परमेश्वर, प्रकृति और जीव के कार्य की विद्या को जानते हैं। जो लोग द्युलोक को धारण करने वाले विद्यान में आसीन शक्तियों की ओर यात्रा करते हैं वे यज्ञ की शक्ति में, परम आकाश में, भागवत सत्य के द्वारा उस सत्य को धारण करते हैं जो सबको धारण करता है। वैदिक मंत्र कहते हैं कि हम वैसे सत्य का धारण करें जो सबको धारण करता है। वेदोक्त सत्ता के सात तत्त्व हैं और पुराणों के सात लोक इन्हीं के अनुरूप हैं। मनतत्त्व को प्रकाश का लोक कहा गया है और वेदों में इसे स्वः[१०] नाम दिया गया है। मनुष्य अपने मन पर नियंत्रण करे अर्थात् 'स्व' पर, तो 'धर्म' अर्थात् कर्तव्य वह पूरा करेगा ही। इसलिए वैदिक नियम का विधि और निषेध के अनुरूप आचरण करना ही धर्म कहा गया है। स्व पर नियंत्रण से कर्तव्यपालन की वैदिक शिक्षा छात्रों, शिक्षकों के साथ ही समस्त मानवों को कार्यविद्या जानने की खुली चुनौती देता है।

वेद (श्रुति) एवं धर्मशास्त्र (स्मृति) में विरोध नहीं है। वेदविहित कर्मों की विशद व्याख्या धर्मशास्त्र करते हैं। महात्मा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में वैदिक आचरण के नियमों की व्याख्या के साथ-साथ कुछ नये नियमों का भी प्रसंगतः समावेश है। महात्मा मनु ने सदाचार को ही धर्म का मूल माना है। प्रतिष्ठा एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं हेतु निर्धारित नीतिशास्त्र[११] की पुस्तकों में महात्मा मनु ने याज्ञवल्क्यकृत धर्मशास्त्रों के आधार पर चारों वर्ण, चारों आश्रम एवं वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म, सामान्य सनातन धर्म, विशिष्ट धर्म तथा आपत्तिकालीन धर्मों के लक्षण की सविस्तार व्याख्या की गई है। तकनीकी विकास की ऊँचाइयों पर पहुँची मानव सभ्यता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और मिश्रित जाति के आधुनिक समाज में किसी जातिविशेष में जन्म मानव को किसी जाति के निर्धारित कर्मों में बाँध कर हम जातिगत कट्टरता को बढावा देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते, लेकिन संस्कारों के अनुष्ठान के बिना हमारा समाज असंगठित हो जायेगा। संस्कार कर्म का बीज है ऐसा न्यायदर्शन का उद्घोष है। संस्कार से यहाँ हमारा तात्पर्य है शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास के लिए परिमार्जन[१२] की चेष्टा। संस्कारों के कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों से विषय का प्रयोजन सधता नहीं दीखता। शास्त्रों में उक्त समावर्तन संस्कार का विवेचन विषय साध्य है - हमारा कथन है कि शिक्षण संस्थानों में अपनाई गई, वर्तमान कालीन शिक्षण प्रणालियाँ किञ्चित परिवर्तन के साथ प्राचीन गुरूकुलों में होने वाले समावर्तन संस्कार के अनुरूप ही हैं। विधिवत् विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी विद्यास्नातक तथा व्रतस्नातक कहे जाते थे। आज भी स्नातक, विद्यार्थी विद्या में स्नान करके ही विद्यार्जन करते हैं। विद्या और व्रत में स्नान करना हमारे छात्रों का स्वधर्म आज भी है।

गीता के पूर्व भारतीय वाङ्मय ने धर्म की विशद व्याख्या करके धर्म को स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचा दिया है। वैदिक काल के बाद उपनिषद् काल तक धर्म की दीर्घ यात्रा इस बात का प्रमाण है । परिणाम स्वरूप धर्म बहुमुखी, बहुआयामी भी बना है। महाकाव्य काल में प्रत्येक क्षेत्र में जटिलता आ गयी। श्रीकृष्ण ने जिस स्वधर्म की अवधारणा दी उसे आज भी अर्जुन (व्यक्ति या मानव) की जटिल मानसिक स्थिति के निदानस्वरूप देखा जा सकता है। अतः 'स्वधर्म' के यथार्थ स्वरूप की स्थापना के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के संदर्भों का विवेचन विषय संगत होगा। ब्राह्मण और बौद्धों का संघर्ष जन्मना वर्ण-व्यवस्था और कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के विश्वासों के कारण भी था; गीता में इस वाद-प्रतिवाद का सुन्दर समन्वय है। केवल भगवत् आज्ञानुसार व्यक्ति कर्म करे इसके लिए गीताकार एक विशिष्ट शब्द- 'स्वधर्म' का प्रयोग करते हैं। हर व्यक्ति सामान्य और विशिष्ट गुणों से विभूषित होता है। मुक्ति के लिए महाभारत[१३] में सामान्य मानवीय धर्म के अतिरिक्त विशिष्ट धर्म अर्थात् 'स्वधर्म' की अपेक्षा भी बताई गई है। इसी में व्यक्ति की मौलिकता छिपी रहती है। स्वधर्म प्रबल होते हैं, इसलिए स्वधर्म की साधना यहाँ परमावश्यक कही गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस विवेचन पर सभी जन सहमत होंगे कि कोई भी समाज-व्यवस्था तथा जीवन-पद्धति उसमें मौजूद व्यक्ति के चरित्र से समुन्नत होता है। दर्शनग्रंथों का मुख्य विवेच्य आचरण है। प्रसंग से प्रतीक बनी दार्शनिक गीत गीता में इतिहास, विज्ञान के साथ ही कला पक्ष और दर्शन की स्पष्ट झलक है। ऐसी सुगीता में उस समय तक के प्रचलित मतवादों मीमांसा-वेदान्त, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन के साथ ही ज्ञान, भक्ति, कर्म सम्प्रदायों के बीच एक आदर्श संतुलन हमें मिलता है। अत: गीता एक ऐसा सद्ग्रन्थ है जिसमें तत्त्वविचार, नैतिकनियम, ब्रह्म-विद्या और योग-शास्त्र निहित है। इसे विश्व साहित्य में उपस्थित ग्रन्थों में दुर्लभ ग्रन्थ और ईश्वरीय-संगीत का विशेषण मिल चुका है। स्वधर्म की अवधारणा और इसकी महत्ता का फलसहित निरूपण गीता में किया गया है। गीता की योग-दृष्टि का प्रथम भाग स्वधर्म हैं। इसे विकास वादी Marx और Engles Struggle for existence, Dialetical materialism तथा class struggle का नाम देते हैं। इस बात का निर्देश गीता में विशेष है कि मानव सदा ही निष्काम भाव से कर्म करे। निष्काम कर्म का आचरण ही स्वकर्म है और स्वकर्म ही स्वधर्म है। अत: स्वधर्म का अनुष्ठान ही व्यक्ति का कल्याण कर सकता है। प्रकृति के अनुसार शास्त्रविधि से नियत किए हुए वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म को ही गीता की भाषा में स्वधर्म, सहजकर्म,[१४] स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म आदि नाम मिले हैं। यथा -

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ।।४८।।[१५]

यह ठीक है कि नीतिशास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार पर सहजकर्म में व्यक्ति के इच्छा स्वातंत्र्य की बात नहीं जी सकती क्योंकि सहज कर्म नीति-शून्य कर्म ठहरते हैं। लेकिन हमारे समक्ष एक अस्पष्टता आ जाती है कि 'स्वधर्म' को हम नीतिशास्त्रीय आधार तक ही सीमित नहीं कर सकते क्योंकि गीता मात्र नीतिशास्त्र नहीं है।

हमें गीता के उस दृष्टिकोण को भी याद रखना होगा कि सत्त्वगुण की अधिकता से ब्राह्मण, सत्त्वमिश्रित रजो गुण के आधिक्य से क्षत्रिय, तमोमिश्रित रजोगुण के आधिक्य से वैश्य तथा रजो मिश्रित तम की प्रधानता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से उन्हें शूद्र के रूप में रचा गया है। यथा-

सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।[१६]

स्वधर्म के संदर्भ में गीता का निम्न श्लोक कुछ अधिक ही महत्त्व रखता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।[१७]

स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिए। इसलिए अच्छे प्रकार आचरण किये हुए दूसरे धर्म से, गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरण भी कल्याणकारी है, दूसरे का भय देने वाला। ऐसा स्वधर्म सतही दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म का पक्ष लेता है। यथा-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।

फिर भी गीताकार की दृष्टि सूक्ष्म और उदार है। यहाँ जन्मना वर्ण-व्यवस्था का रूढ संकेत नहीं किया गया है। गीता का स्वधर्म अपना शील है जिसमें बाह्य नियंत्रण की गुंजाईश कतई नहीं है। इसलिए ऐसे स्वधर्म निर्वहन से व्यक्ति आनंद पाता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो... परमधर्मो भयावहः', को हम व्यक्ति की सहज क्षमता से समझ सकते है। जैसे किसी व्यक्ति की रूचि संगीत में है तो उसे संगीत के प्रति आकर्षण है और अपनी योग्यतानुसार उसने संगीत को स्वधर्म मान लिया है। इस स्वधर्म की साधना से वह संगीत में अपनी योग्यता स्थापित कर सकता है। इसके विपरीत जिसमें संगीत की सहज क्षमता नहीं उसे इसके प्रति सहज आकर्षण न होगा तो वह शायद ही सफल संगीतकार बन सकेगा। इसके साथ यह भी विचारणीय है - दोष युक्त हो तो भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिए। तत्पश्चात् स्वधर्म की महत्ता बताते हुए, यह भी निर्देशित है कि स्वधर्म की अवधारणा सभी कर्मों की समानता पर बल देती है। स्वधर्म की दृष्टि से सभी कर्म मूलतः समान हैं।

स्वधर्म सिद्धान्त का दूसरा महत्त्व इस संबंध में देखा जाता है कि यदि हम समाज की व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं तो स्वधर्म का पालन वांछनीय है। क्योंकि यदि हर व्यक्ति मनमाने ढंग से काम करना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुरू कर दे तो व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ संबंधों में अराजकता आ सकती है और अराजकता सामाजिक शांति भंग करेगी तथा सामाजिक सुरक्षा भी खतरे में पड जायेगी। समाजशास्त्र की स्थापना है कि योग्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज में हो और नीतिशास्त्र की स्थापना है कि योग्य मनुष्य को ही फल मिले तो यहाँ संत विनोबा की बातें हमारी समझ से सटीक हैं - जिसका कर्म, उसी का फल[१८] व्यक्ति इस पर आत्मविश्लेषण करना प्रारंभ कर दे तो अपना 'स्व' सबका 'स्व' हो जाएगा। साथ ही हर व्यक्ति के स्व के प्रति मानव समान रूप से सहिष्णु होगा। स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहने की शिक्षा से हम गीता की महत्ता समझ सकते हैं।

स्वधर्म की तीसरी महत्ता इस अर्थ में है कि स्वधर्म पालन से आध्यात्मिकता का विकास होता है। वह इस तरह कि व्यक्ति किसी भी कर्म को कर्तव्य समझकर सम्पादित करे तो इससे 'अहं' प्रवृत्ति का शमन होता है और अहं का त्याग स्वधर्मपालन से ही संभव है। अंततोगत्वा गीता से निर्देश यही मिलता है कि व्यक्ति अहं का त्याग कर आध्यात्मिक विकास की दिशा में स्वकर्म करे।

स्वधर्म की अंतिम महत्ता इस रूप में देखी गई है कि इससे गीता की मूलशिक्षा 'निष्काम कर्म' को बल मिलता है। अर्जुन को निष्काम कर्म के लिए प्रेरित करना उस समय के स्वधर्म की माँग हो सकती है। लेकिन आज के संदर्भ में हमारा क्या स्वधर्म होना चाहिए यह भी एक महत्त्व की बात है।

सहस्राब्दीपुरुष राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हर व्यक्ती को अपना धर्म चुनने की स्वतंत्रता की वकालत करते हुए विचार दिया है कि धर्म व्यक्तिगत[१९] साधना और जीवन-दर्शन है । हर व्यक्ती अपना धर्म चुनने को स्वतंत्र है, यही उनके अनुसार स्वधर्म है । सभी धर्मों के भ्रातृत्व की कल्पना करके उन्होंने प्रार्थना की है कि चाहे जिसका जो भी धर्म हो, उसको उसी से श्रेय और सुख मिले ।[२०] मानव आचरण की कठिनाइयाँ और इससे संबंधित अटपटी समस्याओं का हल ढूँढने में इन्होंने[२१] सदैव ही गीतामाता का सहारा लिया।

समसामयिक भारतीय चिंतक डॉ. भगवानदास अपने कथन में जिस मानव धर्म की चर्चा करते हैं वह हमें स्वधर्म के संदर्भ में बहुत ही सटीक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लगता है,

"That scheme or code of laws which binds together human beings in the bonds of mutual rights and duties, of causes and consequences of actions arising out of their temperamental characters, in relation to each other, and thus maintians society, is human law, Manavadharma."[22]

जहाँ तक गीता के स्वधर्मपालन को स्पष्ट करने की बात है निम्न बिन्दु यहाँ परिलक्षित होते हैं - प्रकृति, शास्त्र, वर्ण और अलौकिक शक्ति। अलौकिक शक्ति का निर्धारण मानव नहीं कर सकता। प्रकृति, शास्त्र एवं वर्ण को नयी दृष्टि से देखा जाए तो शायद मानव स्वधर्म का निर्धारण करके विश्व मानव बन कर विश्व मानवता की बात कर सकता है। तीनों निर्धारक तत्त्वों को इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है - प्रकृति का तात्पर्य मानव स्वभाव एवं उसकी क्षमता से हो, मानव स्वभाव एवं क्षमता का निर्धारण आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर करके उसे एक वर्ण दिया जाए। उसे वर्ण देने से तात्पर्य है कि उसका व्यक्तित्व सुनिश्चित कर दिया जाए। यह व्यक्तिविशेष के लिए और उसके कर्मों से मानव-समाज दोनों के लिए लाभदायक होगा। हमारी समझ से उपर्युक्त तत्त्वों के निर्धारण में मनोविज्ञान, दर्शन (अध्यात्म विज्ञान) तथा प्राकृतिक विज्ञान के संयुक्त प्रयास अधिक कारगर होंगे।

'स्वधर्म' का संबंध मनुष्य के कर्तव्य से है यह जीवन के आदर्श की बात कर नीतिशास्त्रीय विषय बन जाता है, लेकिन नीतिशास्त्र स्वयं मूल्यमीमांसा की उपशाखा है, संपूर्ण दर्शन नहीं। अतः हमने भारतीय दृष्टिकोण से कुछ विवेचन की चेष्टा रखी है। भारतीय दर्शन को भारतीय संस्कृति का खजाना कहा गया है। इसकी आचारसंहिता बहुत ही सरल है - भगवत्कृपा से जिसके पास जो प्रभूत है उसका उचित पात्र में वितरण और इस कोशिश में हमने अपनी अनुभूतियाँ, अपने स्वाध्याय से अर्जित अनुभव को 'बहुजनहिताय' छात्र हित में देने की चेष्टा करके शिक्षकत्व की स्ववृत्ति अपनायी है। हमारे अध्यापन कर्म से मानव में माधुर्य और जीवन्तता बनी रहे। हर स्तर की बौद्धिक एवं अन्य विषमताएँ दूर हो सकीं तो हम शिक्षकत्व से राष्ट्रनिर्माण कर 'स्वधर्म' पूरा कर सकेंगे। हम से हमारा तात्पर्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्त भू-मंडल के धियावसु से है। समस्त धियावसु ज्ञान के अन्वेषण में उद्यमशील हैं।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग डा. शैल कुमारी
लंगरसिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर ८४२००१

टिप्पणियाँ

१. John C. Plott & Paul D. Mays, **A Synchronological Chart To The Global History of Philosophy** और गुप्त, डा. दास, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग-२, पृ. ४३७
२. बाहरी, डा. हरदेव, **शिक्षार्थी हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोश**, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९९२, पृ. ६८४,
३. **संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर**, रामचन्द्र वर्मा द्वारा मूल संपादित कोश संस्थान (कोश विभाग) द्वारा अष्टम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (२०३८ वि.), पृ. १०४६
४. वही, पृ. १०४७
५. **तैत्तिरीय उपनिषद**, १/११/१
६. मसीह, डा. याकुब, **हेगेल और ब्रैडले का प्रत्ययवाद**, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, १९८७, पृ. १६७
७. **ऋग्वेद**, मंडल ३ अनुवाक् १ सूक्त २,३१ मंत्र १; ऋग्वेद - भाषा-भाष्य प्रथम-भाग, सरस्वती महर्षि दयानन्द महात्मा वेद भिक्षु: भारतेन्द्रनाथ, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, पृ. ३०१
८. वही, पृ. वही, मंत्र २
९. विस्तृत अध्ययन हेतु देखें :- वेद-रहस्य (उत्तरार्ध) श्री अरविन्द, श्री अरविन्द सोसायटी पांडिचेरी, १९७२
१०. **वेद-रहस्य** (उत्तरार्ध). पृ. ११
११. सिंह डा. बद्रीनाथ, **नीतिशास्त्र**, स्टूडेंस्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी, पृ. ३३८-४०८
१२. आपटे वामन शिवराम, **संस्कृत-हिन्दी कोश**, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, पृ, १३४८
१३. **महाभारत**, शान्तिपर्व, अध्याय २६१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. गीता, १८. ४१, ४७
१५. गीता, १८.४८
१६. वही, श्लोक ४०
१७. गीता का अठारहवाँ अध्याय
१८. भावे विनोबा, **स्थितप्रज्ञ दर्शन**, अनुवादक - हरिभाऊ उपाध्याय, सत्साहित्य प्रकाशन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ, ११८
१९. गांधी मोहनदास करमचन्द, *हरिजन*, २८ दिसम्बर १९३९
२०. विस्तृत अध्ययन के लिए देखे दत्त, डा. धीरेन्द्र मोहन, महात्मा गाँधी का दर्शन, अनुवादक डा. रामजी सिंह, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृ. ४३
२१. बापू की आत्मकथा
२२. Das, Bhagwan, **The Science of Social Organism or The Laws of Maun**, Vol, I & III. 2nd edi, Benaras, 1948, p. 49

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna. A. M.Ghose and P. K. Srivastav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and **P. P. Gokhale**(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), PartI, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 50/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy,
University of Pune,
Pune - 411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नागार्जुन का भाषादर्शन

यथा यंत्रीकृतं तूर्यं वाद्येत पवनेरितम्
न चात्रवादक: कश्चिन्निश्चरंत्यथ च स्वरा:
एवं पूर्व सुशुद्धत्वात् सर्वसत्वाशयेरिता
वाग्निश्चरति बुद्धस्य, न चस्यास्तीह कल्पना ।(प्रसन्नपदा १८.७)

(I)

माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन की तर्कणा पद्धति जिसे टी.आर.वी. मूर्ति भारतीय दर्शन में कापरनिकसीय क्रांति[1] और यशदेव शल्य संदेहवाद से भी अधिक विस्थापक दार्शनिक कृत्य[2] कहते हैं, दर्शन के इतिहास में अनूठी होते हुए भी भारतीय दार्शननिक चिंतन में वह स्थान नहीं प्राप्त कर पायी जिसकी वह हकदार थी । शून्यवाद हमारे सामने ऐसे दर्शन के रूप में आता है जो बहुत अधिक निन्दित हुआ और थोडा ही सम्मानित हो सका । आचार्य शंकर शून्यवाद को आलोचना योग्य भी नहीं समझते[3] तो उदयनाचार्य जैसे नैयायिक माध्यमिकों की विचारप्रकिया को विचित्र प्रकार की मानसिक भ्रांति से ग्रासित चिंतन बताते हैं । नागार्जुन चूँकी किसी पक्ष का प्रतिपादन नहीं करते, उनकी अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं अतएव आधुनिक व्याख्याकार शून्यवाद को अद्वैतवाद, अनुपलम्भवाद अथवा संदेहवाद के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं । व्याख्याओं की ऐसी बहुलता और कुछ नहीं, नागार्जुन की स्वपक्षहीनता और शून्यता को अपने-अपने पूर्वग्रहों के अनुरूप व्याख्यायित करना हैं । नागार्जुन की स्वपक्षहीनता और शून्यता के वास्तविक तात्पर्य को न समझने के कारण अनेक भ्रांतियों का जन्म ही नहीं होता बल्कि शून्यता स्वयं में विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हो जाती है । ऐसी विप्रतिपत्तियों का बहुत बडा कारण शून्यता के स्वरूप एवं चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय में भाषा के प्रकार्य को न समझने में छिपा हुआ है । अत: नागार्जुन को सही परिप्रेक्ष में समझने के लिए द्वन्द्वन्याय की संरचना एवं उसमें निहित भाषादर्शन को स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना आवश्यक है । इस विशेषता को गोविन्द चन्द्र पाण्डेय उद्घाटित करते हुए कहते हैं -

शून्यता तथ्य विषयक विधि-निषेध की भाषा का पद नहीं है बल्कि उससे उच्चतर भाषा का है जिसका प्रयोग निरंतर भाषा की आधारभूत तार्किक दृष्टि के विचार के लिए होता है ।[४]

(II)

नागार्जुन तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों की आलोचना एवं निराकरण में डेरिडा की अपेक्षा ज्यादा सफल है ।[५] -डेविड लॉय

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता की अवधारणाओं का शुद्ध तर्कात्मक युक्तियों में रूपान्तरण कर दिया है । इसका प्रमाण यह है कि महात्मा बुद्ध ने जिन प्रत्ययों को अवाच्य कहा, नागार्जुन ने उसकी शून्यता या निःस्वभावता के लिए तर्क दिये हैं । महात्मा बुद्ध ने अपने को सभी दृष्टियों से मुक्त बताया था और दृष्टियों को मूलतः दो कोटियों में विभक्त किया था - अस्तित्ववादी और नास्तित्ववादी । नागार्जुन कत्यायन को दिये गये बुद्ध के प्रसिद्ध उपदेश का उद्धरण देते हैं, "भाव और अभाव के विचारक भगवान् ने कत्यायनवाद में 'है' और 'नहीं है' इन दोनों का प्रतिषेध किया है ।" जैन दार्शनिकों और हेगेल के विपरीत वह मानता है कि अपने मन के विचारों के द्वारा समन्वय स्थापित कर लेने से कोई व्यक्ति यथार्थ सत्य तक नहीं पहुँच सकता । इस प्रकार की विचार प्रक्रिया को अनुपयुक्त मानते हुए नागार्जुन पक्ष और विपक्ष दोनों का खण्डन करता है । टी.आर.वी. मूर्ति स्पष्ट करते हैं-

"सभी दृष्टियों का खण्डन ही तर्क की क्षमता का खण्डन करेगा जिससे प्रज्ञा उत्पन्न होगी जो विचारों से परे है । दृष्टियों के खण्डन का आधार किसी अन्य दृष्टि के स्वीकार करने में नहीं है अपितु उन्हीं के अन्दर विद्यमान व्याघ्यात है । माध्यामिक द्वन्द्वन्याय तार्किक स्तर पर पूर्णतः खण्डनात्मक विश्लेषण है।"[६]

नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय चतुष्कोटिक है । बुद्ध के चार अव्याकृतों से प्रेरणा लेकर नागार्जुन अपने द्वन्द्वन्याय में चार विपर्यय प्रस्तुत करता है - १) विधिपक्ष २)निषेधपक्ष ३) दोनों का सम्मिलित विधिपक्ष ४) दोनों का सम्मिलित निषेधपक्ष । नागार्जुन किसी भी प्रत्यय की परीक्षा करते हुए इन चारों कोटियों का प्रयोग करता है और उनमें किसी स्वभाव को नहीं पाता ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'सब धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं' क्योंकि सबका भाव परापेक्षी होता है। किन्तु यदि कोई वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो और इस प्रकार स्वभावयुक्त हो तब? नागार्जुन कहते हैं यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभाववान् वस्तु अनुत्पन्न और अनुत्पादक होगी और इस प्रकार 'शून्य' ही होगी।[७] संसार की नि:स्वभावता का यह बोध ही प्रज्ञा है। अन्य मतों का खण्डन करत हुए नागार्जुन उनके स्थान पर अपना कोई पक्ष स्थापित नहीं करता है। वह कहता है यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा हो तो यह दोष मुझमें भी हो सकता है किन्तु मेरी कोई प्रतिज्ञा नहीं है इसलिये यह दोष मुझमें नहीं लग सकता।[८]

नागार्जुन की यह पद्धति प्रासंगिक कहलाती है, इसमें उन्होंने अवधारणा मात्र को ही विरोधाभासी बताया है। रामचन्द्र पाण्डेय कहते हैं -

इस अर्थ में नागार्जुन विश्व के ऐसे प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने शुद्ध आकारिक तर्कशास्त्र अर्थात् किसी प्रतिज्ञा के सत्यमूल को बिना माने तर्कशास्त्र की पद्धति की सम्भावना मानी जो आकारगत सम्बन्धों पर निर्भर रहकर कार्य कर सके।[९]

यदि माध्यमिककारिका में नागार्जुन साध्यनिरास करता है तो वैदल्यसूत्र में साधननिरास करके एक ओर अपने द्वन्द्वन्याय की संरचना को पूर्णता देता वहीं दूसरी ओर अपनी स्वपक्षहीनता को और भी पुष्ट कर देता है।

(III)

नागार्जुन के भाषादर्शन में निम्नांकित बिन्दुओं की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है -

१) भाषा की पहुँच विकल्पों तक है।

२) नागार्जुन की समीक्षाओं में वस्तुनिष्ठ भाषा और अधिभाषा का स्तरीकरण स्पष्ट करना।

यदि हम प्रथम बिन्दु पर बात करें तो पायेंगे कि नागार्जुन भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करते हैं।

१) मैं वक्ताओं में श्रेष्ठ उस बोधि-प्राप्त की वन्दना करता हूँ जिसने उस प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया है जो निरोधरहित, उत्पादरहित, उच्छेदरहित, अशाश्वत, एकार्थरहित, नानार्थरहित, आगमनरहित, निर्गमरहित होते हुये जहाँ भाषीय विवरणों की समाप्ति होती है और जो सभी उपद्रवों से रहित है।[१०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२) बुद्ध का धर्मोपदेश लोकसंवृत्ति और परमार्थसत्य इन दो सत्यों पर आधारित है। जो लोग इन दो सत्यों के भेद नहीं जानते, वे बुद्ध के उपदेश के गम्भीर तत्त्व को नहीं जानते।[११]

३) जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसको हम शून्यता कहते हैं। यह शून्यता किसी पर निर्भर रहकर भाषा का व्यवहार मात्र है। वह मध्यमा प्रतिपद है।[१२]

४) भाषा का महत्त्व नहीं है क्योंकि आत्मा, अनात्मा, आत्मा-अनात्मा का अस्तित्व नहीं है। जिसके बारे में भाषा का प्रयोग होता है वे निर्वाण की तरह निःस्वभाव हैं।[१३]

५) भाषा असत् का ज्ञापन करती है।[१४]

नागार्जुन की उपर्युक्त कारिकाओं को दिखाने का हमारा उद्देश्य यह है कि नागार्जुन यद्यपि बहुत नहीं तो भी कुछ स्थानों पर भाषा सम्बन्धी अपने विचारों को व्यक्त करते हैं जिनकी मदद से उनके भाषा दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। भाषा और अर्थरूप वस्तु के बीच सम्बन्ध के बारे में भारतीय दर्शन में जो मुख्य मत हैं उनमें नैयायिकों के अनुसार शब्द और अर्थरूप वस्तु के बीच का सम्बन्ध ईश्वर की तरह किसी चेतन कर्ता द्वारा स्थापित होता है। मीमांसक, वैयाकरण जैसी दार्शनिक परंपराओं के अनुसार दोनों में नित्य सम्बन्ध है। इन दोनों ही धाराओं में भाषा वस्तु-निर्देशक है। भाषा की अर्थबोधकता बतलाती है कि निर्देशित वस्तु का किसी संभव विश्व में अस्तित्व है। नैयायिक, मीमांसक, वैयाकरण भाषा की इस निर्देशात्मकता को मानते हुये यह भी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक वस्तु को भी अपने लिये शब्द की आवश्यकता पडती है। अद्वैत वेंदान्त ब्रह्म से इतर वस्तुओं के बारे में भाषा की निर्देशात्मकता को स्वीकार करता है किन्तु शुद्ध चैतन्य को जो सारे सम्बधों से परे है, भाषा का विषय नहीं मानता। ब्रह्म आत्मज्ञान का त्रिषय है। नागार्जुन भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करते हैं।

मध्यमक शास्त्र में इन्होंने इस समस्या की ओर ध्यान दिलाया है कि हमारे द्वारा वस्तु के स्वभाव को जानने के उद्देश्य से भाषा के द्वारा अभिव्यक्त सिद्धांत तत्त्व को जानने में असमर्थ है। प्रथम प्रकरण में नागार्जुन कारणता के विषय में गठित दो सिद्धातों को दिखाते हुये स्पष्ट करते हैं कि इस प्रकार का कोई भी सिद्धांत वस्तु की असली संरचना के बारे में नहीं है क्योंकि ऐसा होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर सिद्धांतों की अनेकता संभव न होती। इसका अर्थ है कि स्थिति और सिद्धांत में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता अपितु सिद्धांत व्यक्तियों की बुद्धि में निहित दृष्टि का प्रतिबिम्ब होता है। वस्तुतः वस्तु के यथार्थ को समझने के लिये इस दृष्टि से छुटकारा पाना होगा। भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करने के लिये नागार्जुन ने चार कोटियों के आकार का निर्माण किया जिसमें चार वैकल्पिक कथनों को इस प्रकार रखा गया कि किसी अन्य प्रकार के कथन को अवकाश न रहे। इनमें से प्रत्येक कथन में अस्तित्व को विधेय माना गया है पर जिसके ये विधेय हैं वह इन विधेयों से बाहर है।[१५] इस प्रकार नागार्जुन के अनुसार किसी विशेष संदर्भ में प्रतिज्ञा भाषा के बाहर के संसार के बारे में कुछ कहने में असमर्थ है। जो लोग तत्त्वमीमांसीय ज्ञान तथा दावा करते हैं (वैदिक और अभिधर्मवादी दोनों ऐसा दावा करते हैं) बीमार हैं और रोग को दूसरों में भी फैलाते हैं।[१६] इस बीमारी का इलाज यही है कि इस बीमारी (तत्त्वमीमांसीय पूर्णता का दावा) का खोखलापन दिखाया जाये। माध्यमिककारिका में नागार्जुन अपने चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय से तमाम तत्त्व-मीमांसीय कथनों में रिक्तियाँ दिखाते हैं। कर्ता, कर्म का तर्क रोजमर्रा के जीवन को चलाने के लिये ठीक है, किन्तु तत्त्वमीमांसा के लिये अपर्याप्त है। 'अ' का अस्तित्व है यह कहना इस विश्वास को पैदा करता है कि 'अ' वाकई अस्तित्ववान् है।[१७]

नागार्जुन तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं (कारणता, गति, काल, निर्वाण आदि) का विश्लेषण करते हुये दिखाते हैं कि स्वरूपतः द्वन्द्वात्मक और तर्कतः सापेक्ष हैं और किसी सद्वस्तु के अनुरूप नहीं हैं। किन्तु साथ ही वह भाषा के परे की अवधारणा को भी सम्भव मानते हैं। माध्यमिक कारिका में प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रपंच्चोपशम एवं शिव कहते हुये आठ विशेषणों से उसकी अतर्क्यता एवं अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की है। प्रतीत्यसमुत्पाद को भाषा और विचार की कोटियों से अतीत रूप में देखते हुये बताया कि जो उत्पाद और निरोध से रहित है उसके बारे में भाषा की प्रवृत्ति संभव नहीं है। आगे आत्मपरीक्षा में तत्त्व का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि यह दूसरे के द्वारा बतलाया नहीं जा सकता, प्रपञ्चों से प्रपञ्चि नहीं होता। नागार्जुन मानते हैं कि भाषा के अन्दर कुछ भी नहीं है (डेरिडा इसके विपरीत भाषा के बाहर कुछ भी नहीं मानते) यानी की जगत् की अर्थवत्ता यदि कहीं है तो भाषा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्दर नहीं अपितु उसके परे जाने पर है (परमार्थो हि आर्यानां तुष्णीभाव)। नागार्जुन किसी अवधारणा को खंडित करने के लिये बाहर से तर्क नहीं लाते, उसी अवधारणा (दृष्टि) में अन्तर्विरोध दिखाते हैं किन्तु भाषा के परे के अनुभव को स्वीकारने (प्रत्यात्मवेद्य शून्यता) के कारण वह स्वयं तत्त्वमीमांसा के रहस्यवाद में फँस जाते हैं और उनकी शून्यता विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हो जाती है। उन विप्रतिप्रत्तियों का समाधान प्रो. ए. के. चटर्जी ने "फैसिट्स बुद्धिस्ट थॉट" में अधिभाषीय अभिगम (मेटालैंग्वेज) के द्वारा किया है। इन बिन्दु पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि भाषा पद-वाक्यों का एक ऐसा समुच्चय है जिसका सिर्फ एक ही स्तर नहीं होता बल्कि वह एक से अधिक स्तरों पर कार्य करती है। सर्वप्रथम भाषा किसी विषयवस्तु को (माध्यमिक दर्शन में यह विषय वस्तु विकल्पमात्र है) अभिधेय बनाती है तथा दूसरे स्तर पर भाषा का एक ऐसा आयाम भी है जहाँ वह अभिभाषा के रूप में कार्य करते हुये स्वयं भाषा की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। प्रो. ए. के. चटर्जी, जो माध्यमिक दर्शन को समझने के लिये उपर्युक्त अभिगम को आवश्यक मानते हैं, का कहना है कि माध्यमिक दर्शन के प्रति सभी भ्रांतियों का कारण भाषा के इस प्रकार्य को न समझने में छिपा हुआ हैं। नागार्जुन विग्रहव्यावर्तनी की प्रारंभिक कारिकाओं में स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं और फिर उसका समाधान भी देते हैं-

कारिका १) यदि सारे भाव पदार्थ सर्वत्र स्वभाव से रहित हो तब तुम्हारा कथन भी स्वभाव रहित के कारण स्वभाव का निराकारण करने में सक्षम नहीं होगा।

कारिका २) यदि यह वाक्य स्वभाव हो तब तुम्हारी पहली प्रतिज्ञा खण्डित हो जायेगी।

तत्पश्चात् दोष निराकरण करते हुये कहते हैं कि-

कारिका २१) जब हमारा कथन हेतुओं और सापेक्षता का समग्रता में नहीं है और अलग में भी नहीं है तब शून्यता सिद्ध हो जाती है।

कारिका २३) माया से बनाया गया कृत्रिम व्यक्ति अपनी ही माया से बनाये गये कृत्रिम व्यक्ति का जैसे निषेध करता है, यह निषेध वैसा ही है।

कारिका २४) यदि स्वभावरहित वस्तुओं का स्वभावरहित माध्यम से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निषेध किया जाता है तब स्वभावरहित वस्तु का निषेध हो जाने पर स्वभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुतः नागार्जुन का कहना है कि वस्तुएँ भी शून्य हैं और शून्यता का प्रतिपादन करने वाला वचन भी शून्य है, इससे वस्तुएँ अशून्य नहीं हो जाती हैं। जादूगर द्वारा निर्मित माया पुरुषों में यदि एक दूसरे का निषेध करने लगे तो उससे कोई भी अप्रतिषिद्ध नहीं होता। दोनों अन्ततः शून्य ही ठहरते हैं । जब दोनों शून्य हैं तो एक के शून्य होने से दूसरा अशून्य नहीं हो सकता।

इसी समस्या पर अब यदि हम अधिभाषीय अभिगम से विचार करें तो समस्या पर और प्रकाश पडेगा-

प्रत्येक प्रकथन किसी वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में होता है। जब हम किसी वस्तु के बारे में प्रकथन करते हैं तो हम उस वस्तु के अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ की सृष्टि करते हैं अर्थात् प्रकथन। प्रकथन वस्तुओं के विषय में होते हैं किन्तु किसी अन्य प्रकथन के विषय में भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कुर्सी के विषय में हमारा प्रकथन है "कुर्सी में चार पाये होते हैं" साथ ही दूसरा प्रकथन है "कुर्सी शब्द में दो अक्षर हैं।" यहाँ प्रथम प्रकथन 'कुर्सी' को विषय बनाता है तो दूसरा प्रकथन 'कुर्सी विषयक प्रकथन' को। किन्तु उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में प्रकथन, प्रकथ्य से भिन्न होता है। 'कुर्सी विषयक' प्रकथन को हम प्रथम कोटिक प्रकथन (First order proposition) और 'कुर्सी विषयक प्रकथन सम्बधी' प्रकथन को द्वितीय कोटिक प्रकथन (Second order proposition) कह सकते हैं। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पंचम कोटिक प्रकथन बन सकते हैं और यह सभी अपने प्रकथ्य से भिन्न होंगे। द्वितीय कोटिक से लेकर अनन्त कोटिक तक के सभी प्रकथन अधिभाषा (Meta-language) के प्रथकन हैं। प्रतिपक्षी नागार्जुन के 'सर्वं शून्यम्' पर आक्षेप लगाते हुये कहता है कि यदि सभी कुछ शून्य है तो माध्यमिक का वचन भी सब कुछ के अर्न्तगत आने से शून्य होगा और फिर जो स्वयं शून्य है वह दूसरे की शून्यता का निर्धारणा कैसे कर सकता है। किन्तु भाषा के विभिन्न प्रकार्यों में स्पष्ट है कि माध्यमिक का प्रकथन (सर्वं शून्यम्) अपने विषय से भिन्न ही रहेगा। उस विषय की परिधि चाहे जितनी व्यापक हो उक्त प्रकथन को नहीं घेर सकती और इस प्रकार वह प्रकथन अन्ततः शून्य तो होगा किन्तु विषय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को शून्य करने के पश्चात् ही। अतः नागार्जुन का वचन अन्तर्विरोधग्रस्त नहीं है।

९५-विवेकानंद छात्रावास
डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.) ४७०००३

शत्रुघ्न चतुर्वेदी

टिप्पणियाँ

१. टी.आर.वी. मूर्ति, द सेन्ट्रल फिलॉसफी आफ बुद्धिज्म, पृ. १२३
२. यशदेव शल्य, मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी, पृ. १०
३. शून्यवादिपक्षस्तु सर्व प्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम ब्रह्मसूत्रशंकरभाष्य, २-२-३१
४. गोविन्द चन्द्र, पाण्डेय, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ३७९
५. डेविड लॉय, द क्लोजर ऑफ डिकंस्ट्रक्शनः ए महायान क्रिटिक आफ डेरिडा, इंटरनेशनल फिलॉसफिकल क्वार्टरली, XXVII नं. १ मार्च १९८७, पृ. ५९
६. टी.आर.वी. मूर्ति, द सेन्ट्रल फिलॉसफी आफ बुद्धिज्म, पृ. १२८
७. मध्यमकशास्त्र, २४/२२,२४/३८
८. विग्रहव्यावर्तनी, कारिका २९
९. रामचन्द्र पाण्डेय, निःस्वभावता का दर्शन, पृ. २२-२३
१०. मध्यमकशास्त्र, १/१२
११. मध्यमकशास्त्र, २४/८,९
१२. मध्यमकशास्त्र, २४/८
१३. शून्यतासप्तति, कारिका -२
१४. विग्रहव्यावर्तनी, कारिका - ६४
१५. रामचन्द्र पाण्डेय, निःस्वभावता का दर्शन, पृ. २१
१६. जेफरी आर. टिम. प्रोलीगोमेना टू वल्लभ थ्योरी आफ रिवेलेशन, फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट ३८, नं. २ (१९८८) : १०९
१७. वही, पृ. १०९

प्रस्तुत आलेख को तैयार करते वक्त डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा जी ने कुछ आवश्यक सुझाव दिये, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिचर्चा में

- १ -

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३, अंक १, जन.-फरवरी २००२, पृ. ४१-५३, में प्रकाशित डा. सुरेन्द्र सिंह नेगी का 'भारतीय दार्शनिक चिंतन में तर्क की अवधारणा' विषयक लेख हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में ४-७ नवम्बर को आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद के ४६वें वार्षिक अधिवेशन की स्मारिका में पृष्ठ १३-१६ में पूर्व में भी प्रकाशित है और इसका संपादन स्वयं डा. नेगी ने किया है।

उक्त लेख का शीर्षक 'तर्क की अवधारणा' है। इसे पढने के क्रम में ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक विभिन्न निकायों में तर्क के प्रयोगस्थलों को रेखांकित करने के पश्चात् अवधारणात्मक समीक्षा प्रस्तुत करेगा, किन्तु लेख में ऐसा नहीं हुआ है। 'दार्शनिक चिंतन में तर्क भी अवधारणा' और 'तर्क शब्द के प्रयोगस्थलों की प्रस्तुति' दोनों के सर्वथा अलग-अलग विषय होने से यह लेख अपने शीर्षक से अपेक्षित लक्ष्य से भटक गया है।

तर्क शब्द के प्रयोगस्थलों को दशनि में लेखक ने मूल ग्रन्थों का आश्रय लिया है किन्तु किसी भी निकाय के मूलग्रन्थों के सभी प्रासंगिक स्थलों की न तो प्रस्तुति हो सकी है और न ही उद्धृत स्थलों में तर्क शब्द के प्रयोग का सांगोपांग निरूपण हो सका है, किन्तु यह लेखक के स्तर से अपेक्षित है।

भारतीय शास्त्रों में तर्क के प्रमाणपक्ष तथा दूषित पक्ष की अलग-अलग पहचान कराने में भी लेख प्रवृत नहीं है। यहाँ मैं विस्तारभय से वेदान्त एवं व्याकरण निकाय में तर्क सम्बन्धी लेखक के निरीक्षणों एवं निष्कर्षों तक ही अपनी परिचर्चा सीमित करता हूँ।

वेदान्त में तर्क पर अपनी समझ को आरोपित करते हुए लेखक ने लिखा है 'शांकर भाष्य में तर्क का ग्रहण अनुमानार्थक रूप में हुआ है (पृ. ४६)। किन्तु अगली पंक्ति में ही उन्होंने तर्क को कल्पनामात्र पर स्थिति एवं अप्रतिष्ठित कहा है। नीचे की पंक्तियों में उन्होंने स्पष्ट रूप से इसे उत्प्रेक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्धि कहा है जिससे स्पष्ट है कि वेदान्त में तर्क सम्बन्धी लेखक का निष्कर्ष उनकी व्याख्या से सर्वथा अलग है और तर्क को अनुमानार्थक सिद्ध करने में विफल है। लेखक ने ब्रह्मसूत्र २-१-११ का उल्लेख किया है किन्तु उसके भाष्य के तर्क सम्बन्धी इस परिभाषा की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया है जिसके अनुसार आगम से शून्य तर्क निरा संभावनात्मक बुद्धि या उत्प्रेक्षामात्र है (निरागमापुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबंधनास्तर्काः)। भामतीकार ने इसे शुष्कतर्क कहा है। यदि लेखक ने 'अनिबन्धित' एवं 'उत्प्रेक्षाबुद्धि' इन पदों पर ध्यान दिया होता तो तर्क से अनिबन्धित तर्क ही नहीं बल्कि अनुमान से भिन्न तर्क की अवधारणा भी उभरकर सामने आ जाती। उक्त पदों में परिभाषित तर्क अनुमानार्थ कैसे हो सकता है ? अनिबन्धित एवं उत्प्रेक्षामात्र पदों से तर्क को परिभाषित करने का प्रयास आचार्य शंकर से पूर्व ५वीं शताब्दी के दार्शनिक भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में किया है।

'शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।

शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥' की वृत्ति में उन्होंने अर्थ, प्रकरण, लिंग, वाक्य आदि, जो शब्द की शक्ति है, को पुरुषाश्रय में या बुद्धि का सामर्थ्यमात्र मान लेने को तर्क कहा है और शब्द शक्ति के रूप परिग्रह से शून्य मात्र साधर्म्य, वैधर्म्य पर आधारित, आगम के उपधातक अतएव अनिबन्धित न्याय को शुष्क तर्क माना है। वाक्यपदीय १.३० की टीका में शुष्क तर्क को साधर्म्य, वैधर्म्य निरूपण में अनवस्थित अर्थात् अनवस्था, उपपाद्य-उपपादक की अविश्रान्तिरूप दोषयुक्त होना बताया है।

उन्होंने 'यः परिकल्पनामाभासेऽप्यनवस्थितः। तर्कागमानुमानेनबहुधा परिकल्पितः', इस वाक्यपदीय १.१ की टीका में तर्क, आगम और अनुमान को पृथक् माना है। इस वृत्ति की व्याख्या में श्री वृषभ ने आचार्य शंकर की तरह लिंग या हेतु के बिना स्वयं उत्प्रेक्षा विषयक बुद्धि को तर्क (शुष्क तर्क) कहा है तथा इससे भिन्न दूसरों के लिये सलिंग या सहेतुक विषय प्रतिपादन के साधन को अनुमान कहा गया है (लिंगमंतरेण स्वयमुत्प्रेक्षाप्रतिमानं तर्कः। परतः श्रवणमागमः। पर प्रतिपत्तिसाधनं लिंगतोऽनुमानम्)।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्षित होता है कि तर्क अनिबन्धित और निबन्धित दो प्रकार का है। अनिबन्धित तर्क उत्प्रेक्षाबुद्धि, अतएव शुष्क तर्क है। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा प्रमाणबाधित रूप से यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाँच प्रकार का होता है। इसके पाँचों प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिंतन में दोषरूप माने गए हैं। दोषरूप माने जानेवाले इन शुष्क तर्कों के बारे में प्रो. दयाकृष्ण ने अपने एक अप्रकाशित निबंध 'Sign, Sense and Reference : Reflections on Problem in the Philosophy of Language' में विशेषकर अनवस्था और चक्रक को दोष मानने पर प्रश्न खडा किया है। उन्होंने न्यायशास्त्र में तर्क के खुलापन (openness) और निगमन की संभावना के लिये इन्हें दोष न मानने की नयी उद्‌भावना दी है (देखें वही पृ. १२-१३)।

निबंधित तर्क वेद या ज्ञान की मीमांसा (interpretation) एवं उसके अनिवार्य साधन के रूप में समादृत हुआ है -तर्को वेदार्थ मीमांसा एवं विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः । वाक्यपदीय १-३० पर भर्तृहरि की वृत्ति तर्क की प्रमाणरूप से प्रतिष्ठा की पक्षधर है। 'तर्क निबंधित होता है' इसका शास्त्रीय आशय यह है कि तर्क में आगम का बल होने पर वह दार्शनिक चिंतन का अपरिहार्य कारक होता है अन्यथा चिंतन की व्यवस्थित प्रस्तुति संभव नहीं है। आगमानुसारी तर्क व्यवहारं पर आधारित होने से उत्प्रेक्षा/कल्पनामात्र भी नहीं है और यह प्रमाण के रूप में कार्य करता है। यह कहना शास्त्रसंगत है कि प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों को भी तर्क के बिना न्याय रूप में उपस्थित करना संभव नहीं है। तर्क आगमादि प्रमाण से बाधित नहीं है और आगमादि प्रमाण भी तर्क से बाधित नहीं होते बल्कि दोनों मिलकर शास्त्रानुशासन की प्रक्रिया को व्यवस्थित तन्त्र का रूप देते हैं। भर्तृहरी तो यहाँ तक कहते हैं कि समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है एवं तर्क की सामर्थ्य शब्दसामर्थ्य है, सामान्य लोग इसे श्रोता पर आरोपित करते हैं 'शब्दाश्रितमेव सामर्थ्यपुरुषाश्रयोऽयं तर्क इति मन्यते।' वा. प. १.१३७। इस तरह तर्क भी प्रमाण है यदि वह अनिबन्धित, दूषित या शुष्क तर्क न हो।

यदि तर्क को वेदान्त और व्याकरण में अनुमानार्थक माना जाय जैसा कि डा. नेगी ने लिखा है तो इसकी अनुमान से पृथक् अवधारणा कैसे की जा सकेगी ? इसकी अलग पहचान कराने के सारे प्रयास निरर्थक होंगे। इससे किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ? अनुमान को तर्क से भिन्न माना गया है और अनुमित ज्ञान की प्रामाणिकता दोनों को स्वीकार्य है किन्तु तर्क से यह पृथक् है। अनुमान केवल लिंगलिंगीपरामर्श या व्याप्तिव्याप्यसाहचर्यपूर्वक प्रमाण या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सहेतुक विषय प्रतिपादन का साधन है। शुष्क तर्क उत्प्रेक्षा अतएव सम्भावनात्मक बुद्धि (conjecture) मात्र है जबकि निबन्धित तर्क ज्ञान की मीमांसा (interpretation) एवं उसमें प्रयुक्त समस्त प्रमाणों में भी अनुस्यूत न्याय है और इस तरह उन प्रमाणों में भी समाविष्ट है क्योंकि समस्त अर्थ तर्क द्वारा अनुसंधत्त होने पर ही दार्शनिक तन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

निष्कर्षतः वेदान्त और व्याकरण में तर्क को अनुमानार्थक या शुष्क तर्क का पर्यायमात्र समझना शास्त्रानुशासन के विरुद्ध है।

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्रविभाग, डा. देवेन्द्र नाथ तिवारी
ल. ना. मि. विश्वविद्यालय,
दरभंगा, ८४६००४

- २ -

परामर्श खण्ड २२, अंक ४ में डॉ. सुस्मिता भट्टाचार्य का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक है 'निरुपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार।'' मुझे लगता है कि इस लेख में कुछ त्रुटियाँ हैं। लेखिका ने A, E, I और O निरुपाधिक तर्कवाक्यों की जार्ज बूले द्वारा की गयी व्याख्या को चुनौती देते हुए कहा है कि न केवल I और O तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य होता है, बल्कि A और E तर्कवाक्यों के भी उद्देश्य वर्ग सदस्य-शून्य नहीं होते। किंतु लेखिका ने A और E में सत्तात्मक तात्पर्य किस आधार पर स्वीकार किया है, इसकी कोई चर्चा इस लेख में नहीं की है। उन्होंने केवल इतना बताया है कि ''यह तो पूर्व स्वीकृत है कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (संपूर्णतः या अंशतः) सत्तावान हैं अन्यथा उनका विधेय वर्ग के साथ संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता।'' सर्व प्रथम तो लेखिका के इस कथन का आशय यह निकलता है कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (कितने सदस्य - सभी या कुछ अथवा कम से कम एक ?) या तो संपूर्णतः सत्तावान हैं या अंशतः। अब मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि संपूर्णतः सत्तावान होने और अंशतः सत्तावान होने में क्या अंतर है। इस बात को यदि हम नजरअंदाज कर दें तो भी A और E तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य मानने के संदर्भ में यह समस्या उठती ही है इन दोनों तर्कवाक्यों के उद्देश्य वर्ग में आने वाले समस्त सदस्यों (इसमें भूत, वर्तमान तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भविष्यकालीन, वास्तविक तथा संभावित सभी सदस्य शामिल हैं) की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी क्योंकि ये दोनों तर्कवाक्य सर्वव्यापी हैं, लेकिन ऐसा संभव नहीं है। क्या भविष्यकालीन संभावित सदस्यों की सत्ता आज मानी जा सकती है ? ऐसे ही भूतकालीन सदस्य जो सत्तारहित हो चुके हैं, आज तर्कवाक्य की प्रस्तुति के समय सत्तायुक्त माने जा सकते हैं ? तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे तर्कवाक्यों में हम केवल कुछ वर्तमानकालीन सदस्यों की सत्ता का दावा कर सकते हैं। पर तब तो ये तर्कवाक्य सर्वव्यापी नहीं हो सकेंगे। जार्ज बूले ने इन तर्कवाक्यों की व्याख्या इस प्रकार की थी की यदि कभी, कहीं इनके उद्देश्य वर्ग में कोई सदस्य है, या होगा या रहा होगा तो वह विधेय वर्ग का सदस्य भी अवश्य होगा (A) या विधेय वर्ग का सदस्य नहीं हो सकेगा (E) और इस सोपाधिक व्याख्या में उद्देश्य वर्ग में किसी सदस्य की सत्ता की स्वीकृति कदापि नहीं है। बूले ने A और E तर्कवाक्यों की इस सोपाधिक व्याख्या के पीछे कई आधार बताये थे। लेकिन लेखिका ने उनमें से किसी का भी समुचित खण्डन किये बिना, बिल्कुल निराधार और मनमाने ढंग से इन तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य मान लिया है।

लेखिका ने A और E में सत्तात्मक तात्पर्य की स्वीकृति के साथ यह भी कहा है कि यह स्वीकृति इस आधार पर संभव नहीं है कि यदि I और O सत्ता का कथन करते हैं तो उनके उपाश्रय क्रमशः A और E भी सत्ता का कथन करेंगे, क्योंकि "उपाश्रयण संबंध में उपाश्रय (A, E) उपाश्रित (I, O) को अपने में अंतर्भूत किये रहता है परंतु इसका विलोम संदिग्ध या अनिश्चित (Contingent) होता है।" दूसरे शब्दों में, लेखिका का मानना है कि I और O में किसी सत्ता को मानने के आधार पर A ओर E में सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि I और O की सत्यता के बल पर A और E की सत्यता के बल पर A और E की सत्यता (या असत्यता) निश्चित रूप से स्थापित नहीं हो पाती। यहाँ मुझे लगता है कि लेखिका सत्यता के संबंध को सत्ता के संबंध से भ्रमित कर रही हैं। यह सही प्रतीत होता है कि (यदि हम परंपरागत उपाश्रयण संबंध को स्वीकार कर लें) अंशव्यापी तर्कवाक्य के सत्य होने पर तदनुकूल समान गुण वाला जो सर्वव्यापी तर्कवाक्य होगा, उसकी सत्यता या असत्यता के विषय में हमें निश्चित होने का कोई तार्किक अधिकार नहीं मिलता। लेकिन इसी परंपरागत संबंध की स्वीकृति के बल पर हमें यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानना ही होगा कि यदि अंशव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग में कम से कम एक सदस्य है तो वह एक सदस्य सर्वव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग का भी सदस्य होगा। यदि किसी मकान के किसी एक कमरे में कुछ लोग हैं तो यह कहना कदापि असंगत नहीं होगा कि पूरे मकान में लोग हैं (यदि कमरे व मकान के बीच अंश व संपूर्ण का संबंध माना गया है तो)।

पृष्ठ २३ पर लेखिका ने लिखा है कि "यदि मंगल ग्रह निर्जन है तो उपरोक्त चारों निरुपाधिक तर्कवाक्यों द्वारा द्योतित उद्देश्य वर्ग (मंगल ग्रह के निवासी) असत्य कथन करने के कारण असत्य है।" मेरे विचार से उद्देश्य वर्ग का उल्लेख करना कोई कथन करना नहीं है और साथ ही, कोई वर्ग सत्य या असत्य नहीं हो सकता क्योंकि सत्यता या असत्यता तर्कवाक्यों या कथनों का गुण है, उस तर्कवाक्य में प्रयुक्त किसी वर्ग का नहीं।

अब में लेख की सर्वाधिक गंभीर त्रुटि की ओर आती हूँ। चारों तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य स्वीकार करने के कारण लेखिका ने 'सत्तात्मक तात्पर्य तर्कदोष' (Fallacy of Existential Import) का खण्ड किया है। उत्साही लेखिका ने कुछ ऐसे आकारिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनमें उन्होंने वह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि दो सर्वव्यापी आधारवाक्यों के बल पर अंशव्यापी निष्कर्ष वैध रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने ऐसे चार युक्ति-आकारों की जाँच की है जिनमें दोनों आधारवाक्य सर्वव्यापी व निष्कर्ष अंशव्यापी है। मुझे अत्यंत खेद के साथ यह कहना पड रहा है कि लेखिका के द्वारा निर्मित सभी आकारिक प्रमाण त्रुटिपूर्ण हैं। पहले आकारिक प्रमाण में प्रसंगानुमान विधि (Method of Reductio ad absurdum) द्वारा AAA-3 की वैधता को बताने का प्रयास किया गया है। इसमें सातवीं पंक्ति में Rx का assuption करने के बाद पंद्रहवीं पंक्ति के पूर्व उसका scope बंद कर दिया गया है। उसके बाद सत्रहवीं पंक्ति में उसी Rx का प्रयोग आगे निगमन के लिये कर लिया गया है जो कि नियमतः अनुचित है। वस्तुतः लेखिका द्वारा निर्मित सभी आकारिक प्रमाणों में यही गलती की गयी है कि जिस कथन का assumption किया गया है उसको निगमन के लिये तब भी उपयोग में लाया गया है जबकि उस assumption की सीमा के बाहर निकला जा चुका है। युक्ति आकार AAA-3 के सोपाधिक प्रमाण (conditional proof) में पंक्ति 14, EAO-3 के प्रमाण में पंक्ति 15,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

EAO-3 की वैधता सिद्ध करने के लिये निर्मित एक अन्य प्रमाण में पंक्ति 18, RAO-4 के प्रमाण में पंक्ति 12 तथा AAI - 4 के प्रमाण में पंक्ति 12 में यही तार्किक त्रुटि है।

मैं लेखिका का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहूँगी कि उन्होंने विभिन्न आकारिक प्रमाण बनाते समय सर्वव्यापी तर्कवाक्यों को बूलीय व्याख्या के अनुरूप ही प्रतीकात्मक भाषा में सोपाधिक ढंग से रखा है, यानी यह मान लिया है उनमें सत्तात्मक तात्पर्य होता ही नहीं जबकि I और O तर्कवाक्यों में होता है। अब इस ढंग का प्रतीकीकरण करने पर सर्वव्यापी आधार वाक्यों व अंशव्यापी निष्कर्ष से युक्त युक्ति के विषय में यह आशा ही नहीं की जा सकती कि उसे आकारिक रूप से वैध प्रमाणित किया जा सकेगा। लेखिका जिस दृष्टिकोण का प्रस्तुत करना चाहती हैं यानी सर्वव्यापी तर्कवाक्यों में भी सत्तात्मक तात्पर्य मानना चाहती है उसकी दृष्टि से A और E तर्कवाक्यों का प्रतीकीकरण क्रमशः इस प्रकार होना चाहिये -

$$A = (x)\ (\phi\ x \subset \psi\ x).\ (\exists\ x)\ \phi x$$

$$E = (x)\ (\phi\ x \subset \sim \psi\ x).\ (\exists\ x)\ \phi x$$

डा. नीलिमा मिश्रा

२, नेवाड़ा कॉलनी,
नयन मार्ग, अलाहाबाद - २११ ००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंकों के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)   खण्ड २३ अंक ३   जू.-जु.-अ.२००२

		संपादकीय	१
नवीन दीक्षित	:	भौतिक विद्या तथा अध्यात्मविद्या का समन्वय	३
राजमल बोरा	:	लेश्या और रंग	९
डा. अम्बिका दत्त शर्मा	:	वाद एवं अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास निरास	१९
डा. मंगलराम बिश्नोइ	:	प्राण की यज्ञरूपता	२९
डा. बी. कामेश्वर राव	:	इक्कीसवीं शताब्दि का भारतीय चिन्तन : संभावना एवं अपेक्षा	३७
चंद्रशेखर व्यास	:	नीतिशास्त्र, व्यापार-नीतिशास्त्र और बैंकिंग-नीतिशास्त्र	५१
सुश्री मीनू नन्दा	:	निर्वचनशास्त्र पारिभाषांकन और स्वरूप-निरूपण	६१
डा. शैल कुमारी	:	स्वधर्म पालन : अत्याधुनिक समय की माँग	६९
शत्रुघ्न चतुर्वेदी	:	नागार्जुन का भाषादर्शन	८१
डा. देवेन्द्र नाथ तिवारी	:	परिचर्चा में	८९
नीलिमा मिश्रा	:	परिचर्चा में	९२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २३, अंक ४
सितम्बर - अक्तुबर - नवम्बर २००२
भारतीय सौर भाद्रपद -अश्विन-कार्तिक शके १९२४

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलाहकार संपादक मण्डल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २०००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८०/-
एक प्रति का मूल्य		२५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

खुद के अस्तित्व को सम्मानपूर्वक बचाए रखने के लिए, खुद की पहचान बनायी रखने के लिए जरूरी है आत्मसम्मान। आत्म-सम्मान की बात मनुष्यजाति के लिए नई चीज नहीं है। फिर भी इस बात की याद दिलाने की बारी हमेशा आती रहती है, इस में मानव चरित की बारी हमेशा आती रहती है, इसमें मानव चरित की कमजोरियों के पहलू छिपे हुए हैं। आत्मसम्मान का रूप दोगला हुआ करता है। व्यक्ति में आत्मविश्वास होना तथा अपने को प्रस्थापित करने की सामर्थ्य होना जरूरी है। इस के लिए आत्मबल चाहिए। आत्मबल का उन्मेष अपने आप तथा अंदर से ही हुआ करता है। आत्मबल निर्भर करता है मनुष्य की आंतरिक क्षमताओं पर, न कि उस की शारीरिक क्षमताओं पर। आत्मबल स्वयंप्रकाश होता है, उसे छिपाया नहीं जा सकता। अगर मनुष्य में आत्मबल है तो वह फूट कर प्रकट होता है, निखरता है। चिंतन एवं चारित्र्य के आधार से यह आत्मबल पैदा होता है। आत्मबल का एक अन्य पहलू है अपनी पहचान। अपनी पहचान जितनी गहरी होगी उतना ही आत्मबल पक्का होगा और आत्मबल जितना भक्कम होगा उतनी ही अपनी पहचान गहरी होगी। अपने को जानने से अपनी पहचान बनती जाती है। अपने को जानने की प्रक्रिया मात्र अपने को देखने का तटस्थ व्यवहार नहीं बल्कि अपने स्वरूप की परिष्कृति की सजग प्रक्रिया होती है। यह आत्मचेतना की संतत धारा है। इस से आत्मविकास की प्रक्रिया भी बनती रहती है। आत्मविकास की प्रक्रिया के दो बिंदु हैं - एक बिंदु है अपने को धरातल पर निश्चित करने का और दूसरा बिंदु है अपने को अंतराल में देखने का। इन दो बिंदुओं के बीच जो यात्रा होती है वह मनुष्य का अंतर्जीवन होता है। इस यात्रा के कुछ रहस्यमय मोड भी होते हैं, जो चर्चा के नहीं बल्कि अनुभूति के विषय होते हैं। उन में खुद की पहचान की वह मिति होती है जो आत्म को अनंत तक पहुँचाने के प्रयास में होती है।

आत्मसम्मान एवं खुद की पहचान का बाहरी रूप है समाज से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वीकृति पाना। समाज उसी बात को स्वीकृति देता है जो बात उसे के मानदण्डों के मुताबिक होती है। वाकई यह देखने को मिलता है कि व्यष्टि और समष्टि में ठीक तरह से मेल नहीं होता है, उन में विरोध एवं संघर्ष ही ज्यादा हुआ करता है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि व्यक्ति कितना भी स्वतंत्र क्यों न हो, वह समाज का ही एक अंश होता है। समाज के वातावरण के कण उस के खून को रंग देनेवाले कण होते हैं। समाज से संघर्ष हो सकता है लेकिन विरोध नहीं। संघर्ष में आस्था एवं आदान-प्रदान का व्यवहार होता है। विरोध में पूर्ण नकारा जाता है। पेड से नकारी गई डाली पेड से टूट जाती है, उसे जीवनरस पाने का कोई चारा नहीं होता है। समाज के मूल्य ही व्यक्ति को बनाते हैं और उस की पहचान होते हैं। समाज से नाता होना व्यक्ति को न केवल अपनी पहचान दिलाता है बल्कि उसे ऐसी सामर्थ्य देता है जो व्यक्ति के अस्तित्व को बनाए रखती है। वास्तव में समाज बनता है व्यक्तियों से ही। व्यक्ति के मूल्यों के योगदान से समाज की संस्कृति उभरती है। यह योगदान व्यक्ति का होना जरूर है लेकिन व्यक्ति की वैयक्तिक भूमिका से नहीं, बल्कि व्यक्ति की सामाजिक भूमिका से वह योगदान होता है। व्यक्ति जब अपनी सामाजिक भूमिका के तहत समाज से व्यवहार करता है तब उस में संघर्ष या विरोध नहीं रहता है। व्यक्ति जब सामाजिक भूमिका लेकर ऐसे अनेक व्यक्तियों से मिलजुलकर अपने को तथा अन्यों को स्वीकृति देता है तभी व्यक्ति की सामाजिक पहचान बनती है। जब समाज के अत्यधिक व्यक्तियों की दृष्टि सामाजिक होती है, जब व्यक्ति के निकटतम संबंधियों की दृष्टि सामाजिक होती है, तभी व्यक्ति का जीवन व्यर्थ संघर्षों से मुक्त रहता है। जो व्यक्ति अपने को कमजोर महसूस करता है वह सामाजिकता की दृष्टि अपनाने में सफल नहीं बनता। अत: आत्मबल से प्राप्त आत्मसम्मान जिन व्यक्तियों में है ऐसे व्यक्तियों से बना समाज व्यक्ति को आत्मसम्मान और खुद की पहचान दिला सकता है।

आज हमारी समस्या विश्व को धरातल पर आत्मसम्मान पाने की एवं खुद की पहचान बनाने की है। इस दृष्टि से प्रस्तुत विचार अवश्य ही कुछ दिशा-दर्शक साबित हो सकेंगे।

- सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शांकर वेदान्त में ईश्वर की अवधारणा

ईश्वर सम्प्रत्यय की व्याख्या करने से पूर्व यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि एकमात्र अद्वितीय, अनुपम, निर्गुण, निराकरण निर्विकार, निरुपाधिक, निर्विशेष, विशुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) की ही सत्ता स्वीकार करने पर भी सगुण, साकार, सोपाधिक, सविशेष चैतन्य (ईश्वर) के सम्प्रत्यय की आवश्यकता आचार्य शंकर को क्यों पड़ी ?

शांकरभाष्यों की गहन समीक्षा के बाद इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि शंकर परमार्थतः एकमात्र विशुद्ध चैतन्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, और उससे व्यतिरिक्त किसी भी तत्त्व की सम्भावना मात्र का भी निराकरण करते हैं, किन्तु शंकर के इस सैद्धान्तिक व्युत्पत्ति के अनुरूप कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जो दिखाई पडता है, कुछ और ही है। मुझे कुछ और ही दिखाई पडता है, अर्थात् मैं द्रष्टा हूँ। पुनः प्रश्न उठता है कि इस अन्यथा-प्रतीति का कारण क्या है ? शंकर इसका कारण अज्ञान को मानते हैं। जो अज्ञान से मुक्त है वह ब्रह्म है और जो अज्ञान में है वह जीव है। इस प्रकार दो तत्त्व जीव एवं ब्रह्म की प्राप्ति होती है, फिर तीसरे तत्त्व ईश्वर की क्या आवश्यकता है ? पुनः ईश्वर के लिये कोई अधिष्ठान भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जीव एवं ब्रह्म के मध्य ईश्वर नाम की यह शृंखला आती कहाँ से है ? सन्देह होता है कि कहीं शंकर ने ईश्वर सम्प्रत्यय को बलात् तो नहीं उपस्थित कर दिया है ?

उपर्युक्त कथन को कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकर ने सूक्ष्म तार्किक दृष्टि के आधार पर स्वयं यह प्रश्न किया है कि जीव को ब्रह्म की तरफ ले जाना और उसके जीवत्व का बोध कराने वाला कौन है ? जो जीव अपने ब्रह्मत्व को विस्मृत कर बैठा है, उसे आत्मानुभूति कौन करायेगा ? अज्ञान में निमग्न होने से जीव यह कार्य स्वयं नहीं कर सकता, क्योंकि अज्ञानी को अपने अज्ञान का भी पता नहीं रहता, वही व्यक्ति अपने को अन्धकार में कह सकता है जिसे प्रकाश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का भी ज्ञान हो, जो विशुद्ध अन्धकार में ही डूबा हो वह प्रकाश का स्वरूप नहीं बता सकता, जैसे सोया हुआ व्यक्ति नहीं जानता कि वह सो रहा है, उसी प्रकार अज्ञानस्वरूप जीव को अपने ज्ञानात्मक स्वरूप का बोध नहीं है। जीव अपना बोध स्वयं करा भी नहीं सकता क्योंकि वह विशुद्ध अज्ञान (अन्धकार) में है। बचता है - ब्रह्म, वह भी जीव को अपना बोध नहीं करा सकता, क्योंकि - वह अपने से अलग जीव को नहीं देख रहा है। ब्रह्म जब है तो जीव नहीं, ब्रह्म इतना विशुद्ध है कि उसमें अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं, ब्रह्म के बाहर कुछ है ही नहीं, और ब्रह्म के पास बताने के लिये बुद्धि, माया, या द्वैत है ही नहीं, जो ज्ञान के परम साधन हैं, अतः दोनों के बीच ऐसी कडी होनी चाहिये जो दोनों को जानती हो, फिर मिला दे। अद्वैत वेदान्त में यही काम ईश्वर करता है।

ईश्वर की सत्ता अनिवार्य प्रतीत होती है। जीव तभी अपने अज्ञानस्वरूप से ऊपर उठेगा जब उसे "नेह नानास्ति किञ्चन" व "तत् त्वम् असि" का बोध कोई कराये। जीव को यह बोध कराने वाला शंकर के अनुसार ईश्वर ही है। ईश्वर अज्ञान में नहीं है, वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, किन्तु उसका दूसरा पैर अज्ञान में भी है। अर्थात् वह अज्ञान को समझता है एवं उसे काबू करता है। जीव की तरह पूर्णतया अज्ञान में नहीं रहता। अज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण ही उसका जीव से सम्बन्ध सम्भव हो पाता है। पूर्ण चैतन्य एवं अज्ञान दोनों में ही उसकी स्थिति है। वह दोनों को जानता है, देखता है। यदि वह विशुद्ध व्यवहार (अज्ञान) से ही सम्बद्ध होता या मात्र विशुद्ध परमार्थ से सम्बद्ध होता तो जीव व ब्रह्म के बीच एक तादात्म्य शृंखला का रूप कथमपि न ले पाता किन्तु दोनों के बीच उसकी यह स्थिति उसे एक माध्यम के रूप में उपस्थित करती है। परमार्थ का उपदेश तभी सम्भव है जबकि वक्ता स्वयं परमार्थ में हो, और चूँकि उपदेश व्यवहार में ही सम्भव है, इसलिये वह व्यवहार में भी है। जीवात्मा बिना किसी के बताये नहीं जान सकता। जानने हेतु आचार्य (उपदेष्टा) का होना आवश्यक है। आचार्यवान् पुरुषो वेदः (छा. उप. ६/१४/२) ये कार्य उपनिषद करते हैं। तत्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि-उस पुरुष को जानना चाहता हूँ जो उपनिषदों में व्यक्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। उपनिषदों से हमें व्यक्त पुरुष का ज्ञान होता है। उपनिषदों को कौन बतायेगा ? उपनिषदों को बताने वाला "सगुण ब्रह्म" है जिसे "अहं ब्रह्मास्मि" का ज्ञान हमेशा है। विशुद्ध चैतन्य अपने को "अहं ब्रह्मास्मि" नहीं कह सकता, क्योंकि उसके अन्दर "अहं" है ही नहीं। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है और जिसमें "अहं" है वही ईश्वर हैं। ईश्वर को यह ज्ञान अनादिकाल से है। "अहं ब्रह्मास्मि" का बोध, अज्ञान के सन्दर्भ में ही सम्भव है। अज्ञानोन्मूलन के साथ ही "अहं ब्रह्मास्मि" का प्रश्न भी उन्मूलित हो जाता है। ईश्वर ज्ञानपरिपूर्ण होने पर भी अज्ञान से सम्बद्ध है इसलिये उसे मायोपहित चैतन्य कहा गया है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में आचार्य शंकर ने जो दूसरा तर्क प्रस्तुत किया है वह है - "जन्माद्यस्य यतः"[१] अतः नाम एवं रूप के द्वारा प्रकट हुए अनेक कर्ता एवं भोक्ता से युक्त जिसमें नियत देश एवं नियत काल पर ही जीवात्माओं को उनके कर्म का फल प्राप्त होता है, ऐसे सूक्ष्म एवं क्लिष्ट रचना वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कारण से होता है, उसे ईश्वर कहते हैं। शारीरक भाष्य के आरम्भ में ही ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये आचार्य शंकर ने कहा है कि अनेक कर्ता व भोक्ताओं से संयुक्त, प्रतिनियत देशकाल निमित्त वाले कर्मो व फलों के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचनातत्त्व वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु अचेतनप्रधान (सांख्याभिमता), परमाणु (न्यायवैशेषिक मत), शून्य (बौद्ध), स्वभाव (चार्वाक) अथवा प्रथम जीव (हिरण्यगर्भ) से नहीं हो सकते, और कोई भी कार्य कर्ता बिना नहीं हो सकता अतः इस चराचर जगत् का कर्ता ईश्वर सिद्ध है।[२]

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर जो आदि उपदेष्टा, जगत्कर्ता तथा धार्मिक निष्ठा का मूल स्रोत है उसका स्वरूप क्या है ? तथा ईश्वर के इस स्वरूप से क्या शंकर का अद्वैती चिन्तन खण्डित नहीं हो जाता ? कम से कम ईश्वर व ब्रह्म का द्वैत तो हमारे सामने उपस्थित हो ही जाता है, ईश्वर-ब्रह्म के द्वैत के साथ ही जीव, जगत्, साक्षी, आदि का वैविध्य भी तो हमारे सामने उपस्थित हो ही जाता है। इतने वैविध्यों के बीच अद्वैती चिन्तन की कल्पना बालू की भीत की तरह ढहती प्रतीत होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लगती है। लेकिन यहीं पर शंकर एक कुशल तार्किक की भाँति व्यवहार, परमार्थ और माया के सहारे इस समस्त वैविध्य का एकत्व में समाहार कर देते हैं।

शांकर दर्शन में ब्रह्म एवं ईश्वर शब्दों का विशेष महत्त्व है। शंकर अद्वैतवाद के प्रवर्तक हैं। अतः उनके अनुसार एक ही ब्रह्म संसार का परम तत्त्व एवं परमार्थ सत्य है। ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है तथा शेष दृश्यमान जगत् विवर्त मात्र है। ब्रह्म की व्याख्या में शंकर दो तरह का दृष्टिकोण अपनाते हैं, जिन्हें हम व्यावहारिक व पारमार्थिक दृष्टिकोण के नाम से जानते हैं। परमार्थतः शंकर एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं, जो ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक है, जिसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते हैं। निरूपाधिक, निर्विकल्प, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्म जब अपनी माया की उपाधि से युक्त हो जाता है तो वही सगुण, सोपाधिक, सविशेष एवं सविकल्पक बनकर ईश्वर कहलाता है। यही माया ईश्वर की सृजनात्मिका शक्ति है जो उसके ईश्वरत्व का मूल कारण है। यद्यपि ईश्वर माया की शक्ति से युक्त है पर वह उससे बिल्कुल प्रभावित नहीं होता, उसके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव में कोई बाधा नहीं पडती। ब्रह्म माया से ऐसे ही अस्पृष्ट रहता है जैसे मायावी जादूगर अपनी माया, अर्थात् जादू से विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा लोगों को आश्चर्यचकित भ्रमित करता हुआ भी स्वयं आश्चर्यचकित, भ्रमित नहीं होता। ब्रह्म अपनी मायाशक्ति से जगत् में सुख, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदि का निर्माण करते हुए भी स्वयं इनसे प्रभावित नहीं होता।[३] माया की दो शक्तियाँ हैं, जिन्हें आवरण एवं विक्षेप कहते हैं। अपनी आवरण शक्ति के द्वारा माया तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन करती है, तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर वह नानारूपात्मक जगत् को प्रक्षेपित करती है। ईश्वर मायाधीन नहीं है। ईश्वर पर माया का कोई आवरण नहीं है, वह माया की केवल विक्षेप शक्ति से काम लेता है व प्रपंच की सृष्टि करता है। इस प्रकार ईश्वर नाम का चैतन्य जगत् का कारणं सिद्ध होता है। जो जगत् का उपादान व निमित्त कारण दोनों है। जिस प्रकार मकडी अपना जाल बनाने के लिये रुई, लकडी और यन्त्र आदि लोकप्रसिद्ध वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखती,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन वस्तुओं के बिना ही आतानवितान वाले तन्तुओं से अपना जाल बना लेती है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि के पूर्व अकेला ही बिना किसी की सहायता की अपेक्षा के केवल अपनी माया शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर देता है जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश तथा रोयें उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[४]

प्रश्न उठता है कि शंकर के अनुसार ईश्वर पूर्ण है और अनेक आश्चर्यजनक शक्तियों से सम्पन्न है, आप्तकाम है, फिर जगत् की उत्पत्ति क्यों करता है ? जगत् की रचना के पीछे उसका कौन सा प्रयोजन निहित है ? विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म एक से कैसे अनेक बनता है, फिर कैसे एक बना रहता है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि उसने इच्छा की कि एक से मैं अनेक हो जाऊँ (एकोऽहं बहुस्याम्) इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध होता है कि जब उस आनन्दमय प्रभु को रमण करने की इच्छा हुई तब उसने इस जगत् को उत्पन्न किया। सुवर्ण से जैसे कटक कुण्डलादि बनते हैं वैसे ही ब्रह्म से यह जगत् बना। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। उपनिषदों में जगत् ब्रह्म द्वारा अपने प्रसार रूप में वर्णित है। जैसे मिट्टी के पिण्ड से विभिन्न मिट्टी के पात्र बनते हैं, मिट्टी रूप में ही स्थित रहते हैं फिर नष्ट होने पर मिट्टी में ही मिल जाते हैं, किसी नाम व आकृति में रहते समय उनका तत्त्व मिट्टी ही होता है। और मिट्टी क्या है ? जान लेने पर उन विविध नामरूपों में स्थित तत्त्व को भी जान लिया जाता है। ऐसे ही यह समस्त जगत् ब्रह्म से ही उत्सृष्ट है, ब्रह्म में ही स्थित है। ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।[५] शंकराचार्य के अनुसार जगत् की सृष्टि में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है। श्रुति ईश्वर को आप्तकाम तथा निःस्पृह कहकर पुकारती है। यदि सृष्टि व्यापार से ईश्वर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो तो उसे आप्तकाम कैसे माना जा सकता है ? अतः ईश्वर का यह जगत् व्यापार लीलामात्र है किसी प्रयोजन या कामना की पूर्ति के लिये नहीं। जैसे लोक में सकल मनोरथ सिद्ध पुरुष के समस्त व्यापार लीला के लिये ही होते हैं उसी प्रकार आप्तकाम ईश्वर का यह सृष्टि व्यापार लीलारूप ही है। यह उसका स्वभाव ही है, जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास, प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्पत्ति व विनाश होता रहता है।[६]

शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है - इसका अर्थ यही है कि जगत् ब्रह्म की अन्यथा प्रतीति है जो माया या अज्ञान के कारण है। इसलिये शंकर जगत् की सत्ता को व्यावहारिक ही मानते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण सत्ताओं का विभाजन तीन कोटियों में किया है। प्रातिभासिक यथा, रज्जु-सर्प, व्यावहारिक जगत्, पारमार्थिक ब्रह्म। इस विभाजन के आधार पर वे कहते हैं कि जबतक हम व्यावहारिक तल पर हैं, जगत् की सत्ता स्वीकार करनी होगी। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य कहने में शंकर को कोई संकोच नहीं है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत्, प्रपंच एवं नानात्व मिथ्या है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर एवं जगत् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध (व्यावहारिक स्तर पर) है। व्यवहारतः जिस अन्तिम दृष्टि तक जगत् सत्य है उस दृष्टि तक ईश्वर भी सत्य है।

अब ईश्वर एवं जगत् की व्याख्या करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि ईश्वर एवं जगत् में रहने वाले जीव के मध्य क्या सम्बन्ध है ?

शंकर के मतानुसार जीव अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है दूसरी और समस्त विश्व का कारण एवं स्रष्टा ईश्वर भी अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि अपने वास्तविक रूप में जीव ईश्वर के साथ तादात्म्य रखता है। जीव, ईश्वर की यह तात्त्विक एकता पारमार्थिक है। फिर भी व्यावहारिक स्तर पर उनके बीच महत्त्वपूर्ण भेद है। ईश्वर मायाशक्तिसम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जीव अज्ञान के वशीभूत है, ईश्वर अज्ञान को अपने वश में रखता है। जीव पर अज्ञान का आवरण है, ईश्वर पर अज्ञान का आवरण नहीं है। जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्व शक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है, वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यन्त लघु है। जीव व ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख-सुखादि का अनुभवकर्ता है परन्तु ईश्वर दुःखादि का अनुभवकर्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वह देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुःखसे ''अहं दुःखी'' मैं दुःखी हूँ, इत्यादि अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध ईश्वर का देहादि में आत्मभाव या दुःखादि का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिमान नहीं है। वैसे यदि विचार करके देखा जाय तो जीव का दुःखादि का अभिमान भी पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निवृत्त देह, इन्द्रिय एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुःखादि का अभिमान है, पारमार्थिक दुःखाभिमान कदापि नहीं। अतः मिथ्याभिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[७] अद्वैत दर्शन के अनुसार जीवं ब्रह्मरूप ही है। अतः उसके (जीव के) सुख-दुःखादि पारमार्थिक नहीं हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से जीव एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं (जीवो ब्रह्मैव नापरः) । ब्रह्म एवं जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण तत्त्वतः एक है। उसमें प्रतीयमान भेद औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। जैसे घट की उपाधि के कारण भिन्न प्रतीत होनेवाला घटाकाश तत्त्वतः महदाकाश से भिन्न नहीं है। घट की उपाधि के नष्ट हो जाने पर दोनों में कोई भेद नहीं रहता है, उसी प्रकार अज्ञान की उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति शु. ३/२/९) इस प्रकार सिद्ध होता है कि निर्गुण एवं सगुण, निर्विशेष एवं सविशेष, पर एवं अपर ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं। अद्वैत में भेद कैसा ? जब तक जीव अविद्याग्रस्त एवं प्रपंच में निमग्न है तब तक वह अपने यथार्थ स्वरूप से विस्मृत रहता है, किन्तु ज्यों ही श्रुति उसे मोहनिद्रा से जगा देती है उसे आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है और वह स्वयं को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अद्वैततत्त्व समझ लेता है और सदा अखण्ड आत्मानन्द में लीन हो जाता है। अविद्या के नष्ट होते ही अविद्याजन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है, और इसके नष्ट होते ही अहंकार एवं ममकार्य की कल्पनायें जीव के "जीवत्व", "कर्तृत्व", "भोक्तृत्व", आदि की मिथ्या कल्पनायें भी विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के पश्चात् प्रश्न उठता है कि ईश्वर एवं साक्षी के बीच क्या सम्बन्ध है ? यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वर, साक्षी, जीव, आदि सभी सत्तायें व्यावहारिक ही हैं तथापि दृश्यमान जगत् और सृष्टि की व्याख्या के प्रयास में इन्हें निरर्थक कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। ईश्वर जहाँ मायोपाधिक ब्रह्म का रूप है, जीव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म का रूप है। वहीं साक्षी अन्तःकरण की उपाधि से युक्त ब्रह्म है। साक्षी शब्द का अर्थ ''चेत्ता केवल'' जानने वाला होकर जो अकर्ता हो वह साक्षी है। दूसरे शब्दों में इसे उदासीन निरपेक्ष द्रष्टा कहते हैं। उदासीन निरपेक्ष द्रष्टाका अर्थ वह सत्ता है जो जीवात्मा के समस्त प्रपंचात्मक व्यवहार और उसकी अभिगम्यता को अनासक्त भाव से सतत देखती रहता है। जहाँ तक ईश्वर एवं साक्षी के सम्बन्ध का प्रश्न है ईश्वर स्रष्टा, पालक एवं संहारक है, जबकि साक्षी में ऐसा कोई गुण नहीं है। वह तो मात्र उदासीन द्रष्टा है जो जीव के समस्त ज्ञात, अज्ञात, कृत्यों का निरपेक्ष ज्ञान रखता है। साक्षी साक्षात् देखता है, उसके लिये किसी तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं, साक्षी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। साक्षी अन्तःकरणोपाधिक है जबकि ईश्वर मायोपाधिक है। दोनों के मध्य मात्र इतना सम्बन्ध है कि ईश्वर साक्षी के साक्षित्व के आधार पर जीव के कर्मो का फल निर्धारित करता है, इसीलिये कर्मफल प्रदान करने में ईश्वर के ऊपर वैषम्य का दोष नहीं आता। साक्षी व ईश्वर में स्वरूप की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, दोनों तत्त्वतः विशुद्ध चैतन्य हैं। जो अज्ञान को साथ रखे हुए है, अर्थात् अज्ञान को मूलरूप में देखने वाला साक्षी है वह विक्षेप कराने वाला ईश्वर।

साक्षी ईश्वर की उपर्युक्त व्याख्या भी व्यावहारिक ही है। परमार्थ में द्वैत कहाँ ? ईश्वर जीव, साक्षी आदि की अवधारणायें अज्ञान, अविद्या या माया के कारण है। माया का विपरिलोप होते ही जीव का जीवत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व, साक्षी का साक्षित्व तथा इन सबका समन्वित वैविध्य समाप्त हो जाता है, तथा परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता अद्वैत रूप में रहती है। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या के पश्चात् निष्कर्षतः हम पाते हैं कि शांकर वेदान्त में ब्रह्म का सविशेष रूप। (ईश्वर) एक तात्त्विक सत्य (Metaphysical reality) की अपेक्षा प्रयोजनवादी सत्य (Pragmatic reality) अधिक है। सामान्य जिज्ञासु प्रयोजनमूलक सत्य को ही ग्रहण कर नैतिक सत्य की ओर पहले बढता है फिर क्रमशः निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त करता है।

भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने में सगुणोपासना साधक की सहायक होती है। शंकराचार्य ने अध्यात्म की यात्रा में सगुण ब्रह्म की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपासना के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के दर्शन में अपरब्रह्म, औपाधिक होने के कारण परमसत्य तो नहीं है, तथापि अपरब्रह्म (ईश्वर) के सम्प्रत्यय के व्यावहारिक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इसी आधार पर शांकर वेदान्त में शंकर की ईश्वर की कल्पना सुसंगत रूप में हमारे समक्ष आई है।

वरिष्ठ प्राध्यापिका, दर्शन विभाग **शशि देवी सिंह**
म. गाँ. काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. **ब्र. सू.** - १/१/२
२. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां --- सम्भावयितुं शक्यं....।
ब्र. सू. शां भा. - १/१/२
३. यथा स्वयं प्रसारितयामायया मायावी न संस्पृश्यते।
ब्र. सू. शा. भा. २/१/९
४. यथोर्णनाभिः सृजते..... विश्वम्। **मुण्डक.** १/१/६
५. सदैव सोम्येदमग्रआसीत्.... यथा सोभ्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं... मृत्तिकैतेव सत्यं...। **छान्दो. उप.** १
६. यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसधाय... प्रवृत्तिर्भविष्यति।
शा. भा. ब्र. सू. २/१/३३
७. **ब्र. सू. शा. भा.** २/३/४६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निवेदन

कागज, छपाई तथा डाक इन सभी के मूल्य इन दिनों अत्यधिक बढ गये हैं। पत्रिका के पास उपलब्ध जमा राशि पत्रिका चलाने में पर्याप्त नहीं है। अतः हमें पत्रिका के **सदस्यता शुल्क** में वृद्धि करने का निर्णय लेना पड रहा है। पत्रिका के सदस्य एवं ग्राहकों से नम्र निवेदन है कि वे सहयोग देकर पत्रिका को मदद करें।

सदस्यता शुल्क की नयी दरें निम्नांकित हैं और आगामी खण्ड २४ से याने दिसंबर २००२ से वे लागू की जाएँगीं।

सदस्यता शुल्क

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २५००/-
	व्यक्तिओं के लिए	रु. १०००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १२५/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १००/-
एक प्रतिका मूल्य		रु. ३५/-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विमर्श : एक दार्शनिक विवेचन

भारतीय संस्कृति जितनी वैदिक है उतनी ही आगमिक। वास्तव में दोनों परम्पराएँ मिलकर भारतीय संस्कृति को परिपूर्णता प्रदान करती हैं। आज हमारी संस्कृति का जो रूप है उसे वैदिक एवं आगमिक दोनों परम्पराओं का सुन्दर समन्वय कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

मूलागमों की प्रकृति मुख्यतः तीन तरह की रही है - (१) भेद परक (२) भेदाभेद परक एवं (३) अभेद परक। भेद परक आगम मुख्यतः तमिल भाषा में हैं । इन आगमों में पति (शिव) पशु (आत्मा) तथा पाश (बन्धन) तीनों को सत् मानकर भक्ति को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बनाने का प्रयास दिखता है। तर्क या सिद्धान्त से भी तत्त्वों की सिद्धि दिखलाने की मुख्य विशेषता को लेकर इन भेद परक आगमों की व्याख्या "शैव सिद्धान्त" के रूप में प्रसिद्ध है। भेदाभेद परक आगमों को आधार बनाकर जो दार्शनिक निकाय विकसित हुआ उसे वीर शैव दर्शन के नाम से जाना जाता है। अभेद परक आगमों के विचारों का विकास मुख्यतः काश्मीर क्षेत्र में हुआ इसलिए इसकी प्रसिद्धि काश्मीर शैव दर्शन के रूप में हुयी। कौल साधना का प्रतिपादक होने से इसे कौल दर्शन और प्रतिभिज्ञा रूपी लक्ष्य को केन्द्र में रखकर इस दार्शनिक निकाय के विकसित होने से प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं। उत्पलदेव, सोमानन्द, अभिनव गुप्त इस परम्परा के श्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं।

काश्मीरी आगम दर्शन का भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसमें जीवन के ऐसे सत्यों का अनुशीलन हुआ है जो स्वस्थ, सुखी एवं आध्यात्मिक रूप से परिपूर्णजीवन के लिए अपरिहार्य है। इस निरन्तर नवीन बनाए रखनेवाले स्वस्थ जीवन दर्शन का केन्द्रीय आधार शिवतत्त्व की विमर्शात्मकता है।

प्रस्तुत लेख का प्रयोजन काश्मीर शैव दर्शन में विमर्श की अवधारणा सृष्टि में उसकी भूमिका तथा इस प्रत्यय के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते है, उन्हें स्पष्ट कर यह दिखलाना है कि विमर्श प्रत्यय किस प्रकार भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति को परिपूर्ण करता है।

विमर्श प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए काश्मीर शैव दर्शन की तत्त्वमीमांसा में शक्तिपंचक की अवधारणा का उल्लेख उचित प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ विमर्श को शिव की शक्ति का स्वातंत्र्य माना गया है। विमर्शिनी में उस शक्ति-स्वभाव परमेश्वर की शक्ति को मुख्यतः पाँच नामों से अभिहित किया जाता है। जगत् की उन्मेष दृष्टि (आभास दृष्टि) से परमेश्वर की पाँचों शक्तियाँ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती हैं। विमर्शिनी में चित् आत्मा के प्रकाशरूपता को उसकी चित् शक्ति कहा है। यह प्रकाशरूपता ही परमशिव की शुद्ध संविद्रूपता है। अपने इस प्रकाशस्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है।

शिव ज्ञानस्वरूप होते हुए विमर्श रूप या क्रियाशील भी हैं।[१] क्रियाशीलता का नाम ही शक्ति है।[२] शिव-शक्ति, प्रकाश-विमर्श, ज्ञान-क्रिया ये सभी गुण व धर्म एक ही तत्त्व शिव को निर्दिष्ट करते हैं। जिस प्रकार नदी कहने मात्र से ही जल और प्रवाह दोनों का बोध होता है, कारण नदी के जल में ही प्रवाह होता है, उसी प्रकार शिव-शक्ति, ज्ञान-क्रिया आदि से शिव का ही बोध होता है। विमर्शिनी में शिव और शक्ति के प्रतीकरूप अर्धनारीश्वर की कल्पना की गयी है जिसका आशय यह नहीं है कि एक ही तत्त्व में आधा अंश शिव और आधा शक्ति का अंश है, बल्कि वास्तविक तत्त्व एक ही है। विशेषण केवल समझने के लिए दिये जाते हैं। परम शिव स्वतः गतिशील है। यही इसकी विशेषता है कि पूर्ण चैतन्य असीम आनन्दस्वरूप होते हुए भी क्रियाशील है। चैतन्य में स्वतः गति होती है। इसी गति को शक्ति-परामर्श कहा गया है। शक्ति कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं बल्कि चैतन्य का ही स्वरूप है। प्रकाश-विमर्शमय ही चैतन्य तत्त्व है। जैसा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया है 'ज्ञान विमर्शानुप्राणितं शिव तत्त्वम्' अर्थात् शिवतत्त्व प्रकाश-विमर्श सामरस्य है।

परमशिव को क्रियाशील मानने से कुछ लोग आपत्ति प्रकट करते हैं कि यदि परमशिव सक्रिय है तो वह अपूर्ण होगा क्योंकि क्रिया करने का आशय ही है कि वह अपनी अपूर्णता को पूर्ण करने हेतु ही क्रियाशील है। शिव जब पंचकृत्य करता है तो किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए। अतः वह पूर्ण तत्त्व नहीं है। पूर्णता और सक्रियता एक ही तत्त्व के स्वरूप नहीं हो सकते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रश्न के समाधान हेतु ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है[३] कि परमशिव पूर्ण के साथ विमर्श रूप भी है। अतः वह सर्वथा स्वतंत्र है, अन्य निरपेक्ष है। अपने अन्दर प्रकाश एकात्म्य से स्थित समस्त विश्व को अपने ही अन्दर प्रतिबिम्बित करने के लिए उसे अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि अपेक्षा अपूर्ण में होती है। वह तो सर्वथा परिपूर्ण है। परअनपेक्षा ही उसका स्वातन्त्र्य है। जिससे वह अपने आप को विभक्त किये बिना ही समस्त विश्ववैचित्र्य को आत्म भित्ति पर आभासित करता है। शक्ति ही परमशिव का वैशिष्ट्य है। परमशिव को चेतनमात्र कहने से ही स्वभावतः क्रियाशीलता ज्ञात हो जाती है। सक्रियता के बिना वह चैतन्य नहीं। जो दार्शनिक परमतत्त्व को पूर्ण मानने के साथ सक्रिय नहीं मानते वे क्रिया और कर्म में भेद नहीं करते। कर्म करना तो अपूर्णता का प्रतीक है। परन्तु क्रिया (जो कि शिव के स्वरूप में ही सन्निहित है) पूर्णता का द्योतक है।

क्रिया के दो रूप हैं - (१) ऐच्छिक क्रिया (२) स्वभाविकी क्रिया।

इच्छानुसार की जाने वाली क्रिया को ऐच्छिक क्रिया कहते हैं। ऐच्छिक क्रियाओं में अभ्यास रहता है एवं सप्रयोजनता होती है। यह क्रिया कर्ता के ऊपर निर्भर है। क्योंकि सभी लोगों को भिन्न-भिन्न इच्छाएँ होती हैं और लोक स्वेच्छानुसार ही कार्य करते हैं। स्वाभाविकी क्रिया स्वपरिचालित है। यह अपने-आप स्वभावतः होती रहती है। जैसे दिन-रात का होना, आँधी-तूफान का आना आदि। स्वाभाविकी क्रियाओं को प्रयास करके भी अवरुद्ध नहीं किया जा सकता।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार परमशिव में स्वाभाविकी क्रिया पायी जाती है। वह स्वभावतः क्रियाशील है। उसके स्वरूप में ही क्रिया-शक्ति सन्निहित है। इसलिए इसे स्वाभाविकी क्रिया कहते हैं। विमर्शिनी में जीव शिव का ही धारणा किया हुआ रूप है अतः जीव के अन्दर भी स्वाभाविकी क्रिया होती रहती है जैसे साँस आना, भोजन, पाचन इत्यादि। स्वाभाविकी क्रिया भी दो प्रकार की होती हैं १) यांत्रिक २) स्वतंत्रतापूर्ण।

यांत्रिक क्रिया का आशय उस क्रिया से है जो क्रिया यंत्र की भाँति (मशीनवत्) नित्यप्रति होती रहे और स्वतंत्रतापूर्ण का अभिप्राय ऐसी क्रिया से है जो स्वाभाविक के साथ ही साथ स्वतंत्र भी हो, याने स्वाभाविकी क्रिया में भी पूर्णरूपेण स्वतंत्र। विमर्शिनी के अनुसार परमशिव में स्वाभाविकी क्रिया पायी जाती है और उसके लिए भी वह स्वतंत्र है। इस प्रकार क्रिया अपूर्णता का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतीक न होकर स्वभावतः स्वातन्त्र्यरूपेण परिचालित क्रिया है जो कि चैतन्य स्वरूप शिव में ही सन्निहित है। सभी कार्य - सृष्टि, संहार - आदि स्वभावतः होते रहते हैं।

प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप।

ई. प्र. वि. के अनुसार प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श प्रकाश के स्वरूप की प्रतीति। यही विमर्श ही उसकी अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। शक्ति आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है और इस विमर्श से ही वह कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् स्वभावी होता है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी स्वतंत्र शक्ति कहलाती है। जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सदैव अभेदरूपता में स्फुरित होती है। अतएव आत्मा ज्ञातृकर्तृरूप है।[४] इसी कारण नेत्रतंत्र में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि जो ज्ञान है वह क्रियाशून्य नहीं और जो क्रिया है वह ज्ञान रहित नहीं।[५] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी इसका उल्लेख किया गया कि ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक परमेश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है। परमेश्वर की इस चिकीर्षारूप इच्छा में सबकुछ अन्तर्भूत है और सब कुछ वहाँ अभेद रूप से अवस्थित है।[६]

परम तत्त्व के सम्बन्ध में जो सबसे अहम दार्शनिक प्रश्न उठता है वह है - तत्त्व का अहन्ता-विमर्श। यदि परम तत्त्व को स्वयं अपने अहं का बोध नहीं तो उसमें अपूर्णता का प्रश्न तो उठेगा ही। साथ ही यह भी प्रश्न उठेगा कि जिसे अपना स्वयं का बोध नहीं वह भक्तों का, जीवों का आराध्य एवं आदर्श कैसे हो सकता है? उसकी आवश्यकता ही क्या होगी ? शंकर के निर्गुण ब्रह्म पर रामानुज के आक्षेप का अनुवाद करते हुए राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन में एक उपमा दी है जो समीचीन प्रतीत होती है। उसके अनुसार शंकर का ब्रह्म आरनाल्डो की उस घोडी की तरह है जो सर्वाङ्गसुन्दर थी किन्तु उसमें एक छोटा सा दोष था, वह यह कि वह मरी हुयी थी।

काश्मीर शिवाद्वैत शिव को विमर्शात्मक मानता है। यह उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है कि इस विमर्श को चेतन ही नहीं स्वचेतन विमर्श मानता है। अभिनव गुप्त ने शिव की अहंता को शिव की शिवता माना है।

परमशिव अहं विमर्शमय है। विमर्शिनी के अनुसार शिव आत्मचैतन्यपूर्ण है। शिव को अहंज्ञान है। अहंज्ञान का आशय स्वयं का ज्ञान अर्थात् 'मैं हूँ'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अहमस्मि)। साथ ही परम शिव अद्वय और पूर्ण भी है। वह स्वयं से ही जगत् निर्मित करने के बाद अहंबोध भी रखता है। कारण अहम् ही इदम् (जगत्) में आभासित हो रहा है।

अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य के अनुसार परब्रह्म अद्वय है। अतः उसमें अहंज्ञान नहीं है। कारण अहंज्ञान भिन्नता प्रकट करता है। अहं का आशय है द्वैत अर्थात् अहंज्ञान तब होगा जब कि अहं से अतिरिक्त भी कोई तत्त्व होगा। परब्रह्म के अतिरिक्त परमार्थतः किसी की सत्ता नहीं है। अतः उसमें अहंज्ञान भी कोई तत्त्व होगा। अहं एक सापेक्ष पद है। जैसे पिता कहने का अभिप्राय पुत्र या पुत्री से सम्बन्ध है। वैसे ही अहं ज्ञान 'त्वं सः' आदि की अपेक्षा से भिन्नता प्रकट करता है। भिन्नता हेतु का प्रतीक है। परमशिव अद्वय होने के कारण उससे भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं। अतः उसे अहंज्ञान नहीं है, और यदि अहंज्ञान माना जाय तो वह अद्वय नहीं हो सकता।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में इसके समाधान हेतु यह बताया गया है कि शिव में अहंबोध है। अहम् शब्द का सापेक्ष पद के साथ ही साथ निरपेक्ष पद में भी प्रयोग किया जाता है। जहाँ स्वयं को किसी अन्य व्यक्ति विशेष से भेद करना होता है वहाँ अहम् शब्द सापेक्षतः प्रयुक्त होता है। यह द्वैत भाव का सूचक तब है जबकि जगत् की अन्य वस्तुओं को अहम् विमर्श से पृथक् समझते हैं। यह अज्ञानावस्था है। अहम् शब्द का प्रयोग स्वयं का भी बोध कराने के लिए होता है। 'मैं हूँ' (अहमस्मि) ऐसा प्रयोग निरपेक्षतः है। यह अवस्था शिवावस्था है, जहाँ पर द्वैतभाव पूर्णरूपेण नहीं रहता है। जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं में अपना ही प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। मैं ही इस जड-जगत् में व्याप्त हूँ। (अहमिदं) अहम् से पृथक् कोई तत्त्व ही नहीं, तो पृथक्ता के बोध का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्णरूपेण अहंबोध ही शिवावस्था है। शिव को अहंज्ञान इसलिए है कि उसे इसका ज्ञान है कि मेरा प्रकाश इस जगत् में आभासित हो रहा है। शिव से पृथक् किसी की सत्ता नहीं। सब शिवमय है। अतः स्पष्ट है कि अहम् शब्द का प्रयोग निरपेक्ष रूप से भी होता है। विमर्शिनी में यह निरपेक्ष की अवस्था ही शिवावस्था है।

पुनः यह समस्या उत्थापित की जाती है कि शिव को अहंज्ञान है परन्तु अहंबोध का ज्ञान किसी भिन्न संज्ञा द्वारा ही संभव है। अहमस्मि अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार के ज्ञान के लिए अहम् से भिन्न कोई सत्ता अवश्य है तभी इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार का ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं।

वस्तुतः यह प्रश्न आचार्य शंकर के इस तर्क की प्रसिद्धि के कारण महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि अहं विमर्श के लिए भेद का होना आवश्यक है। और चूँकि ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी भेदों से परे है, अतः उसमें अहंबोध की तार्किक आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता। काश्मीर शिवाद्वैत शिव को भेदरहित मानते हुए भी उसके विमर्शात्मक स्वरूप को ही अहन्ता या अहंबोध की शर्त स्वीकार कर इस प्रत्यय की व्याख्या करता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने विमर्शिनी में कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि अहंबोध किसी भिन्न सत्ता के द्वारा ही हो। चैतन्य के स्वरूप में सन्निहित स्वाभाविक क्रियाशीलता से अहमस्मि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सागर में लहर स्वभावतः उठती रहती है वैसे ही शिव में स्वभावतः अहंज्ञान है।

मालिनीविजयवार्तिक में कहा गया है कि परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपता से अपने परिपूर्ण 'अहम्' के भीतर ही अभिन्न रूप से इदम् रूपात्मक विश्व का अवभासन (उल्लासन) करता है। एक प्रकाशरूप परमेश्वर ही अपने स्पन्दस्वातंत्र्य से विभिन्न वैचित्र्य रूपों में प्रकाशित होता है, और फिर भी वह वस्तुतः अवभिन्न होकर अकेला ही प्रकाशमान है।[७]

स्पन्दनिर्णय के अनुसार पूर्ण अहम् में अभिन्न रूप से इदम् विश्वात्मक रूप की अवभासन आरोहण कल्पना की क्रीडा है। आरोहण कल्पना की क्रीडा के द्वारा इस इदम् (विश्व) को पुनः इस तरह अपनी अहन्ता में लय कर लेता है कि इदन्ता नाम तक शेष नहीं रहता। इसी प्रकार एकात्मरूप में इदन्ता का अवभासन उसकी प्रकाशरूपता का निमेष और विमर्शरूपता का उन्मेष कहलाता है। विमर्श का उन्मेष सृष्टि का पर्याय है और विमर्श का निमेष प्रलय का।[८] ये सृष्टि और प्रलय प्रतिक्षण परमेश्वर के अन्तर्गत अभिन्न रूप से स्पन्दित होते रहते हैं। यह स्पन्द ही परमेश्वर की इच्छा है। जो वैधोन्मुखी न होकर स्वरूपोमुखी है क्योंकि परिपूर्ण परमेश्वर से भिन्न किसी भी वैधभाव की सत्ता नहीं।[९]

गीता के स्थितप्रज्ञ के विचार में तन्त्रों की इस विमर्शात्मकता का विचार आगमिक होते हुए भी वैदिक भी बन गया है। आगम का यह विचार शांकर वेदान्तियों के कर्मसंन्यासरूप जीवयुक्त को अवधारणा का विकल्प नहीं बल्कि उनका पूरक प्रतीत होता है। किसी परम्परा की दार्शनिक स्थिति उसके धार्मिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पक्ष पर आधारित होती है और यही बात उस परम्परा या निकायों को अन्यों से पृथक् करती है। वेदांत (शंकर) के निषेधात्मक दृष्टिकोण को उसका धर्म भी देखा जाता है। जगत्मिथ्यात्व जगत् के प्रति वैराग्य एवं संन्यास के तथ्य को प्रकट करता है। इसीलिए परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए संन्यास की पूरी प्रक्रिया को अद्वैतवेदांतियो ने अपने धार्मिक विषय-वस्तु के रूप में महत्त्व दिया है। उदाहरण के लिए क्रिया को मोक्षार्थबाधक माना गया है। इन्द्रिय-संयम ही नहीं इन्द्रिय-निग्रह पर आग्रहपूर्वक बल दिया गया है। भोगों की भर्त्सना की गयी है, जीवनमुक्त की अवस्था को नैष्कर्म्य की अवस्था बताया गया है। इससे भिन्न काश्मीर अद्वैतागामों का भावात्मक दृष्टिकोण जीवन को ठीक ढंग से जीने, जगत् को मिथ्या मानकर शिव का वास्तविक विमर्श मानने तथा इस रूप में जगत् को भी दिव्य समझने, भोगों के त्याग का नहीं, दिव्य समझ के साथ भोगों के भोग में, तत्त्व को क्रियाशील रूप में सर्जनात्मक मानने, रागादि के त्याग पर बल न देकर विषयों के प्रति तात्त्विक एकता का भाव रखने तथा प्रेम आदि के द्वारा रागादि से ऊपर उठने, उनके दिव्यीकरण, जागतिक मूल्यों के प्रति पवित्रता का भाव रखने, इसे बाधक मानने का धार्मिक आचरण सम्बन्धी भावात्मक विचार वेदान्त को परम्परा से इसे भिन्न करता है। इसकी मान्यता के अनुसार वेदांत में प्रतीत होनेवाला मुक्ति और भुक्ति का विरोध वास्तविक नहीं है। मुक्ति को इच्छाओं के परिपाक के लिए आवश्यक माना गया है। ऐसी स्थिति में जब भोग और योग की तात्त्विक एकता प्रधान होती है तब भोग ही योग हो जाता है। अतः योग के लिए भोग, भोगों से ऊपर उठने के लिए भोग आवश्यक है। जब भोगेच्छा तथा भोग के विषय को धार्मिक रूप से ग्रहण किया जाता है तो भोग भी योग हो जाता है, ऐसी काश्मीर शैवदार्शिनिकों की मान्यता है। दुर्गम्य सुगम में, भोग योग में परिवर्तित हो जाता है और जगत् मोक्ष का साधन बन जाता है।

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरी॥ कुलार्णव तन्त्र, २.२४

मुक्ति के लिए नैष्कर्म्य की आवश्यकता नहीं। मुक्ति शिवरूपता की प्राप्ति है और शिव क्रियात्मक (Dynamic) है। अतः मुक्ति की अवस्था निष्काम कर्म (Spontaneous action) करने की अवस्था है। ज्ञान और क्रिया में विरोध नहीं अपितु ज्ञान क्रियारूप भी है। शिव शक्तिरूप भी है। शक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बिना शिव शव है। अतः क्रिया मुक्ति में बाधक नहीं साधक है। मोक्षदायक है। कर्म ज्ञानोत्पति की पूर्व आवश्यकता मात्र नहीं जैसा की वेदान्ती मानते हैं। ज्ञान आन्तरिक परिवर्तन है। पौरुष ज्ञान है और इस रूप में क्रिया भी है। कौल साधना में उदात्तीकरण (Sublimation) का भाव उसकी स्वस्थ धार्मिक दृष्टि के कारण अत्यधिक विशिष्ट रहा है। संभोग आदि के प्रति पवित्र धार्मिक दृष्टिकोण साधक है, बाधक नहीं। और इस रूप में कौलसाधना भोग की नहीं योग की साधना बन जाती है, वह योग जिसके लिए संन्यास की आवश्यकता नहीं है और नैष्कर्म्य जिसका स्वरूप नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर काश्मीर-आगम-दर्शन श्रुति (वेदांत) के निषेधात्मक दृष्टिकोण से भिन्न भावात्मक रहा है। यह इसका सर्वोपरि वैशिष्ट्य है। जीवन, जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण ने भी अन्य धर्मों से इस धर्म के वैशिष्ट्य को सिद्ध किया है और आज जो भारतीय संस्कृति में जीवमुक्त की क्रिया-रूपता, जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण एवं जीवन के प्रति दिव्यता का विचार स्थान पाया है वह आगमिक परम्परा का भारतीय संस्कृति में विशिष्ट योगदान ही है।

डा. ज्ञानाञ्जय द्विवेदी

दर्शनशास्त्र विभाग,
भा. से. स. महाविद्यालय,
सुपौल (बिहार) ८६२१३१

टिप्पणियाँ

१. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एवं देवस्य शुद्धे ज्ञान क्रिये यतः॥
ई. प्र. वि. भाग-०१ , पृ. ३३७

२. यद्यपि च प्रकाशविमर्शात्मिक चिदवेय धनम् एकमेव सविद्रपय् तथापि व्युत्पनादाय तत्वरिघटति एवं अयं विभागः (ज्ञान क्रिया इत्यर्थ) तेन ज्ञानात्मक क्रियाविषय स्वातन्त्र्यम्। ई. प्र. वि., भाग ३ पृ. ३१७

३. ई. प्र. वि. भाग-१, पृ. १३३

४. विमर्श एवं देवस्य शुद्ध ज्ञान क्रिये यतः। ई. प्र. वि. भा. १-१/८/११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञानरहितं क्रिया । नेत्र तंत्र उद्योत टीका भाग २, पृ. ४२

६. परामर्श हि चिकीर्षा रूपेच्छा।
तस्यां या सर्वमत्रभूतं नियति व्यमभेदकल्पेनास्ते।
ई. प्र. वि. भा.२, पृ. १८१

७. एक प्रकाश स्वातंन्त्र्या विचित्र रूप प्रकाशते वस्तुतश्च न विलोऽसौ नाचिलो भेददूषणात्। मालिनीविजयवार्तिक १/६

८. यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगत: प्रलयादयौ। स्पन्दकारिका का. -१

९. अतएव प्रतिक्षण प्रमातृसंयोजनाविभोजनावेचित्र्येण परमेश्वरी विश्व सृष्टि संहारा दिना प्रंपचयति। ई. प्र. वि. भाग १, पृ. १९५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे

अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शून्यवाद एवं विज्ञानवाद से प्रभावित अद्वैतवाद

नागार्जुन प्रतिपादित बौद्धसिद्धान्त शून्यवाद कहलाता है। इनकी माध्यमिक कारिका या मध्यमकशास्त्र पूर्णरूप से शून्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। इनके शून्य की कल्पना बडी विचित्र सी है। जैसा कि समान्यतया व्यवहार में शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' ऐसा समझा ज़ाता है, किन्तु शून्यवाद में उससे विलक्षण शून्य अर्थ की कल्पना की गई है। शून्यता, तथता, प्रतीत्यमुत्पाद, सत्यता, सर्वथा निर्वचनीयता आदि शब्दों के द्वारा किसी चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्य तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। सत्, असत्, उभय और अनुभय - इन चारों पक्षों से भिन्न शून्यतत्त्व को वैसे ही माना जाता है, जैसे कि अद्वैत वेदान्ती अविद्यानिवृत्ति को कोटिचतुष्टय से भिन्न मानते हैं।

लंकावतार सूत्र में भी भगवान् ने कहा है -

कारणैः प्रत्ययैश्चापि येषां लोकः प्रवर्तते।
चातुष्कोटिकया युक्त्या न ते मन्मतकोविदाः॥

अर्थात् जो लोक कारणों और प्रत्ययों के आधार पर लोक-व्यवहार प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं कुछ लोग सत्, कुछ असत्, कुछ सदसद् उभय और कुछ अनुभय इन चार कोटियों के द्वारा ही लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताते हैं, वे हमारे मत के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ हैं। इसके साथ-साथ माध्यमिक वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता मानकर उलझी हुई दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाया करते हैं। स्वयं आचार्य नागार्जुन कहते हैं -

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोक संवृति सत्यं च परमार्थतः॥
योऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयो।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने॥
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥[१]

अर्थात् बुद्ध के उपदेश संवृति और परमार्थ इन दो प्रकार की सत्ताओं पर आधृत हैं। जो इन दोनों के सूक्ष्म अन्तर को नहीं समझ पाते, वे बुद्धशासन के गम्भीर तल का स्पर्श करने में अशक्त रहा करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि व्यावहारिक भूमि का आलम्बन किये बिना परमार्थ सिद्ध नहीं हो सकता और परमार्थ की सिद्धि न होने पर निर्वाण प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं। संवृति शब्द का अर्थ चन्द्रकीर्ति के शब्दों में इस प्रकार है - समन्ताद्वरणं संवृत्तिः। अज्ञानं हि समन्तात्सर्वपदार्थ-तत्त्वावच्छादनात् संवृतिरिति उच्यते। परस्परं सभजनं वा संवृतिरन्योन्यसमाश्र भेजेत्यर्थः।[२]

अर्थात् अज्ञान को संवृति कहा जाता है, क्योंकि वह पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का संवरण या आच्छादन करता है। आचार्य गौडपाद ने अपनी माडूक्यकारिका में इन्ही सत्यों को सूचित किया है। उसकी व्याख्या में शंकराचार्य भी संवृति शब्द का अर्थ करते हैं - "संवृत्या संवरण संवृतिरविद्या विषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वं तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वैः।"[३]

नागार्जुन के एक अन्य उदाहरण में भी इसी प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई है -

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः।
सत्यं तथा ख्याति यदेव कृत्रिमम्॥
जगाद तत्संवृति सत्यमित्यसौ।
मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्॥[४]

चन्द्रकीर्ति के द्वारा प्रस्तुत संवृति शब्द की व्याख्या में एक अन्य पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है, जिसे सापेक्षवाद, हेतुप्रत्ययसापेक्षवाद, या प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्य के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार माध्यमिक और अद्वैतवेदान्ती - इन दोनों की उडानें एक ही आकाश में उपलब्ध होती हैं, जो कि संवृति और परमार्थ जैसी विविध सत्ताओं का क्षेत्र माना जाता है। भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग अवश्य दोनों किया करते हैं, किन्तु यह एक अद्भुत भ्रातृत्व बौद्ध और शांकर वेदान्तियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में विद्यमान है। सांवृतिक, व्यावहारिक, लौकिक, पारमार्थिक आदि शब्दों के द्वारा वहीं एक सांवृतिकं सत्य प्रस्तुत किया गया है, जिसे माध्यमिक आचार्य बुद्ध के गम्भीर उपदेशों से अभिनिष्यन्दित, व्यवहारोपयोगी सत्तत्त्व बताया करते हैं। शांकर वेदान्त जिसे जगत् की आधारशिला बताता है, माध्यमिक उसे ही शून्य कहा करते हैं। जीवनयात्रा के लिये जगत् के सभी उपकरण वैसे ही हैं जैसे कि एक साधारण व्यक्ति उन्हें समझ रहा है। यह व्यावहारिक पक्ष है, किन्तु उसी में दुःखादि का दर्शन पाकर आर्य-दृष्टि पारमार्थिक सत्यता या शून्यता पर टिक जाती है। शून्यता की परिभाषा स्वयं नागार्जुन ने स्पष्ट की है -

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥[५]

नागार्जुन के उपलब्ध साहित्य के अनुशीलन से यह तथ्य निकलते हैं - शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमाप्रतिपत् पर्याय मात्र हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ होता है हेतुप्रत्ययसापेक्षता के आधार पर किसी वस्तु का स्वरूपलाभ। जैसे कुछ तन्तुओं के विशेषरूप में जुड जाने पर पट की प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रत्येक तन्तु अपने अवयवों से और प्रत्येक अवयव अपने अवयवों से बनता प्रतीत होता चला आया है। पट के आरम्भक मूल अणु नित्य कूटस्थ नहीं होते और न उनका अंशु, तन्तु, पट आदि परिणति परम्परा में कभी उच्छेद ही होता है। इस प्रकार शाश्वत और उच्छेदवाद के मध्य की कार्यकारणभाव प्रवाह की निरन्तर प्रवाहित प्रक्रिया को प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द से व्यवहृत किया गया है।

पट की प्रज्ञप्ति या कल्पना का उपादान कारण परम्परा ही है। पट का निजी अपना स्वरूप कहीं भी स्थिर नहीं होता, केवल उसका उपादेय आरोपित या औपचारिक रूप ही व्यवहार में आता है। इससे यही भाव प्रतिफलित होता है कि जगत् का पराश्रित स्वभाव प्रतीत होने पर वस्तुतः अपना स्वभाव नहीं होता। पराश्रित स्वभाव सांवृतिक है और निःस्वभावतः पारमार्थिक है। उसे ही शून्यता या तथता की संज्ञा दी जाती है।

नागार्जुन के इस सांगोपांग सिद्धान्त की रूपरेखा ब्राह्मण या जैन दर्शनकारों ने यथावत् प्रस्तुत नहीं की इसका कारण अभी तक गवेषणा का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय बना हुआ है। जगत् की अविरल कार्यकारणप्रवाहगति का निरूपण वैदिक एवं जैन साहित्य में अपने निजी सिद्धान्त के रूप में विश्रुत है। इस प्रकार निरधिष्ठानक भ्रम शून्यवाद का सिद्धान्त नागार्जुन के शब्दों में नहीं पाया जाता और न नागार्जुन को छोडकर किसी अन्य शून्यवादी आचार्य का उल्लेख या प्रसिद्धि ही है।

शून्यवाद और अद्वैतवाद दोनों में जगत् को आरोपित या मिथ्या कहा जाता है। अद्वैतवाद में प्रपंचभ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म माना जाता है। किन्तु शून्यवाद में कुछ भी परमार्थ सत् नहीं माना जाता । अतः प्रपंच को निरधिष्ठानक माना जाता है ऐसी ब्राह्मण दर्शनकारों की धारणा है। किन्तु बौद्धग्रन्थों के अध्ययन से पता लगता है कि शून्यवादी भी शून्यतत्त्व को पारमार्थिक मानते हैं।

शून्यतत्त्व ही वह निर्विकल्प व स्वलक्षणतत्त्व है जिस पर नाम, जाति, द्रव्य, गुण और कर्म की पंचविध कल्पनाएँ समुद्गत होती हैं। उन कल्पनाओं को ही भ्रम कहा जाता है। इस प्रकार साधिष्ठानक भ्रम की गवेषणा शून्यवाद में पाई जाती है। आश्चर्य की बात यह भी है कि अद्वैतवादी अपने ब्रह्मतत्त्व को निर्विकल्प एवं 'नेति-नेति' आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं। 'नेति-नेति' व्यवहार के मूल में शून्यता ही परिलक्षित होती है। सद्, असद्, उभय व अनुभय इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त अविद्या निवृत्ति से अभिन्न ब्रह्मतत्त्व का सिद्धान्त अद्वैतवाद में अभ्युपगत है।

गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता लगता है कि शून्यवाद और अद्वैतवाद का उद्गम किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित है। नागार्जुन ने अपने परमार्थतत्त्व की ओर संकेत करते हुए कहा है -

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
निर्विकल्पनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्॥[६]

नागार्जुन ने यह भी विस्पष्टरूप से उद्घोषित किया है कि शून्यवाद में ही प्रतिकर्मव्यवस्था या विविध सांसारिक व्यवहार का सामंजस्य होता है अन्यत्र नहीं।

योगाचार के दार्शनिक मत का नाम विज्ञानवाद है। असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति आदि आचार्य इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परम्परा के प्रवर्तक और प्रवर्धक माने जाते हैं। इनका मत है - विज्ञान या चित्त एक मात्र सत्य वस्तु है, उससे भिन्न बाह्य प्रपंच की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। युगयुगान्तर से प्रवाहित व्यवहार की अविरलधारा से प्रसूत अनन्त संस्कारों से युक्त होने के कारण विज्ञान उसी प्रकार घटपटादि अनेक आकारों में प्रतीत होता है, जैसे स्वप्नचित्र के अनेक आकार स्वप्न में प्रतिभासित होते हैं। उनकी बाह्यसत्ता सिद्ध नहीं होती। उसी प्रकार जाग्रत काल के ज्ञान भी बाह्यविषयशून्य या निरालम्बन होते हैं। 'लंकावतार सूत्र' कहता है -

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनैर्लुडितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते।।[७]

अर्थात् बाह्य अर्थ सामान्यजनों को जैसा सत्य प्रतीत होता है, वह वैसा वस्तुसत् नहीं होता। केवल विज्ञान या चित्त स्वगत अनन्त वासनाओं के आधार पर वैसा आकार धारण कर लेता है। (भगवान् ने लंकावतार सूत्र में वैसा ही प्रतिपादित किया है - 'विज्ञप्ति मात्रं त्रिभवम्' लं. सू. १०-७७)। धर्मकीर्ति ने भी वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के आधार पर विज्ञप्ति मात्रता का परिपोषण करते हुए कहा है -

संकृत्संवेद्यमानस्य नियमेनधिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति।।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
संवित्ति नियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयौः।।
नार्थो संवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम्।
दृष्टं संवेद्यमानं तत्तयोर्नास्ति विवेकिता।।
तस्मादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभासिनः।
ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वं हेतुभेदानुमा भवेत्।।[८]

अर्थात् बुद्धि के साथ-साथ नियमतः सह प्रतीयमान विषय का ज्ञान से भेद कैसे सिद्ध होगा ? अतः जिस प्रकार एकचन्द्र दृष्टिदोष के कारण भ्रान्तव्यक्तियों को दो रूपों में प्रतीत होता है, उसी प्रकार नीलादि विषय और उसका ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः भिन्न माने जाएँ तो उनमें वैसे ही ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध नहीं बन सकेगा, जैसे कि हिमाचल और विन्ध्याद्रि में। विषय-रहित ज्ञान एवं ज्ञानरहित विषय उपलब्ध नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होते, अतः विषय एवं विषयी दोनों का विवेक (भेद) सम्भव नहीं होता। इसलिए नियमतः ज्ञान काल में प्रतीत होने वाले विषय का ज्ञान से अभेद सिद्ध होता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सह उपलम्भ होने के कारण ज्ञेय का आकार ज्ञान का है, ज्ञान से भिन्न नहीं। जैसे दीपक प्रकाश में आकर ही विषय का प्रकाश किया करता है, वैसे ही ज्ञान पहले प्रकाशित होकर विषय प्रकाशन के योग्य होता है। निराकार ज्ञान का प्रकाश सम्भव नहीं, अतः ज्ञान और ज्ञेय के मध्य में प्रतीत होनेवाला घटादि आकार ज्ञान का मानना होगा, उसी का प्रकाश बन सकेगा। प्रतीयमान आकार ज्ञान का है - ऐसा मान लेने पर बाह्य वस्तु निराकार रह जाती है। निराकार वस्तु होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः बाह्य वस्तु कुछ भी नहीं, स्वप्नजगत् के समान सभी विषय विज्ञानगत संस्कारों के आधार पर आरोपित या कल्पित हुआ करते हैं। जैसा कि ज्ञानश्री कहते हैं -

यत्यत् प्रकाशते तद्तद् विज्ञानं स्वप्नदृष्टवत्।
प्रकाशते च नीलादिः स्वभावो हेतुरित्ययम्॥[९]
तस्मान्नवेदकं किंचिन्न वेद्यं न च वेदनम्।
यदपेक्ष्य तदास्थेयं स्वप्रकाशमिदं जगत्॥
प्रकाशते हि नीलादिर्न चान्यत् तत्प्रकाशकम्।
तत्स्व प्रकाशता सिद्धा विज्ञानत्वं तदेव नः॥[१०]

दार्शनिक शृंखला में सम्भवतः प्रथम शताब्दी के गम्भीर दार्शनिक-विचारक नागार्जुन ने सर्वप्रथम प्रपंच को व्यावहारिक मानते हुए उसकी परमार्थिक सत्ता का निराकरण किया है और उसे मायामय उद्घोषित किया है -

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्व नगरं यथा।[११]

इसी प्रकार गौडपाद ने भी प्रपंच को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या कहा है तथा उसे मायामय माना है -

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥[१२]

यथा स्वप्नमाये दृष्टे यथा वा गन्धर्वनगर दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैरिदं विश्वमपि दृष्टं मिथ्या कल्पितमिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गन्धर्वनगरोपमा बौद्धग्रन्थों से पूर्व नहीं मिलती। इस कारिका का भाव भी उनके अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दिङ्नाग का उद्धरण प्रस्तुत है -

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना, तथोपमाजानथ सर्वभावान्॥[१३]

इसी प्रकार लंकावतार सूत्र में कहा गया है -

गन्धर्वनगराकारा मरीचि स्वप्नसन्निभाः।[१४]
गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माण सादृशाः॥[१५]

माया स्वप्ननिपाभावा गन्धर्वनगरोपमाः।
मरीच्युदकचन्द्राभाः स्वविकल्पं विभावयेत्॥[१६]

भगवान् शंकर ने स्वकीय ब्रह्मसूत्रभाष्य में बौद्धमत का प्रदर्शन करते हुए कहा है- स्वप्नमायामरीच्युदकमगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्य-ग्राहककाकारा भवन्तीति।[१७]

जगत् का मिथ्यात्व केवल स्वप्नदृष्टान्त से सिद्ध करना वेदान्ताभिमत है। जैसा कि गौडपाद ने कहा है -

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तस्थानस्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना॥[१८]

किन्तु चार्वाकादि प्रतिवादियों के द्वारा उद्भावित स्वप्नदृष्टान्त निराकरण भी किया जाता है - जैसा कि सुरेश्वराचार्य कहते हैं -

नापि स्वप्नानुभूतेश्च मिथ्यात्वं स्वप्नवन्मतम्।
बोधानुभवत्तस्या बाधको नेक्ष्यते यतः॥[१९]

गौडपाद इसे वेदान्तियों का दृष्टिकोण घोषित करते हैं जिसका अनुसरण आचार्य शंकर करते हैं। इसके विपरीत रामानुज 'जगदपि पारमार्थिकम् एव ज्ञायते' इस प्रकार अपना मत प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार जहाँ वेदान्त में स्वप्न और जाग्रत् की एकरूपता का प्रतिपादन किया गया है वहाँ पर शबरस्वामी आदि जगत् परमार्थवादी आचार्यों की दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में भी यही रहस्य प्रकट किया है -

स्वप्ने स्वान्तर्गतं विश्वं यथा पृथगवेक्षते।
तथैव जाग्रत्कालेऽपि प्रपंचोऽयं विविच्यताम्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वप्ने स्वसत्तैवार्थानां सत्ता नान्येति निश्चिता।
को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनम्॥
स्वप्ने प्रकाशो भवानां स्वप्रकाशान्तहीतरः।
जाग्रत्यपि तथैवेति निश्चिंन्वन्ति विपश्चितः॥
यथा स्वप्ने नृपोभूत्वा भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्।
चतुरंगबलोपेतः शत्रु जित्वा रणांगणे॥
परान् पराजितो भूत्वा वनं प्राप्य तपश्चरन्।
मुहुर्तमात्रमात्मानं मन्यन्ते कल्पजीविनम्॥
तथैव जाग्रत्कालेऽपि मनोराज्यं करोत्यसौ॥
कालनद्याघयोगेन क्षीणमायुर्न पश्यति॥
मेघच्छन्नोंऽशुमालीव मायया मोहितोऽधिकम्।
किंचित कर्ता च किंचिन्नो लक्षितः परमेश्वरः॥[२०]

जगत् की उत्पत्ति और विनाश, मुमुक्षा, बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाओं के समाधानार्थ सर्वप्रथम माध्यमिक आचार्यों ने कुछ नई दिशाएँ दी थीं। जैसे कि नागार्जुन ने कहा है -

अनिरोधनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागमर्गिमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥

इसी शैली का अनुसरण करते हुए गौडपादाचार्य ने भी कहा है -

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥[२१]

यदि यह विश्व स्वप्नमायादि के समान है तब तो न किसी का नाश, न उत्पत्ति न किसी का बन्ध व न ही किसी साधक की बन्धन से मुक्ति तथा न कोई मुमुक्षु व न कोई मुक्त होगा। चन्द्रकीर्ति ने भी मध्यमकवृत्ति में कहा है - एष न कश्चिंद् बद्धो जीवो न च कश्चित् साधको बन्धनतो मुक्तेः। एवं न कश्चिन्मुमुक्षुर्नवै कश्चिन्मुक्तः।

यह बौद्ध महायान सिद्धान्त का निष्कर्ष है। 'न निरोधो न चोत्पत्ति' इस उक्ति की वस्तुतः नागार्जुन की प्रारम्भिक कारिका 'अनिरोधमनुत्पाद' इत्यादि से तुलना कर सकते हैं। बोधिचर्यावतार में भी कहा है -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत्॥[२२]

इसी प्रकार लङ्कावतार में भी "अनिरुद्धा अनुत्पन्नाश्च भगवता सर्वधर्मा देश्यन्त इति"[२३] ऐसा कहा गया है। पुनः वहीं "उत्पाद भङ्गरहितो लोकः खपुष्प सन्निभः"[२४] कहा है जो पूर्वोक्त बन्धमोक्ष सम्बन्धी इसी प्रकार का बौद्ध सिद्धान्त है। जैसा कि आर्यदेव ने चतुःशतक में कहा है -

कस्यचित्केनचित्सार्धं बन्धो नाम न विद्यते।
परेण सहबन्धस्य विप्रयोगो न युज्यते॥[२५]

लङ्कावतार में भी 'नात्र कश्चिन्महातमे बध्यते न च मुच्यते' तथा वहीं पर 'न मोक्षो न च बन्धनम्' इसी प्रकार कहा है। मध्यमकसूत्रवृत्ति में उद्धृत आर्यरत्नकूटसूत्र भी दृष्टव्य है। मध्यमक-कारिका के बन्ध-परीक्षा-परिच्छेद की कारिका की वृत्ति के शब्द यहाँ उद्धृत हैं जिनमें कहा है -

"यद्यपि त्वया संसारनिर्वाणे प्रतिषिद्ध तथापि बन्धमोक्षौ विद्येते। न चाविद्यमानस्य भावस्वभावस्य बन्धनमोक्षौ विद्येते। न चाविद्यमानस्य भावस्वभावस्य बन्धमोक्षौ सम्भवतः। तस्माद्बन्धमोक्ष सद्भावाद्विद्यत एव भावानां स्वभाव इति। उच्यते स्यादभावानां स्वभावो यदि बन्धमोक्षावेव स्याताम्। न तु स्त इत्याह -

न बध्यन्ते न च मुच्यन्त उदयव्यय धर्मिणः।[२६]

मध्यमक वृत्ति में उद्धृत आर्यरत्नकूट में भी कहा गया है -

अथयुष्यान्सुभूतिस्तान्भिक्षूनेतदवोचत्। कुत्रायुष्यन्तो गताः कुतो वागताः। तेऽवोचन्। न क्वचिद्गमनाय न कुताश्चिदागमनाय भदन्त सुभूते भगवता धर्मो देशितः। आह। को नामायुष्मतां शास्ता। आहुः। यो नोत्पन्नो न परिनिर्वास्यति। आह कथं युष्माधिधर्मर्मः श्रुतः। आहुः। न बन्धनाय न मोक्षाय।" इति।[२७]

महायान सूत्रालंकार में भी कहा है -

सन्न चा सन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम्॥ इति[२८]

जिस प्रकार माया आदि स्वभाव से अनुत्पन्न अविद्यमान होते हुए लोक में मायादि शब्द वाच्य और मायादि विज्ञान गम्य होते हैं, इसी प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ये भी लोक प्रसिद्धि मात्र से उत्पाद्य किन्तु स्वभाव से अविद्यमान होते हुए भी भगवान् के द्वारा उसी प्रकार से विनेयजनों को अनुग्रह की दृष्टि से निर्दिष्ट हैं। इसलिये कहा है -

त्वक्स्नायुमांसास्थि समुच्छ्रये च,
उत्पाद्य संज्ञां मम पत्निरेषा।
मूढाहि बाला जनयन्ति रागं,
स्त्रियो न जानन्ति यथैव मायाम्॥[२९]
यथा कुमारी सुपिनान्तरस्मिं
सा पुत्र जातं च मृतं च पश्यति।
जातेऽति तुष्टा मृति दौर्मनास्थिता
तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्॥[३०]
यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका
यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्त भावना
तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्॥[३१]

नागार्जुन की यही कारिका अवधूतोपनिषद्, आत्मोपनिषद्, त्रिपुरातापन्युपनिषद् तथा आगे का अर्वाचीन उपनिषदों तथा धर्मग्रन्थों व दर्शनग्रन्थों में किंचित् पाठभेद से उद्धृत है।[३२]

मायावाद की संक्षिप्त रूपरेखा ही शांकरमत में पश्चात् पल्लवित होकर विशालरूप में परिलक्षित होती है, गवेषक मनीषिगणों का यही सिद्धान्त है।[३३] अद्वैतवेदान्त में जो स्थान दृष्टिसृष्टिवाद या अजातिवाद को प्राप्त है, वहीं बौद्ध जगत् में शून्यवाद का है। अतएव अजातिवाद का प्रतिपादक 'गौडपाद कारिका' ग्रन्थ भी शून्यवाद की प्रतिपादन शैली लिए हुए विद्वानों के कुतूहल एवं आकर्षण का एकमात्र केन्द्र बिन्दु बना हुआ है।

विज्ञानवाद के मौलिक ग्रन्थ लंकावतारसूत्र[३३] में भी जगत् को मरुमरीचिका व गन्धर्वनगर के रूप में प्रतिपादित किया है। किन्तु लंकावतारसूत्र में नागार्जुन की चर्चा आई है, अतः वह नागार्जुन के पश्चात् की कृति मानी जाती है। उसी के आधार पर चतुर्थ शताब्दी में योगाचार मत के संस्थापक विद्वान् असंग एवं वसुबन्धु ने महायान सूत्रालंकार तथा विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में विज्ञानवाद का विस्तृत सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञान से अतिरिक्त विश्व की सत्ता मानने से इन्कार कर दिया है। विज्ञानवाद से भी शांकरशैली बहुत कुछ प्रभावित प्रतीत होती है।

सह-आचार्य, संस्कृत विभाग, डा. बाबूलाल शर्मा
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

टिप्पणियाँ

१. म. शा., पृ. २१५-१६
२. म. शा., २४-९
३. म. शा., पृ. १९५
४. मध्यमकावतार, ६.२८
५. म. शा., २४.१८
६. म. शा., १८.९
७. लं. सू., २८५
८. प्र. वा., ३.३८८-३९१
९. ज्ञा. नि., पृ. ३५८
१०. ज्ञा. नि., पृ. ३५८
११. मध्यमकशास्त्र, ७-३४
१२. गौ. आ. शा., २.३१
१३. स. सू., ९
१४. ल. सू., म. का. १७.३३
१५. ल. सू., १०.८७५
१६. ल. सू., १०.८७५
१७. ब्र. सू., २.२.२८
१८. गौ. आ. शा., ४.९
१९. बृ. भा. वा., २१७
२०. मानसोल्लास, ९-११, १६-१९
२१. गौ. का., २.३२
२२. बोधिचर्यावतार, ९.१५०
२३. ल. सू., पृ. १९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२४. ल. सू., २.१; १०.१

२५. चतुःशतक, १७९

२६. म. का., १९.५

२७. म. वृ. पृ. ४९

२८. महायान सूत्रालंकार, १६.२

२९. म. शा.,. ९.१७

३०. म. शा., ९.११

३१. म. शा., ३७.२७

३२. अवधूतोपनिषद्, ८, आत्मोपनिषद्, ३१, त्रिपुरातापन्युपनिषद् ५, १०, ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १०

३३. There is another doctrinal point in the Madhyamika System which later was developed by Samkaracharya in his Mayavada. It is the introduction of the element of Maya to explain away conflicting views. The madhyamikas have but negative statements to make, corresponding to Upanisadic 'नेति नेति.' (**Madhyamikasastra**, Introduction; Mithila Institute, Darbhanga, 1960, p. XI.)

३४. ल. सू., १०.१४४, १०.८७५, १०.२७९, १०.२९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओशो (रजनीश) दर्शन : कुछ मान्यताएँ
(संदर्भ - गीता)

समकालीन भारतीय दर्शन के चिंतन की दिशा पर विचार करें तो अधिकांश कार्य परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं के पोषण का हुआ है। इसके अलावा कुछ प्रयासों को छोडकर दार्शनिक चिंतन या तो समकालीन पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित या भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन पर तुलनात्मक कार्य किया गया है। लगभग २६ वर्ष पूर्व प्रकाशित दार्शनिक त्रैमासिक में डा. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय उपर्युक्त लिखित विचार को कार्ल पॉटर के कथन से उद्धृत करते हैं कि '...इस समय भारत में दर्शन केवल शास्त्रीय पांडित्य, भारतीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिक मतों के निरूपण, वर्गीकरण और तुलनात्मक अध्ययन के स्तर पर उतरा हुआ है।'[१] आज भी यह प्रश्न प्रासंगिक है कि क्या कारणं है हम अपनी प्राचीन मान्यताओं, परम्पराओं से भिन्न कोई नवीन चिंतन नहीं करना चाहते हैं ? वर्तमान में व्यावहारिक दर्शन पर ध्यान केन्द्रित हो रहा है लेकिन हर तरह का भारतीय चिंतन अंततः अपना निष्कर्ष प्राचीन भारतीय मान्यताओं से प्रमाणित करवाने को आतुर है। दार्शनिक त्रैमासिक के उसी लेख में लेखक ने प्रो. जे. एन. मोहन्ती को उद्धृत किया है । उनका कथन है कि "भारतीय दार्शनिक चाहे वह जिस भी दार्शनिक समस्या या आन्दोलन या प्रविधि से संबंधित क्यों न हो, इसके प्रति सचेत हुए बिना नहीं रह सकता कि वह अपनी परम्परा से किस तरह जुडे।"[२] इस दिशा में यदि परम्परा से कुछ भिन्न, नवीन चिन्तन प्रस्तुत भी किया जाता है तो उसे उतना महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाता है। इसका एक उदाहरण ओशो (रजनीश) का दर्शन है। हालाँकि ओशो की विवेचना भी परम्परागत निष्कर्ष पर पहुँचती है लेकिन पद्धति में कुछ अंतर है।

ओशो के दृष्टिकोण को समझने पर एक अत्यन्त आश्चर्यजनक तथ्य की प्राप्ति होती है, भारतीय दर्शन तथा संस्कृति की सभी आधारभूत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मान्यताओं - यथा ईश्वर, आत्मा, मोक्ष, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि - का पिष्ठपेषण करने के बावजूद ओशो क्यों आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखे जाते हैं और दार्शनिकों व विचारकों की किसी भी श्रेणी में उन्हें क्यों मान्यता नहीं हैं? इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने 'साधन' संबंधी मान्यता में भारतीय परम्परा से भिन्न, एक विशेष पद्धति पर ज्यादा जोर दिया। भारतीय परम्परा 'साध्य' की पवित्रता के साथ 'साधन' के शुभत्व को भी अनिवार्य स्वीकार करती है अर्थात् शुभ साध्य हेतु जीवन का संयम, नियंत्रण, स्वाध्याय, सत्य आदि मूल्यों पर अवलम्बित होना अनिवार्य है। जबकि ओशो इच्छाओं तथा इंद्रियदमन को समस्त समस्याओं की जड मानते हैं तथा साधन के रूप में वे सभी प्रकार के दमन का विरोध करते हैं।

ओशो की कुछ मान्यताओं की तुलना गीता के दृष्टिकोण से करके इसे स्पष्ट किया जा सकता है। गीता के अध्याय-२ में विषयी इंद्रियों द्वारा भोगपरक बाह्य विषयों में संयोग से उत्पन्न परिणाम का उल्लेख है। जिसमें बतलाया गया है कि "विषयों का ध्यान करने से आसक्ति होती है। आसक्ति से काम तथा काम की आपूर्ति से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति नाश होने के कारण बुद्धि एवं जीवन नष्ट हो जाता है। इसीलिए इंद्रियों को विषयों से उसी प्रकार खींच लेना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने खोल में खींच लेता है।"[३]

बाह्य विषयों से संपर्क में इंद्रिय माध्यम है। यह संयोग होने पर भोग, अनुभव आदि सम्पन्न होता है। गीता के अनुसार चूँकि विषय-सुख, भोग अंतिम नहीं है इसीलिए इस अन्तहीन भटकाव में न उलझकर, मन और इंद्रियों को विवेकपूर्वक संयमित या नियंत्रित रखा जाना चाहिए। इस अवधारणा में इंद्रियों या बाह्य विषयों का निषेध नहीं है वरन् उन्हें 'साध्य' न मानने का निर्देश है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि, "इंद्रियों से घृणा करना उतना ही गलत है, जितना उनसे प्रेम करना। इंद्रियों के घोडों को रथ में से खोलकर अलग नहीं कर देना है, अपितु मन की रासों द्वारा उन्हें वश में रखना है।"[४]

साधन संबंधी इस प्रक्रिया के संदर्भ में ओशो की मान्यता है कि जो कुछ नैसर्गिक या जैविक है, उसे रोका नहीं जा सकता है। व्यक्ति की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषयसुख, भोग संबंधी इच्छाओं को न तो समाज के भय से, न शिक्षा व संस्कृति से और न ही बुद्धिगत सोच से नियंत्रित किया जा सकता है, यदि जबरदस्ती ऐसा किया जाता है तो उसे दमन कहते हैं। ओशो कहते हैं, ''अगर वह सब तुम्हारी खोपडी से बिल्कुल पोंछ दिया जाए, जो तुम्हें तुम्हारे समाज से, माँ-बाप से, शिक्षा और संस्कृति से मिला है तो भी कामवासना पैदा होगी क्योंकि यह वासना तुम्हें समाज से नहीं मिलती है, ये वासना जैविक रूप से तुममें *बिल्ट-इन* है।''[५] यह ऊर्जा है और जब दमन होता है तो इसका दुष्परिणाम समस्त जीवन-चक्र को खण्डित कर देता है तथा यह ऊर्जा अनेक नकारात्मक रूपों में फूट पडती है। इसीलिए इस ऊर्जा का दमन न होकर रूपान्तरण होना चाहिए। वे कहते हैं, ''छोडने की बात मत सोचो, छोडना नहीं, समझना है। त्याग नहीं, बोध...। जरूरत है इसके समग्रता को समझने की। अगर तुमने समग्रता से समझ लिया तो रूपान्तरण इसका परिणाम है।''[६] यही रूपान्तरण साध्य-प्राप्ति में सहायक है।

इस प्रकार गीता की मान्यता तथा ओशो की मान्यता में अंतर सिर्फ यह है कि गीता विवेकपूर्ण संयम पर बल देती है तथा भोगों के प्रति तटस्थ रहने को अनिवार्य बतलाती है जबकि ओशो नैसर्गिक रूपान्तरण को मानते हैं तथा भोग से गुजर कर, उसकी निःसारता के बोध को केन्द्रित करते हैं। इन दोनों मान्यताओं में साधन की दिशा व क्षेत्र अवश्य भिन्न-भिन्न हैं किन्तु दोनों में लक्ष्य, भोग से उठकर बुद्धिगत विवेक है। अतः यह अंतर गौण है फिर दोनों मान्यताओं में साध्य (मोक्ष) भी समान है।

गीता के मुख्य व्यावहारिक दार्शनिक विचार के संदर्भ में कहा जा सकता है कि एक अद्‌भुत विचारसरणी, जिसका परिणाम अर्जुन का युद्ध में प्रवृत्त होना इस दृष्टिकोण का प्रतीक है कि सारे समाधान, सभी प्राप्तव्य, इस द्वन्द्वमय भौतिक जगत् में उपस्थित हैं। प्रो. देवराज कहते हैं, ''अर्जुन के सामने समस्या थी कि वह अपने जीवन के क्रांतिकारी अवसर पर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कैसे करे। ...गीताकार ने इस प्रश्न को जीवन के चरम लक्ष्य के बडे संदर्भ में रखकर विचार किया, इस प्रकार गीता का ध्येय मोक्ष की साधना का निरूपण करना बन गया।''[७] हिरियन्ना कहते हैं कि, ''गीता पूर्णता की अवस्था में भी मनुष्य के लिए कर्म करते रहना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक बताती है।''[८] इस प्रकार इस जगत् में कर्ममय जीवन के प्रति गीता का दृष्टिकोण व्यावहारिक, सकारात्मक तथा व्यक्ति को ओजस्वी व ऊर्जावान् बनाना है।

ओशो भी कहते हैं, ''मैं संन्यासी को संसार से जोडना चाहता हूँ। मैं ऐसे संन्यासी देखना चाहता हूँ जो दुकान पर बैठे हों, दफ्तर में काम भी कर रहे हों, खेत पर मेहनत भी कर रहे हों - जो जिंदगी की पूरी सघनता में खडे हों-हार नहीं गए हों। भगोडे न हों-एस्केपिस्ट न हों-पलायन न किया हो।''[९] यह सत्य भी है कि यदि दर्शन व्यावहारिक समस्याओं को नकार दे, उपेक्षा भाव रखे, उनके प्रति निषेधात्मक या निवृत्त्यात्मक दृष्टिकोण रखे तो इससे समस्याएँ समाप्त नहीं हो जातीं वरन् जीवन अव्यवस्थित और दुविधापूर्ण हो जाता है । फिर दार्शनिक सिद्धांत यदि व्यावहारिक नहीं हो सकते हैं तो वह मात्र बौद्धिक व्यायाम है। अतएव एक ऐसी विचारधारा या जीवन शैली अनिवार्य है जो व्यक्तिगत, सामाजिक समस्याओं में संग्रहीत होकर, उन्हें व्यवस्थित तथा हल करते हुए साध्य को लक्षित करे। ओशो कहते हैं कि, ''मैं तुम्हें अखंड दृष्टि देना चाहता हूँ जिसमें कुछ भी निषेध नहीं है। मैं तुम्हें विधायक धर्म देना चाहता हूँ।''[१०] इस प्रकार गीता तथा ओशो व्यावहारिक, प्रवृत्तिवादी, आशावादी चिंतन व जीवन के समर्थक हैं।

गीता की एक अन्य विशेषता समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। मजहबी, साम्प्रदायिक न होते हुए गीता अनेक विचारों, सिद्धांतों, व्यवहारों का संगम है। एक मनोवैज्ञानिक मान्यतानुसार सभी व्यक्तियों में समान रूप से उपस्थित अभिप्रेरक तत्त्व बुद्धि, भावना तथा आन्तरिक कर्म (संकल्प, चयन) होते हैं। इनमें किसी एक तत्त्व की अधिकता तथा अन्य की न्यूनता एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करती है इसीलिए अलग-अलग स्वभाव के व्यक्ति होते हैं। बुद्धिगत स्वभाव के व्यक्ति को भावनात्मक क्रियाएँ असंगत लगती हैं। भावाधिक्य स्वभाव के व्यक्ति के लिए बौद्धिक तथ्य, विवेचनाएँ नीरस व दुरूह होती है। इसी प्रकार कर्मशील या मेहनती स्वभाव के व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम संतुष्टोपादक तथा सृजन का माध्यम है। यदि व्यक्ति को उसके स्वभावानुकूल दिशा या क्षेत्र प्राप्त होता है तो संभवतः सरलतापूर्वक साध्य उपस्थित होता है। गीता की यह विशेषता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि इसमें सभी प्रकार के स्वभाव के व्यक्तियों के लिए साधन या मार्ग का वर्णन है। ज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग, योगियों के लिए राज मार्ग, भावुक स्वभाव के व्यक्तियों हेतु भक्तिमार्ग व साधारण जन हेतु निष्काम कर्ममार्ग की अवधारणा हैं। गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक स्वभाव के व्यक्ति के बंधनं का मनोवैज्ञानिक निदान उपलब्ध है तथा गीता न तो किसी एक विशिष्ट विचारधारा को प्रस्तुत करती है न ही अन्य साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों का निषेध करती है। "उसका उपदेश किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं है, उसने अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया किन्तु मनुष्य मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला है। सब प्रकार की उपासना पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभूति है।"[११]

ओशो की विचारधारा में भी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। वे अपने चिंतन को किसी विशेष साँचों में ढालने का प्रयास नहीं करते वरन् जो कुछ सहज व स्वाभाविक है, उसे ही प्रकट करना चाहते हैं। ओशो कहते हैं, "मैं किसी धर्म का नहीं हूँ अतः मेरे लिए कोई भय का कारण नहीं है। मेरा कोई दर्शनशास्त्र नहीं है।"[१२] सभी पंथों, सिद्धांतों आदि में केंन्द्रित सत्य को स्वीकार करते हुए ओशो प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुकूल मार्ग का चयन करने को कहते हैं। "अपनी नियति, अपने व्यक्तित्व, अपने सायकोलॉजिकल टाईप को ठीक से समझकर अपने अनुकूल साधना-पद्धति को चुन लेना चाहिए।"[१३] इसे ही वे दूसरे शब्दों में कहते हैं कि, "धर्म जन्म से नहीं तय होना चाहिए, धर्म का चुनाव किया जाना चाहिए।"[१४] इसीलिए ओशो ने परस्पर विरोधी विचारधाराओं पर भी बिना पक्षपात के सहजतापूर्वक अपने विचार प्रकट किए हैं। कृष्ण, बुद्ध, महावीर, अष्टावक्र, पंतजलि ही नहीं वरन् उपनिषद्, तंत्र, ताओ, झेन, सूफी दर्शन आदि पर भी उनके व्याख्यान हैं। कबीर, नानक, मीरा, सहजो, वाहिद, फरीद, आदि संतों की वाणियों को आधुनिक मनोविज्ञान से संदर्भित कर व्यावहारिक विवेचन के अलावा राजनीति, कला, शिक्षा, समाज, परिवार आदि पर भी उनका मौलिक चिंतन उपलब्ध है। ओशो ने भी अपने दर्शन को किन्हीं परिभाषाओं तक सीमित न रखकर सभी प्रकार के विचारों का उसमें समन्वय किया है।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि २१वीं शताब्दी में दर्शन को स्थापित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व प्रमाणिक करने के लिए ध्यान-योग सर्वप्रमुख कारक या माध्यम है। ओशो भी कहते हैं कि, "अगर भविष्य में कभी किसी दुनिया में धर्म का विज्ञान स्थापित होगा तो इसकी आधारशिला योग बननेवाली है।"[१५] ध्यान योग एक प्रकार की आंतरिक सामन्जस्यता है। यह एक ऐसी विधि या प्रक्रिया है जिसमें आंतरिक ढाँचे को इस प्रकार संयोजित कर लिया जाता है जिससे व्यक्ति हर परिस्थिति में अविचलित रहता है तथा इस अविचलित अवस्था में आंतरिक ऊर्जा का क्षय न होकर समुचित प्रयोग होता है। गीता में योग से अभिप्राय मन इन्द्रियादि की पवित्रता व परम सत्ता की ओर अभिमुखता से है। श्री अरविन्द कहते हैं, "गीता के योग में कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणी-विभाग का विधान नहीं है, वह योग तो स्वाभाविक आत्मविकास की प्रक्रिया है।"[१६] योग की यही रामबाण महत्ता है कि वह किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक या दार्शनिक आदि मान्यताओं से आबद्ध न होते हुए एक ऐसी सार्वभौमिक अभिक्रिया है जिसका परिणाम प्रामाणिक तथा जिसे अपनानेवाला व्यक्ति निश्चयात्मक, एकाग्र और संतुलित हो जाता है। ओशो कहते हैं, "योग न तो आस्तिक है, न नास्तिक, योग एक सीधा विज्ञान है।"[१७] योग को आधुनिक मनोविज्ञान से जोडकर ओशो ने सामूहिक ध्यान पद्धतियों के अनेक रूपों में विकसित किया है। इसकी उपादेयता के संदर्भ में उनका मान्यतायुक्त कथन है कि, "ध्यान हमारी जिंदगी में उस डायमेंशन, उस आयाम की खोज है, जहाँ हम बिना प्रयोजन के, सिर्फ होने मात्र में, जस्ट बीइंग में आनंदित होते हैं।"[१८] इस प्रकार गीता तथा ओशो की उपर्युक्त कुछ मान्यताएँ व्यावहारिक तथा समान हैं।

इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि ओशो की मान्यताएँ परम्परामुख होने के बावजूद, सिर्फ साधन संबंधि नवीन दृष्टिकोण होने के कारण प्रतिष्ठित नहीं हैं, जबकि ओशो ने विज्ञान की नई खोजों, आधुनिक मनोविज्ञान आदि का उपयोग कर दर्शन का पुनर्विश्लेषण किया है। वर्तमान में मानव का जो समग्र रूप होना चाहिए, इसकी कल्पना ओशो ने की है वे उसे 'जोरबा द बुद्धा' कहते हैं। 'जोरबा द बुद्धा' ऐसा मानव है जो भौतिक जीवन का पूरा आनन्द मनाना जानता है और जो मौन होकर ध्यान में उतरने में सक्षम है । अर्थात् जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह से समृद्ध है। ओशो कहते भी हैं, "मैं भौतिकता और धर्म के बीच

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समन्वय का सेतु बना रहा हूँ। मैं चाहता हूँ यह देश धनी भी हो, ध्यानी भी हो।''[१९] इस प्रकार ओशो की मान्यताएँ वर्तमान, भविष्य हेतु एक उत्कृष्ट जीवनशैली है तथा ओशो इस सदी व अगली सदी के महान् विचारक व दार्शनिक है।

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र, डा. हरनाम सिंह अलरेजा
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय,
राजनांदगाव (छत्तीसगढ)

टिप्पणियाँ

१. दार्शनिक त्रैमासिक - १९७५, पृ. १४०
(गोष्ठी - समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति - लेखक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय)
२. वही - पृ. १४०
३. गीता, २-६२-६३,५८
४. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, सरस्वती विहार, दिल्ली, १९८२, पृ. १२०
५. ओशो, तंत्रसूत्र, भाग-२, रेबल पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, पृ. १६
६. वही, पृ. ३५, संदर्भ - ओशो टाईम्स, अप्रेल, १९९८, पृ. २९
''मनुष्य जिन चीजों को दबा लेता है, उन्हीं के साथ बँध जाता है। उनको छोडकर हट नहीं सकता और कहीं जा नहीं सकता।''
''मैं कहता हूँ नाचो, गाओ, उत्सव मनाओ लेकिन नाचना, गाना, उत्सव मनाना गन्तव्य नहीं है, लक्ष्य नहीं है, साधन है, साध्य परमात्मा है।'' ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. २१
७. देवराज, नन्द किशोर, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९९५, पृ. ९७
८. हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९९७, पृ. १२८
९. ओशो टाईम्स, जनवरी, १९९७, पृ. १८
१०. ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. २२
११. सर्वपल्ली, राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९९५, पृ. ४२६
१२. ओशो टाईम्स, नवम्पर, १९९९, पृ. ५५
१३. ओशो टाईम्स, सितम्बर, १९९९, पृ. ३३
१४. ओशो, तंत्रसूत्र, भाग-२ रेबल पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, पृ. १५३
१५. ओशो टाईम्स, मार्च, १९९८, पृ. १३
१६. श्री अरविन्द, गीता प्रबंध, श्री अरविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी, १९६९, पृ. १५
१७. ओशो टाईम्स, मार्च, १९९८, पृ. ३३
१८. ओशो टाईम्स, मई, १९९७, पृ. १५
ओशो टाईम्स, मार्च, १९९७, पृ. १५
"योग का पहला काम तो यह है कि उन नब्बे प्रतिशत शक्तियों में जे जो सोई पडी हैं, उन शक्तियों को जगाना, जिसके माध्यम से अन्तर्यात्रा हो सके।"
१९. ओशो टाईम्स, फरवरी, १९९७, पृ. ७
ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. ६
"मैं, एक जागते हुए, जीते हुए, हँसते हुए, नाचते हुँए धर्म को पृथ्वी पर फैलता देखना चाहता हूँ। ...जो जीवन का त्यागी न हो, जो जीवन का निषेध न करता हो।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैज्ञानिक ज्ञान का बहुआयामी परिप्रेक्ष्य

हरेक ज्ञान-क्षेत्र की अपनी प्रविधि होती है । इस दृष्टिसे विज्ञान की भी अपनी प्रविधि है जिसके द्वारा वह ज्ञान की प्राप्ति करता है । विचार और तकनीक की दृष्टि से मानव इतिहास में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों का महत्त्व इसलिए है कि इन सदियों में विज्ञान का बहुमुखी विकास संभव हुआ जिंसने किसी न किसी रूप में, समाज, प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव और मानवेतर प्राणियों के रहस्यों और प्रक्रियाओं को एक तर्कसम्मत आधार दिया जो वस्तुतः प्रेक्षण, प्रयोग और साक्ष्यों के आधार पर निगमित होने के कारण 'वस्तुगत व्याख्या' की एक ऐसी प्रविधि का विकास हुआ जिसने कमोवेश रूप से ज्ञान के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया । यदि इस परिप्रेक्ष्य में विज्ञान के इतिहास को देखें तो हम विज्ञान के दो पक्षों का सापेक्ष स्वरूप प्राप्त करते हैं - एक उसका तकनीकी पक्ष और दूसरा उसका वैचारिक या चिंतन पक्ष । वैज्ञानिक ज्ञान के ये दो पक्ष हैं । बर्ट्रेंड रसेल ने तकनीकी पक्ष को 'शक्ति-मूल्य' की संज्ञा दी है जिसका प्रयोग नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है । सामान्य रूप से हम इसी तकनीकी पक्ष को विज्ञान का पर्याय समझने लगे जबकि यह विज्ञान का मात्र एक पक्ष है, उसका अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका वैचारिक पक्ष है जिसे रसेल 'प्रेम-मूल्य' की संज्ञा देता है । यह पक्ष विज्ञान के सार्थक रूप को व्यक्त करता है क्योंकि इसके द्वारा हम प्रकृति, ब्रह्मांड, जीव, जगत् तथा मानव के संबंधों और रहस्यों को साक्ष्यों और प्रयोगों के आधार पर निगमित करते हैं । इस प्रकिया में तकनीकी पक्ष का प्रयोग ज्ञान के विकास के निमित्त किया जाता है । असल में, यह विज्ञान तकनीक का सकारात्मक प्रयोग है । इसके द्वारा हम नकारात्मक प्रयोग का समाना कर सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सही विवेक-दृष्टि जो हमें विज्ञान द्वारा प्राप्त है, उसके माध्यम से आज हमारे सामने जो 'विविध संकट' हैं, उनका निदान भी 'मानवीय वैज्ञानिक दृष्टि' के द्वारा ही संभव है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महापंडित राहुल ने वैज्ञानिक ज्ञान को 'प्रयोगात्मक चिंतन' से जोडा है जो परोक्ष रूप से तकनीक (प्रयोग) और चिंतन का सापेक्ष रूप है । राहुल जी प्रयोग तथा प्रेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर किसी वस्तु की 'वस्तुवादी व्याख्या' को अर्थ देते हैं जो उनके सृजन और चिंतन का आधार है । ज्ञान का यह प्रयोगात्मक पक्ष जहाँ ज्ञानप्राप्ति का साधन है, इस साधन का न्यूनाधिक प्रयोग हमें अन्य ज्ञानक्षेत्रों (यथा पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, इतिहास तथा समालोचना आदि) में भी मिलता है जो यह तथ्य प्रकट करता है कि वैज्ञानिक पद्धति मात्र विज्ञान के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् उसका प्रयोग एक बृहत्तर परिदृश्य को समक्ष रखना है जो परोक्षतः अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष को भी संकेतित करता है । इस वैज्ञानिक पद्धति में वैज्ञानिक दृष्टि का समावेश रहता है जो प्रयोगाश्रित विवेक का फल है ।

वैज्ञानिक ज्ञान मूलतः गत्यात्मक और द्वंद्वात्मक है । इस गति में पूर्व के सिद्धन्तों और संप्रत्ययों का महत्त्व रहता है क्योंकि इन्हीं के आधार पर ज्ञान का क्रमशः विकास होता है । यह अवश्य है कि इनमें से कुछ संप्रत्यय और सिद्धान्त उतने प्रासंगिक नहीं रह जाते हैं जो आगे के ज्ञान विकास को गति दे सकें, मगर इनका ऐतिहासिक महत्त्व रहता है । यह स्थिति कमोवेश रूप में सभी ज्ञानानुशासनों में प्राप्त होती है । विकास की यह प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है । इस प्रक्रिया के प्रकाश में विज्ञान में 'विश्लेषण' (एनालिसिस) की धारणा को समझना आवश्यक है । विज्ञान-चिंतन में विश्लेषण वह प्रक्रिया है जो 'पूर्ण' (होल) और 'अंश' (पार्ट्स) के संबंध को रेकांकित करती है । विज्ञान में 'पूर्ण' वह तत्त्व है जो 'अंशों' में विकसित हो सके । इसी का स्पष्टीकरण प्रो. इडिंगटन इस प्रकार करते हैं- "संसार के समस्त रूप-प्रकार, जो प्रेक्षणीय हैं, वह तत्त्वों के मध्य भिन्न संबंधों के द्वारा व्यक्त होते हैं ।" (All the varieties in the world, that all is observable come from the variety of relations between them) दूसरे शब्दों में अंश, घटना, क्षण और व्यक्ति का महत्त्व इसमें है कि वे कहाँ तक 'पूर्णता' के व्यंजक हैं क्योंकि 'अंशों' का सहअस्तित्व 'पूर्णता' की सापेक्षता में व्यक्त होता है। असल में, विज्ञान इस 'अंश' या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षण आदि के द्वारा प्रकृति के सूक्ष्म स्तरों की ओर गतिशील होता है । इस आणविक युग में प्रत्येक 'क्षण' 'अनंतता' का द्योतक है। प्रकृति और ब्रह्मांड की उपआणविक स्थितियाँ इसी ओर संकेत करती हैं जो विज्ञान के हरेक क्षेत्र, चाहे वह गणित, भौतिकी, अंतरिक्ष विज्ञान या जीवशास्त्र हो - सभी में कमोवेश रूप से इस 'सूक्ष्म' की ओर गतिशील हैं । भौतिकी में इलेक्ट्रान, न्यूट्रान आदि, जीवशास्त्र में कोश, अतक (टिशू) तथा वाइरस आदि - ये जितने भी तत्त्व हैं, वे सूक्ष्म संरचना की ओर संकेत करते हैं । अतः, पदार्थ का इस सूक्ष्मीकरण की ओर संकेत इस बात का सबूत है कि प्रकृति और विश्व इन उपआणविक तत्त्वों के द्वारा अपनी संरचना को इंगित करते हैं ।

विज्ञान के स्वरूप तथा विकास में अनेक विज्ञानचिंतकों का मत है कि न्यूटन का गणित विज्ञान के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और आगे चलकर विज्ञान के विकास में ज्यामीति (ज्यूमेट्री) के साथ अंकगणित का जो स्थान रहा है, वह एक ऐसा तत्त्व है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है । ए. एन. वाइटहेड का तो यहाँ तक मत है कि ''गणित ने वह आधार प्रस्तुत किया जिसने 'कल्पनात्मक विचार' (इमैजिनेटिव थॉट) के द्वारा वैज्ञानिकों को प्रकृति के प्रेक्षण की ओर अग्रसर किया ।'' गणित के क्षेत्र में अंकों और अक्षरों का प्रयोग विश्व की गणना और संरचना को इस तरह प्रस्तुत करता है कि विश्व का सारा परिदृश्य वृत्तों, रेखाओं और बिंदुओं का संसार ही हो जाता है । आइन्स्टाइन ने विश्व को वृत्तों तथा वक्र-सरल रेखाओं के द्वारा निर्मित माना है । गणित का शून्य अंक (जीरों) एक व्यापक धारणा है । ऋग्वेद में शून्य अंक के बारे में कहा गया है कि यह वह तत्त्व है जो ब्रह्मांड को गतिमान् करता है (वैदिक सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, प्रकाश परिमल, से)। यह शून्य अंक दर्शन, धर्म, साहित्य, विज्ञान तथा समाज में वृत्त, गोलक, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मांडीय अंडकोश (कास्मिक एग), चक्र (पहिया) आदि रूपों में अपने प्रतिकार्य को व्यक्त करता है । चक्र वह रूप है जो सभ्यता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में विकसित होता है । गोलक और वृत्त मिथकीय आद्यरूप (आरकिटाइप्स) के अर्थ को व्यक्त करते हैं तथा ब्रह्मांडीय अंडकोश विज्ञान के क्षेत्र में सृष्टि के आदिरूप को संकेतित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता है । इस प्रकार शून्य अंक गणित का अंक होते हुए भी भिन्न ज्ञान क्षेत्रों में अपने प्रतिकार्य के साथ प्रयुक्त होता है । शून्य अंक का यह एक व्यापक परिप्रेक्ष्य है ।

विज्ञान के व्यापक क्षेत्र में विचारों तथा अवधारणाओं का विस्फोट हुआ है और अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में भी । विज्ञान की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं यथा गणित, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा खगोल-विज्ञान आदि । अतः यहाँ पर मैं उन्हीं विचारों को लूँगा जो मेरी दृष्टि से विज्ञान के व्यापक परिदृश्य को संकेतिक कर सकें । इन संप्रत्ययों तथा विचारों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य ज्ञान-क्षेत्रों को प्रभावित किया है । ऐसे विचार और संप्रत्यय हैं - विकासवाद, सापेक्षवाद, प्रमात्रा सिद्धान्त तथा खगोल-विज्ञान ।

विकासवादी विचारधारा में मानव और मानवेतर प्राणियों के क्रमिक विकास को दर्शाते हुए उनके मध्य एक 'सूत्र' को व्यक्त किया है । मानवनामधारी प्राणी को उसने विकास का उच्चतम रूप माना तथा किसी दैवी शक्ति के द्वारा उसके अवतरण को अस्वीकार किया जो धर्म की एक प्रमुख धारणा है, विशेषकर ईश्वरवादी धर्मों की । इस विकास-वादी सिद्धान्त ने अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्राकृतिक निर्वाचन तथा योग्यतम की विजय या प्रभुत्व के तत्त्वों के द्वारा जीवजगत् के विकास को, द्वन्द्वात्मकता के द्वारा प्रदर्शित किया और इन्हें मानव प्राणी पर भी घटित किया । यहाँ पर यह तथ्य ध्यान में रखना जरूरी है कि योग्यतम और बलवान की विजय का नियम मानव पर पूरी तरह से लागू नहीं होता है । इसी के साथ इस विकासक्रम ने यह भी दिखाया कि जैसे जैसे विकास निम्न से उच्चतर प्राणियों की ओर अग्रसर होता है, वैसे वैसे 'संगठन की जटिलता' भी बढती जाती है और मानव में आकर यह जटिलता अपने चरम रूप में प्राप्त होती है । मस्तिष्क की संरचना, प्रजनन क्रिया की जटिलता, आगे के दो पैरों का हाथों के रूप में कार्यशील होना तथा मुख-विवर की जटिलता से ध्वनि और शब्दों का उच्चारण - ये कुछ ऐसी जीवशास्त्रीय विशेष्यताएँ हैं जो मानव को मानवेतर प्राणियों से अधिक विकसित और विशिष्ट बनाती हैं ।

ज्यूलियस हक्सले, हाल्डेन तथा डी. काम्ते ने मानव को इसी अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में विशिष्ट और दिव्य माना है जो विकास का परिणाम है न कि अनायास अवतरण ! डी. काम्ते ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी' में यह मत रखा है कि जहाँतक शारीरिक संगठन का प्रश्न है, अब मानव का विकास उस क्षेत्र में संभव नहीं है, लेकिन मानसिक स्तर पर वह विकास कर सकता है । यह भावी विकास का संकेत है । आज मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान तथा चेतना की उच्चतर अवस्थाओं का जो लगातार विकास हुआ है, वह एक तरंह से मानव के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का फल है । मनोविश्लेषण तथा परामनोविज्ञान ने मानवीय चेतना और उसके रहस्यों तथा अभिवृत्तियों का जो वस्तुगत आधार (वैज्ञानिक पद्धति द्वारा) प्रदान किया है, वह मानवीय चेतना का द्वन्द्वात्मक रूप ही है । फ्रायड तथा युंग ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने मानवीय चेतना के स्तरों का जो उद्‌घाटन किया है, वह मूलतः वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही संभव हुआ है । विकास-क्रम में 'द्वन्द्वात्मकता' का विशेष स्थान है जो मार्क्सवादी-दर्शन का एक प्रमुख तत्त्व है । बौद्ध-दर्शन में द्वन्द्वात्मकता का एक रूप उनके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' अवधारणा में प्राप्त होता है जो एक उत्पाद से दूसरे उत्पाद को उत्पन्न मानता है और गुणात्मक परिवर्तन को विकास का मूल ! द्वन्द्व-प्रक्रिया को ज्ञान के भिन्न क्षेत्रों जैसे इतिहास, दर्शन, साहित्य तथा विज्ञान आदि में भी स्थान प्राप्त है ।

विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्ष-दर्शन या सापेक्षतावाद का अपना वैचारिक महत्त्व है क्योंकि इस सिद्धांत ने ब्रह्म और जगत् की संरचना पर नए तथ्य समक्ष रखे हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि न्यूटन के समय तक दिक् और काल को निरपेक्ष तथा अनंत स्वीकार किया गया, पर आगे चलकर आइंस्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष तथा आबद्धहीन माना (अनबाउंडेड)। सारा ब्रह्मांड दिक्-काल के चतुर्मितीय सातत्य में (फोर डाइमन्शनल स्पेस टाइम कान्टिनुअम्) विद्यमान है। आइन्स्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष मानते हुए उसे "द्रष्टा" और गति-सापेक्ष माना। यहाँ वस्तुवादी दृष्टि के साथ व्यक्ति या द्रष्टा और उसकी गति को स्वीकार किया गया। यह विषयीगत दृष्टि (सब्जेक्टिब) का विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप है जो वस्तुगत दृष्टि की सापेक्षता में अपना महत्त्व रखता है। विज्ञान में अब यह भी मान्य हो गया है जब द्रष्टा किसी वस्तु का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रेक्षण करता है, तो वह उस वस्तु में 'क्षोभ' उत्पन्न करता है, अतः दृष्टा (उपकरण) का हस्तक्षेप किसी न किसी रूप में होता है। अतः दृष्टा और वस्तु का, मन और पदार्थ का तथा पदार्थ और ऊर्जा का - ये सभी युग्म सापेक्ष हैं। यह अवधारणा निरपेक्षवादी दर्शनों के प्रतिकूल पडती है।

विचारों के क्षेत्र में 'सापेक्षवाद' ने जो नयी भूमिका अदा की, वही भूमिका हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धांत ने प्रस्तुत की। उसके अनुसार भौतिक पदार्थ के दो पहलू सदा पाए जाते हैं, एक पहलू 'कण' (पार्टिकल) और दूसरा तरंग (वेव)। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक तत्त्व किसी समय 'कण' की तरह और दूसरे समय 'तरंग' की तरह कार्य करते हैं। प्रकाश (फोटान) तथा इलेक्ट्रान कणो में ये दोनों पहलू स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं।

प्लांक ने यह भी प्रदर्शित किया कि प्रकाश और भौतिक पदार्थ में कोई अंतर नहीं है। हाइजेनबर्ग के अनुसार किसी भी समय एक कण की यथार्थ स्थिति और वेग को एक साथ जानना असंभव है। अतः किसी कण की यथार्थ स्थिति और वेग को युगपत् रूप में ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। यह अवश्य होता है कि संभाव्य नियमों का प्रयोग करके वैज्ञानिक अनेक कणों के परिप्रेक्ष्य में ''पूर्वकथन'' कर सकते हैं अर्थात् सांख्यिकी नियमों के प्रयोग के द्वारा वह 'कण' के भविष्य के बारे में पूर्वकथन कर सकते हैं। अतः कण और तरंग का मापन ठीक एक समय नहीं हो सकता। उपआणविक तंत्र में इलेक्ट्रान की कक्षा निश्चित न होने के कारण उसकी स्थिति को निश्चित रूप से बताया नहीं जा सकता है। अनिश्चितता यह बताती है कि भौतिक पदार्थों में व्यवस्था नहीं है और यदि है तो वह भी सांख्यिकीय दृष्टिकोण से आरोपित की जा सकती है। अतः परिमित मापक्रम (फाइनाइट स्केल) के द्वारा ही भौतिक सत्ताओं में व्यवस्था प्रदर्शित की जा सकती है।

क्वांटम या प्रमात्रा भौतिकी में भौतिक सत्ताओं का सम्पूर्ण वस्तुपरक अर्थ-निर्णय नहीं किया जा सकता है। असल में इन क्वांटम ऊजाओं का स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें पूरी तरह से मापना असंभव है। उसका दार्शनिक पक्ष यह है कि प्रकृति में ''धुंधलापन'' का रूप है और इस बिंदु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर डाना जोहार (Danah Zohar) का कथन है कि 'प्रमात्रा-अनिश्चियवाद' दर्शन के केंद्रीय प्रश्न से सीधे टकराता है और वह है "यथार्थ का स्वरूप" जो संभाव्य का विषय है।

इससे एक अन्य तथ्य यह प्रकट होता है कि उपपरमाणविक सत्ताएँ कार्य-कारण के नियम को पूरी तरह से पालन नहीं करती हैं। अतः यहाँ पर कारणता का नियम (काजेशन) पूरी तरह से लागू नहीं होता। दूसरी ओर के. आर. पॉपर के अनुसार 'स्थूल वस्तुओं संबंधों में कार्य-कारण नियम भी कार्य करता है; अतः इन दोनों क्षेत्रों के बीच जो विरोधी भाव है, उसे दूर किया जाना कठीन कार्य है (पॉपर की पुस्तक "लाजिक आफ सइन्टिफिक डिस्कवरी" से) । मेरे विचार से हरेक नियम में अपवाद होते हैं जो एक वैज्ञानिक दृष्टि है, यही स्थिति यहाँ पर भी है।

प्रमात्रा सिद्धांत इलेक्ट्रान में प्रोटो-चेतना (आरंभिक रूप) के रूप को प्रस्तुत करना है जो एक प्रकार की "सजगता" (अवेयरनेस) का रूप है। प्रत्येक इलेक्ट्रान संवेदनशील होता है और साथ ही उसकी तरंग-ऊर्जा में एक अव्यक्त अर्थ निहित रहता है जो सारी स्थिति में एक प्रेरक तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है। यह दशा चेतना के आरंभिक रूप को प्रकट करती है जो "सजगता" का रूप है। इसे स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (फ्री विल) का आदिम रूप कह सकते हैं। इस प्रकार इस आदिम चेतना का क्रमिक विकास अजैव और जैव जगत् में होता है। यहाँ पर डायना जोहार का मत है कि यह तथ्य प्रकट करता है कि विश्व में एक मूल प्रकार का 'पदार्थ' से जिससे अजैव और जैव जगत् का क्रमशः विकास हुआ। इनमें से कुछ विकसित जीवन चेतना को प्रदर्शित करते हैं, और प्रमात्रा स्तर पर, उनमें एक "सृजनात्मक संवाद" पदार्थ और चेतना के मध्य होता है। मनुष्य में यह अजैव पदार्थ प्रत्येक सात वर्ष में परिवर्तित होता है। अतः पदार्थ और चेतना दोनों "मूल पदार्थ" के दो रूप हैं अर्थात् मानसिक और भौतिक का एक मूल स्रोत है और वे सापेक्ष संबंधित हैं।

"तरंग" और "कण" में भी यह सापेक्ष संबंध है जो भौतिक तत्त्व के दो स्तर या पहलू हैं। अतः वाइटडेड का कथन है कि मानसिक और भौतिक में कोई अंतर नहीं है, एक मूल वास्तविकता दोनों का आधार है-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्रोत है। (''क्वांटम सेल्फ'', डाना जोहार से) अतः प्रमात्रा स्तर पर भी आरंभिक या प्रोटो चेतना का रूप प्राप्त होता है और इस प्रोटो-चेतना को अजैव और जैव जगत् से संबंधित कर यह तथ्य प्रकट होता है कि प्रोटो-चेतना का महत्त्व विकास-प्रक्रिया में भी है।

विज्ञान के क्षेत्र में प्रमात्रा सिद्धांत का अपना महत्त्व है, तो दूसरी ओर, खगोल विज्ञान में ब्रह्मांड की संरचना को लेकर नए तथ्य सामने आए है। खगोल वैज्ञानिक यह स्वीकार करने लगे हैं कि यह ब्रह्मांड कुछ आधारभूत सत्ताओं द्वारा बना है। उस दृष्टि से सारे विश्व की व्याख्या की जा सकती है। आइन्स्टाइन ने ''संगठन क्षेत्र-सिद्धांत'' (यूनीफाइड फील्ड थियोरी) के द्वारा यह सत्य प्रस्तुत किया कि ब्रह्मांड की सारी वस्तुएँ, घटनाएँ, और प्रक्रियाएँ यथा ग्रह, नक्षत्र, नीहारिकाएँ, भिन्न प्रकार की तरंगें किरणें आदि एक संगठित क्षेत्र के अंदर अवस्थित और क्रियाशील हैं। विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धांत ने यह तथ्य सामने रखा कि ब्रह्मांड का दिक् शून्य नहीं है, उसमें भौतिक सत्ताएँ क्रियाशील रहती हैं। ऐसे स्थलों को 'क्षेत्र' कहा गया। मैक्सवेल ने इस 'क्षेत्र' की व्याख्या इस तरह की कि इस क्षेत्र में विद्युतीय और चुम्बकीय क्षेत्रों का सम्पर्क होता है तथा ऊर्जा का सतत् भौतिक पदार्थ के साथ सम्पर्क होता है (जे. सी. मैक्सवेल की पुस्तक ''मैटर एण्ड मोशन'' से) आइन्स्टाइन ने अपने सापेक्षवादी सिद्धांत में ऊर्जा और पदार्थ का व्यापक प्रयोग किया और यह मत रखा कि ऊर्जा और पदार्थ में कोई मूलभूत अंतर नहीं है क्योंकि ऊर्जा पदार्थ में और पदार्थ ऊर्जा में रूपांतरित होते हैं। यह सृष्टि की सतत् प्रक्रिया है।

सृष्टि की संरचना को लेकर एक अन्य महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय प्रसरणशील ब्रह्मांड (एक्सपाडिंग यूनीवर्स) का है जो इस शताब्दी की (बीसवीं तथा इक्कीसवीं भी) एक महत्त्वपूर्ण घटना है। खगोल वैज्ञानिक इस तथ्य से परिचित थे कि निहारिकाएँ हमसे दूर जा रही हैं। दूर होते जाने का यह प्रेक्षण हमें ब्रह्मांड के इतिहास के बारे में जानकारी देता है। हमारी आकाशगंगा भी एक नीहारिका है और इसकी तुलना में भिन्न नीहारिकाएँ भिन्न गति से दूर भागती जा रही हैं। अधिक दूर नीहारिकाएँ २०,००० कि. मी. प्रति सेकेंड की गति से दूर होती जा रही है। हब्बल ने इन प्रेक्षणों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि इन नीहारिकाओं के दूर जाने की गति का मान हमारी दूरी पर निर्भर करता है। उस प्रकार, नीहकारिकाओं की दूरियाँ ज्ञात की जा सकती हैं। अतः प्रसरणशील ब्रह्मांड से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मांड का विस्तार समरूप से हो रहा है अर्थात् प्रेक्षकों की सापेक्षता में सभी नीहारिकाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं कि वे दूर जा रही हैं। ब्रह्मांड के प्रसरण से यह मतलब नहीं है कि नीहारिकाएँ और उनका समूह स्वयं फैल रहा है।

अब प्रश्न है कि ब्रह्मांड में सतत ऊर्जा का जो स्रोत है, वह कहाँ से आता है ? इसके लिए वैज्ञानिकों ने "पृष्ठभूमि पदार्थ" (बैकग्राउंड मैटेरियल) और 'अदृश्य पदार्थ' की संकल्पना की है। यह एक तात्त्विक संदर्भ है जो भौतिक तत्त्व के आधार पर निगमित किया गया है।

एक अन्य संकल्पना खगोल वैज्ञानिकों की यह है कि हमारा यह विश्व अपरिमित नहीं है, वरन् परिमित है। यह संभव है कि हमारे विश्व के अलावा और भी अनेक ब्रह्मांड 'दिक्' में हो। हमारा यह विश्व भौतिक पदार्थों से बना है, पर दूसरी ओर अन्य विश्व भौतिक तत्त्वों के विपरीत तत्त्वों से निर्मित हुए हैं। हमारे ब्रह्मांड को "कॉसमास" कहा जाता है और इस दूसरे ब्रह्मांड को "एंटीकॉस्मास" कहा जाता है। अतः खगोल वैज्ञानिकों का यह मानना है कि यह सारा विलोमी ब्रह्मांड भौतिक पदार्थों के विपरीत तत्त्वों से बना है। यह हमें तात्त्विक आशय की ओर ले जाता है जो यह प्रकट करता है कि विज्ञान भौतिक आधार के बल पर यदा कदा तात्त्विक आशयों की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान अपनी प्रविधि तथा संप्रत्ययों के द्वारा प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव तथा मानवेतर प्राणियों के संबंध की तथा उनकी प्रक्रियाओं को जहाँ वस्तुगत आधार देता है, वही वह विषयीगत हस्तक्षेप को भी आवश्यकतानुसार मान्यता देता है। यह भी वैज्ञानिक प्रविधि की व्यापकता है कि यह अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में प्रवेश कर अधिकतर ज्ञानानुशासनों की इस लालसा को व्यक्त करता है कि वे भी अपने को विज्ञान कहलाने की स्थिति तक पहुँचा सकें।

विज्ञान ने उपआणविक स्थिति में चेतना के प्रोटो या आदि रूप को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संकेतित कर, उसे अजैव व जैव जगत् से संबंधित किया है। अतः विज्ञान का यह वैचारिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है जिसके उचित निर्धारण की आवश्यकता है।

५ झ १५, जवाहरनगर,
जयपुर - ३०२००४

डा. वीरेन्दसिंह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर्यावरण दर्शन : व्यावहारिक नीतिशास्त्र का एक नवीन विचार

पर्यावरण पर विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिए विश्व का प्रथम सम्मेलन ५ से १४ जून १९७२ ई. को स्वीडन के स्टॉकहोम में सम्पन्न हुआ। इसमें स्पष्ट कहा गया कि पर्यावरण प्रदूषण एक अंतर्राष्ट्रीय खतरा है। इसके संरक्षण के लिए सम्मिलित प्रयास किये जाने आवश्यक हैं। आचार्य तुसली का कथन है - "कहने को यह कहा जाता है कि आज मानव ने बडा विकास किया है, पर जरा बारीकी से टटोलें, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है ? क्या उसने अपने जीवन में सुख और शांति पाई है ? स्पष्ट झलकेगा, नहीं। उसका जीवन आज बुरी तरह प्रताडित और पीडित जैसा है। बहुत कुछ पाने पर भी खोया-खोया सा है।"[१] दिन प्रतिदिन मानव का मानव के प्रति सम्मान, विश्वास और प्यार कमसेकम तर होता जा रहा है। हम सबको इसका कारण खोजना होगा।

आज हमारी सम्पूर्ण सोच 'मैं' तक सीमित होकर रह गई है। 'मैं' और 'मेरा' के इस दुष्चक्र ने हमारे विवेक को जैसे कैद ही कर लिया है। हमारी 'स्व-केन्द्रित' जीवन-पद्धति ने हमारे समक्ष अनेकों समस्याओं का अम्बार लगा दिया है। भ्रष्टाचार, पर्यावरण-विनाश, दहेज, अशिक्षा इत्यादि समस्याओं के मूल में जाने पर हम पाते हैं कि हमारा मन ही प्रदूषित हो गया है। हमारा चिंतन, हमारी सोच, हमारे विचार जैसे सब ही प्रदूषित हो गये हैं।

हमारे दूषित चिंतन ने हमारे आचरण को, हमारे चरित्र को दूषित कर दिया है। इसी कारण हमारे 'अविवेकपूर्ण भोग' ने हमारे समक्ष पर्यावरण-विनाश का महासंकट खडा किया है। "अब तो मूल सवाल अस्तित्व और विनाश का है। क्या हम एक पुंजाति के रूप में जिंदा रहना चाहते हैं या हमेशा-हमेशा के लिए सामूहिक मौत की ओर बढना चाहते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं ?"[२] इस भयावह परिस्थिति का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमने अपना आदर्श पश्चिम के उद्योगप्रधान देशों को माना है। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए हमने उनकी पद्धतियों को अपनाया है।[३] भारत का तथाकथित शिक्षित, बुद्धिजीवी व अपने को प्रबुद्ध मानने वाला वर्ग सांस्कृतिक धारा से बहुत दूर चला गया है, पर आज भी सामान्य जन अपने युग-युग के संचित आदर्शों को जीवित रखे हुए हैं और इसीलिए भारत आज भी अजेय है।[४] आज सबसे समृद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका में इस भोगप्रधान सभ्यता ने बाह्य पर्यावरण को तो दूषित किया ही है, लोगों की कलात्मकता, सृजन का सुख, प्रदूषणमुक्त तकनीकी आदि को भी बुरी तरह प्रभावित किया है। परिवार टूट गये हैं, ५० प्रतिशत लोग विवाहोच्छेद से परेशान हैं, २५ प्रतिशत परिवारों में एक ही व्यक्ति है और प्रत्येक ६ में से १ व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से विक्षिप्त या मानसिक रोग से पीडित है।[५]

केवल बाहरी विकास ही वास्तव में सम्पूर्ण विकास नहीं है। इसीलिए गांधीजी ने बाह्य जगत् की खोज के साथ अंतःजगत् की खोज करने के लिए अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का विचार रखा था। उनके अनुसार अध्यात्म के बिना विज्ञान अंधा है, और विज्ञान के बिना अध्यात्म पंगु। आज की सभ्यता एकांगी है, इसीलिए वह शरीर-सुख में ही धन्यता को अपना आदर्श समझती है। शरीर-सुख की कभी तृप्ति नहीं हो सकती।[६] कहा गया है - 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।'

अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम्।
करधृतकंपितशोभितदंडं तदपि मुंचति आशापिंडम्।।

भारतीय नीतिशास्त्र ने चित्तशुद्धि की अनिवार्यता दर्शाते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि दुर्गुणों पर विजय पाने तथा अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रियसंयम आदि सद्गुणों के अभ्यास की शिक्षा दी गई है।[७] विचार और व्यवहार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि चित्त शुद्ध है तो निश्चित रूप से व्यक्ति का व्यवहार भी ठीक होगा।

भारत में नैतिक विचारणा के आधारभूत प्रश्नों का उत्तर दर्शन तथा धर्म देते आये हैं। नीति को धर्म से केवल स्वीकृति और अनुज्ञा ही नहीं अपने अस्तित्व का मौलिक आधार भी मिला है।[८] मनुष्य का जन्म बडी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कठिनाइयों के बाद, बडी तपस्या के बाद प्राप्त होता है इसका सदुपयोग किया जाना चाहिए। रामचरित मानस में कहा है -

बडे भाग मानुस तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥[९]

मनुष्य जीवन की गरिमा को स्थापित करते हुए, गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि मनुष्य जीवन बडे ही भाग्य से प्राप्त होता है, क्योंकि यही जीवन है जहाँ संकल्प की स्वतंत्रता है, अपनी स्वेच्छा से कर्मों के चुनाव करने के लिए मानव स्वतंत्र है। सत्कर्म करके व्यक्ति अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकता है। देवता अपने पूर्व के कर्मों के फल को ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु नवीन कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु मनुष्य अपने सत्कर्मों के द्वारा जैसा चाहे वैसा भविष्य निर्मित कर सकते हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में नैतिक मूल्यों के संवर्धन पर जोर दिया है, किंतु वर्तमान में हम इन मूल्यों से दूर जा रहे हैं। 'साधन-साध्य शुचिता' को हमने अपने जीवन से विस्मृत ही कर दिया है। आज परिणामवादी संस्कृति में प्रतिफल को ही अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। तथा मन, वचन व कर्म की एकता समाप्त हो गई है। वर्तमान में हमारी मन, वचन व कर्म की एकरूपता भंग हो गई है। हमारी सोच में, कुछ और घटित हो रहा है, हमारे वचनों में कुछ और ही है, और हमारे कर्म कुछ और। इस प्रकार मन, वचन और कर्म की दिशा परस्पर एक दूसरे से विपरीत हो गई है। जिसने हमारे विचार और आचार में अन्तर पैदा कर दिया है, जो कि आधुनिक भोगवादी समाज की मानसिक अशांति का मूल कारण बनता जा रहा है।

चित्र - १

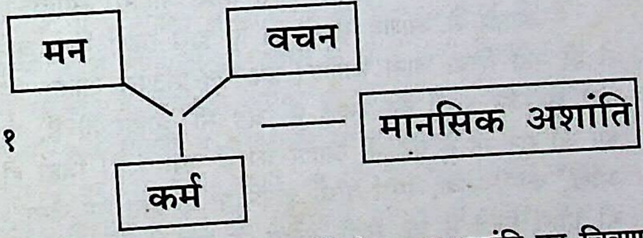

मन, वचन व कर्म के परस्पर विपरित होने से उत्पन्न अशांति का चित्रण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके विपरित पूर्वकाल में मनुष्य में मन, वचन व कर्म की एकरूपता कायम थी, जिसके कारण मानसिक शांति की अवस्था सहजता के साथ प्राप्त हो जाया करती थी। जिसे इस प्रकार दर्शित किया जा सकता है-

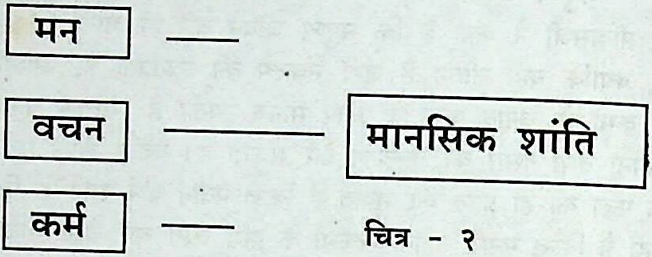

चित्र - २

मन, वचन व कर्म एक दिशा में होने से उत्पन्न शांति का चित्रण

भारतीय मनीषियों ने मानव के सम्पूर्ण जीवन की सूक्ष्म विवेचना की है, किस प्रकार व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ बन सकता है उसकी विस्तृत शृंखला है। हमारे यहाँ कहा गया है 'जैसा अन्न वैसा मन', 'जैसा मन वैसा चिंतन', 'जैसा चिंतन वैसा विचार', 'जैसा विचार वैसा आचार', 'जैसा आचार वैसा कर्म', 'जैसा कर्म वैसा फल' और 'जैसा फल वैसा जीवन'। इस प्रकार हमारे चिंतन का संबंध हमारे आहार से भी है। कहा गया है आहार की शुद्धता से चित्त की भी शुद्धता हो जाती है। गीता में सात्त्विक आहार के बारे में कहा गया है-

आयुः सत्त्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥[१०]

आहार से आशय मात्र मुख के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले पदार्थों से ही नहीं लिया जाना चाहिए। हम पल-प्रतिपल आहार ग्रहण करते हैं। नेत्रों से जिन दृश्यों को देखते हैं, वह भी आहार ही है, कानों के द्वारा हम जो सुन रहे हैं वह भी आहार का ही स्वरूप है। जिह्वा ही नहीं अपितु आँख, कान, नाक, स्पर्श पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम जैसा भी, जो कुछ भी ग्रहण करते हैं वह सभी आहार के रूप में हमें प्राप्त होता है। यहाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सद् आहार से आशय पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सात्त्विक आहार को ही ग्रहण करने से है।

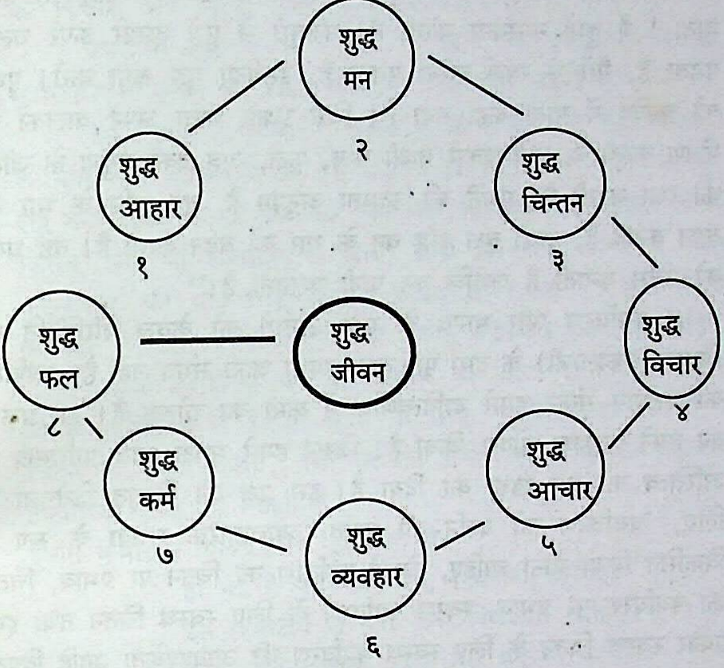

चित्र - ३ शुद्ध व सात्त्विक आहार का जीव पर प्रभाव

आज आवश्यकता राजसी और तामसी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली भोगवादी सभ्यता के जीवनमूल्यों को ध्वस्त कर, उनके स्थान पर सात्त्विक प्रवृत्तियों पर आधारित जीवनमूल्यों की स्थापना करने की है। पूरी दुनिया में चलने वाली भोगवादी की आँधी के बीच हमारे लिए आशा की किरण हमारी संस्कृति है, जिसका आधार प्रकृति के साथ प्रेम-मूलक संबंधों की स्थापना, और सादगी व संयम की प्रतिष्ठा है।[११]

२१वीं सदी भयंकर जल संकट लेकर आ रही है। प्रति व्यक्ति जल की उपलब्धि भारत में सन १९०१ के मुकाबले २००१ में केवल १४ प्रतिशत ही रह जायेगी।[१२] यह कैसी विडंबना है कि जीवन देने वाला जल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही प्रदूषण के कारण आज मौत का कारण बनता जा रहा है।

धरती के प्रति मनुष्य का व्यवहार कैसा हो इसका संकेत इस प्रार्थना से मिलता है। 'विष्णुपत्नीं नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्वमे' अर्थात्- हे धरती माता ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मजबूरी से मुझे तुम्हारे ऊपर चलना पडता है, पैरों से स्पर्श करना पडता है, इसलिए मुझे क्षमा करो। पृथ्वी को ऋग्वेद में माता कहा गया है। जिस प्रकार माता अपने बालकों का पोषण करती है, उसी प्रकार पृथ्वी फल, फूल, अन्न देकर मनुष्य के जीवन की रक्षा करती है। पृथ्वी की उदारता अनुपम है, वह पर्वत के भार को वहन करती है, पृथ्वी वृक्ष और वन के भार को वहन करती है। वह धरती को उर्वरा बनाती है क्योंकि वह पानी बरसाती है।[१३]

पर्यावरण और मानव के मध्य संबंधों को केवल परिस्थिति की विज्ञान (इकोलाजी) के द्वारा पूरी तरह समझा जाना संभव नहीं है। पर्यावरण का वर्तमान संकट हमारे दायित्वबोध में कमी का द्योतक है। इस प्रकृति का हमने बेतहाश शोषण किया है। जिसने हमारे समक्ष आज प्राणिमात्र के अस्तित्व का प्रश्न खडा कर दिया है। इस प्रश्न की विस्तृत विवेचना के लिए, 'पर्यावरण को दर्शन की पूर्णतः व्यावहारिक शाखा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए, जिसमें पर्यावरण का चिंतन पर प्रभाव, चिंतन का पर्यावरण पर प्रभाव, स्वस्थ पर्यावरण के लिए स्वस्थ चिंतन तथा इसी प्रकार स्वस्थ चिंतन के लिए स्वस्थ पर्यावरण की आवश्यकता आदि विषयों के साथ ही विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, पारिवारिक पर्यावरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाना समय की आवश्यकता है। वर्तमान में पर्यावरण के नाम पर हम केवल भौतिक पर्यावरण (जैसे वायु, जल, ध्वनि, मृदा आदि) का ही अध्ययन करते हैं जबकि इसका अध्ययन और गहराई से किये जाने की आवश्यकता है। गीता में कहा गया है-

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगे भवति दुःखहा॥[१४]

पर्यावरण के संकट की समस्या का निदान वास्तव में नैतिक मूल्यों के पुनर्बोध से ही संभव है। नैतिक दायित्वों के निर्वहन के लिए हमें-

१. मन, वचन और कर्म की एकरूपता पुनःस्थपित करनी होगी तभी मानसिक शांति प्राप्त हो सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. 'साधन-साध्य-शुद्धता' की महत्ता की पुनर्स्थापना जरूरी है।

३. 'प्रेम', 'सौहार्द', परस्पर सम्मान और परस्पर विश्वास के भावों का विकास और पल्लवन किया जाना आवश्यक है।

उपरोक्त सुझावों पर अमल के द्वारा हम पर्यावरण विनाश के महासंकट से मुक्ति की दिशा में ठोस प्रयास कर सकते हैं।

हम प्रकृति का हिस्सा हैं प्रकृति से अपने को काट कर केवल 'स्व' के मंगल की कामना ने ही हमें प्रकृति का विरोधी ही नहीं अपितु घोर शत्रु बना दिया है। हमें इस 'स्व' को विस्तारित करना है। इतना विस्तारित जिसमें 'पर' भी समाहित हो जाये, तभी हम सच्चे अर्थों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के अनुरूप जीवन जी सकते हैं। इसी में प्रकृति का हित है, इसी में मानव ही नहीं अपितु जीवमात्र का हित निहित है।

आज दार्शनिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि पर्यावरण पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए 'पर्यावरण-दर्शन' को अपने चिंतन का केन्द्र बनाएँ, तभी वर्तमान समय में दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

दुष्यंत कुमार ने शायद ठीक ही कहा है-

हो गई है पीर पर्वत सी, पिघलनी चाहिए।
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।
सिर्फ हंगामा खडा करना मेरा मकसद नहीं।
मेरी कोशिश है, कि ये सूरत बदलनी चाहिए॥

हेमन्त नामदेव

दर्शनशास्त्र विभाग
माधव महाविद्यालय,
उज्जैन

टिप्पणियाँ

१. आचार्य तुलसी, संभल सयाने, जैन विश्व भारती, लाडनू, १९९२, पृ. १४७

२. सुन्दरलाल बहुगुणा, धरती की पुकार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९६, पृ. १०१

३. वही, पृ. ८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष ३५ अंक १-४ जनवरी-दिसम्बर, १९८९
५. रामजीसिंह, गांधी विचार, मानक पब्लिकेशन प्रा. लि., दिल्ली १९९५, पृ. ३७
६. वही, पृ. ३७
७. दार्शनिक त्रैमासिंक, वर्ष ३५ अंक १-४ जनवरी-दिसम्बर १९८९, पृ. ८१
८. डॉ. राजबली पाण्डेय, भारतीय नीति का विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६५, पृ. ६
९. रामचरित मानस, ७/४३/७-८
१०. श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय १७ श्लोक ८
११. सुन्दरलाल बहुगुणा, धरती की पुकार, पृ. ५३
१२. वही, पृ. ५४
१३. हरीन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९९९, पृ. ४७
१४. श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय ६, श्लोक १७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या

अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या भाषा और अर्थ सम्बन्धी विचारों से गहरे रूप से जुडी है। अतः इसपर विचार करने के पूर्व भाषा तथा अर्थ के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय देना विषय को समझने की दृष्टि से आवश्यक है।

भाषा पर दो तरह से विचार किया जाता है। पहले के अनुसार भाषा वह है जिसे हम अर्थ संकेतन के लिए बोलते या लिखते हैं। यह अर्थ से पृथक् मानी गयी है तथा अर्थ को भाषा से परे किन्तु भाषा से संकेत्य या व्यंग्य माना गया है। यह विचार भाषा और अर्थ के द्वैत के विचार को बलवती बनाती है। भाषा अर्थ की प्रतिनिधि है और मनोस्तर पर अर्थ के आभास को अभिव्यक्त करती है। भाषा और अर्थ सम्बन्धी इस तरह के विचारों को यथार्थवादी/वस्तुवादी तथा ऐसे विज्ञानवादी भी मान्यता देते हैं जो यथार्थ को पर एवं भाषा से निरपेक्ष किन्तु व्यंग्य स्वीकार करते हैं। ये विचारक भाषा को अर्थ का प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरे के अनुसार भाषा बोलने और सुनने की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं है। यह बोधरूप है। बोध या विचार रूप भाषा आन्तर्प्रदत्त है और बोलियों/लिपियों के द्वारा यह अभिव्यक्त होती है। ज्ञान के लिए अभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं होती। ध्वनियों/लिपियों से अभिव्यक्त होने पर यह आन्तस् भाषा पहले अपने स्वरूप (विचार-रूपता) को प्रकाशित करती है और तब अभिन्न रूप से उसके अर्थ का प्रकाश भी उसी से होता है। यह परिभाषा भाषा और अर्थ की अभिन्नता की अवधारणा पर अवलम्बित है। इस परिभाषा के अनुसार चूँकि समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है अतः भाषा से स्वतंत्र अर्थ, ज्ञान का विषय न होने से, दार्शनिक चिंतन का विषय नहीं बनता। भारतीय चिंतन में इस सिद्धांत को प्रतिपादित करनेवाले दार्शनिक भर्तृहरि हैं।[१]

इस परिचर्चा में हमने पूर्व पक्ष के रूप में बी. के. मतिलाल तथा

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक ४, सितम्बर २००२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यशदेव शल्य के विचारों को रखा है। मेरी मान्यता है कि उनके भाषा एवं अर्थ सम्बन्धी विचार, एतद् सम्बन्धी यथार्थवादियों एवं विज्ञानवादियों के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ पर मैं उनके भाषा और अर्थ सम्बन्धी विचारों का उल्लेख मात्र उतने ही संदर्भ में कर रहा हूँ जितने से अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या पर अपनी बात को समझाने में मुझे असुविधा न हो सके।

बी. के. मतिलाल ने अपनी पुस्तक *'दी वर्ड एण्ड दी वर्ल्ड'* में जैक्स डेरिडा का उद्धरण देते हुए लिखा है - 'Language is often uncritically thought to be a vehicle of thought or meaning. And from this flows the pervasive idea that in a multilingual world, the same thought is or can be conveyed by different expressions which are distinguishable parts of different languages. It is probably what a modern philosopher, Jacques Derrida, would call the metaphysician's age-old desire to search for a transcendental signified, that is a concept independent of language, that forces upon us the duality and opposition of the signifier and the signified.[2]

मतिलाल ने अर्थ को भाषा से निरपेक्ष पर अर्थ मानते हुए वाचक तथा वाच्य के द्वैत को दर्शाया है और यह बताया है कि पर-अर्थ विभिन्न भाषीय अभिव्यक्तियों, अनुवादों का स्थिर विषय है, यद्यपि अनुवादों का वाच्य पर अर्थ से भिन्न होता है। वे लिखते हैं- The duality that is foisted upon us has generated the platitude that *pure signified* is what remains constant between different translations, just as in a change of currency the value of the money is supposed to remain intact.[3]

मतिलाल ने यह दिखलाया है कि चूँकि अनुवादों के स्थिर विषय के रूप में वाचक-वाच्य के द्वैत या वाचक से परे पर-वाच्य या अर्थ की अवधारणा अनुवादों की आवश्यक शर्त होती है और यह शर्त वाचक-वाच्य में अभेद माननेवाले सिद्धान्तों में संभव नहीं है अतः मूल विचार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का एक भाषा से दूसरी भाषाओं में परिर्वतन (transfer) रूप अनुवाद सम्भव नहीं है। The very idea that meaning, thought or 'what is real', is isolatable from the speech or text seems repugnant to Bharirhari's holistic conception of laguage. Hence the so called translation, in the sense of transfer of thought from one garb to another, seems impossible in the theory.[4]

यशदेव शल्य के भाषा एवं अर्थ सम्बन्धी अवधारणाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भाषा को सार्थक ध्वनि तथा अर्थों को भाषा से स्वतंत्र किन्तु भाषा से व्यंग्य मानते हैं। वे यथार्थ, पदार्थ एवं वस्त्वर्थ का भेद करते हैं। उनके अनुसार पदार्थ एवं वाक्यरूपेण रचित अर्थ पर-अर्थ के व्यंजक होते हैं और वस्त्वर्थ प्रत्यक्ष के द्वारा जाने जाते हैं। वे यथार्थ को विज्ञान या आदर्शलोक में निगूढ मानते हैं। उनके अनुसार यथार्थ का मानसिक स्तर पर आभास ही विभिन्न रूपों में अनुवाद का विषय होता है। मूल और अनुवाद के बीच मौलिक अंतर को स्वीकार करते हुए किन्हीं दो भाषाओं के सरल वाक्यों के सम्यक् अनुवाद की सम्भावना को भी शल्यजी नकारते हैं, यद्यपि उनका सापेक्षिक अनुवाद सम्भव मानते हैं। उनके अनुसार सापेक्षिक अनुवाद तब सम्भव है जब १) अनुवाद की भाषा की रचनावली एवं अर्थ रचना की व्यवस्था शब्द, शब्द रूपों एवं वाक्य रचनाओं का अत्यन्त अन्तर न हो, २) भाषीय परिवारों की परस्पर निकटता तथा दूरी के भेद के आधार पर सापेक्षिक अनुवाद सम्भव हो सकता है, सम्यक् नहीं, एवं ३) मूल की वस्तुस्थिति या शब्दार्थ की अतिक्रमिता के स्तर पर या अतिभाषा के स्तर पर आरूढ होने की स्थिति में अनुवाद की सम्भावना बनती है।[५]

भाषा से पर या अतिक्रामी पर-अर्थ जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है उसे जैक्स डेरिडा ने विलम्बित एवं अनुपस्थित बताकर उसपर आधारित विचारों को अव्यवस्थित करने का प्रयास किया है।[६] रिकर ने इसे मृगमरीचिका या भ्रम कहा है। उनके अनुसार अर्थ के विचार को हम भाषा में ही सोच सकते हैं।[७] किन्तु उनके आलोचनामूलक प्रयासों से अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या के समाधान के लिए कोई मौलिक सोच सामने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं आ पाती। प्रस्तुत निबंध में मैंने वाचक-वाच्य की अभिन्नता के विचार से यह दिखाने का प्रयास किया है कि अनुवाद और विश्लेषण की समस्या का समुचित समाधान तो इस विचार से होता ही है, डेरिया आदि द्वारा अपनाए 'डिकन्स्ट्रक्सन अस्त्र' भी वाचक-वाच्य के इस बोधरूप अवधारणा पर असरहीन हो जाता है।

प्रथम सिद्धान्त में अनुवाद की समस्या के समाधान के लिए एक पर-अर्थ की अवधारणा को मान्यता दी जाती है। पर-अर्थ विभिन्न भाषाओं में होनेवाले सभी अनुवादों में स्थिर विषय है। भाषा निरपेक्ष इस शुद्ध या पर-अर्थ की मान्यता को भाषा के प्रति तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण रखने वाले भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा-दार्शनिक स्वीकार करते हैं। भाषा के प्रति तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य यह बतलाना है कि ऐसे दृष्टिकोण में भाषा को अर्थ का प्रतिनिधि (Reprsentative), संकेतक (Mark) या व्यंजक माना जाता है और अर्थ की शुद्धता या भाषा से परे अर्थ के विचार को प्रभावशाली माना जाता है। अनुवाद-वाक्यों के अर्थों से मूल-अर्थ को पर माना जाता है। अर्थ 'पर' इस अर्थ में भी है कि अनुवाद की भाषा से पृथक् और उसके अर्थ से स्वतंत्र है यद्यपि सभी अनुवादों का स्थिर विषय है। दूसरे सिद्धान्त में चूँकि भाषा और अर्थ को अभिन्न माना गया है तथा पर-अर्थ को मान्यता नहीं दी गई है, अतः यह दिखाया जाता है कि यहाँ अनुवाद के आधारभूत पर-अर्थ की मान्यता के अभाव में अनुवाद की सम्भावना नहीं बनती। पर-अर्थ की अवधारणा अनुवाद की आवश्यक शर्त है। दूसरे सिद्धान्त में इस शर्त की कसौटी से अनुवाद अथवा एक भाषा से दूसरी भाषा में अर्थ के रूपान्तरण की असम्भाव्यता दिखायी जाती है। किन्तु गहराई से विचार करने पर पर-अर्थ की शर्त स्वयं प्रथम सिद्धान्त में भी अनुवाद की सम्भावना को क्षीण करती है क्योंकि पर-अर्थ को अनुवाद की भाषा और अर्थ से पृथक् मानने पर वह अनुवाद में आएगा कैसे ? यदि वह अनुवाद की अभिव्यक्तियों की स्थिर विषयवस्तु है तो अनुवाद की भी विषयवस्तु होगी अन्यथा अनुवाद की भाषा और अर्थ से पृथक् यह पर-अर्थ अनुवाद की भाषा का विषय नहीं हो सकता। पृथक् या पर-अर्थ की स्थिति में अनुवाद सम्भव नहीं है और अनुवाद मानने पर अर्थ 'पर' नहीं होगा। दूसरे सिद्धान्त में मूल और अनुदित का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'विषय' नहीं बदलता; केवल उसको व्यक्त करनेवाली ध्वनियाँ/लिपियाँ बदलती हैं। इस सिद्धान्त में मूल और उसके अनुवादों को व्यक्त करनेवाले वाक्यों से होने वाला ज्ञान नया होता है, यद्यपि उनका विषय एक ही होता है। इस सिद्धान्त में ज्ञान और ज्ञान के विषय में अंतर किया जाता है।[८] ज्ञान, ज्ञान के विषय का ज्ञान होता है और उसी विषय का ज्ञान होता है और उसी विषय को व्यक्त करनेवाले हर भाषीय प्रत्यय में स्वयं ज्ञान अथवा यूँ कहें विषय की स्वचेतना की चेतना नयी होती है। उनका ज्ञान भिन्न होता है, विषय को व्यक्त करनेवाली अभिव्यंजक ध्वनियाँ या लिपियाँ नई होती हैं, भिन्न होती हैं परंतु उनका विषय वही होता है। चूँकि इस ज्ञान के विषय को दूसरे सिद्धान्त में सामान्य या जाति माना गया है, अतः अनेक समुदायों में प्रचलित ध्वनियों/लिपियों द्वारा यही व्यक्त होता है और व्यक्त होने पर इसका प्रकाश या ज्ञान होता है। इस स्थिति में यह जाति विभिन्न ध्वनि/लिप्यनुबद्ध भाषा से अभिव्यक्त होने से उनका स्थिर विषय है और लिप्यन्तर, ध्वन्यन्तर से इसमें भेद नहीं होता। विभिन्न समुदायों में इस जाति प्रत्यय को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न लिपियों का प्रयोग परम्परा से होता है। अतः लिप्यन्तर से विषयान्तर का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। भिन्न-भिन्न लिपियों में इसके प्रत्यायित होने की चेतना को ही ज्ञान कहते हैं। अतः मूलार्थ का लिप्यन्तर या अनुवाद भी मूलार्थ को ही प्रकाशित करता है। वाक्य से भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नया और मौलिक ही होता है। मूल लिपि से भिन्न लिपि में होने से या लिप्यन्तर विशेष से उसी अर्थ (मूल्य) को व्यक्त करने को अनुवाद कहा जाता है। विषय चाहे भाषा हो या अन्य अर्थ, यहाँ ध्यान रखने की बात है कि भाषा-विश्लेषण अथवा किसी भी प्रकार के ज्ञान में भाषा (आन्तस्-भाषा) और उससे अभिन्न रूप में प्रकाशित उसका अर्थ भी विषय बनता है। दोनों का स्पष्ट अभिन्न प्रकाश होने पर मूल का प्रकाश हो सकता है, और उसी रूप से अनुवाद में भी प्रक्रिया चलती है। अतः मूल तथा अनुवाद दोनों में ज्ञान नया होता है क्योंकि हर क्षण का ज्ञान नया ज्ञान होता है। लिप्यन्तर या ध्वन्यन्तर होता है, किन्तु मूलानुवाद में विषय वही रहता है जो मूल का विषय होता है।[९]

मूल वाक्य और उसका वाक्यार्थ वाचक-वाच्य सम्बन्ध से संबंधित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होते हैं और अनुवाद भी उसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं। यह कहना सर्वथा ज्ञान की वास्तविकता से मुँह मोडना है कि अनुवाद वाक्य में वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं होता अथवा इसका वाचक-वाच्य तथा दोनों में सम्बन्ध मूल से भिन्न होता है क्योंकि वे ही वाचक-वाच्य दोनों तरह के वाक्यों के स्थिर विषय होते हैं। भिन्न केवल ध्वनियाँ/लिपियाँ होती हैं और ध्वनियों/लिपियों की भिन्नता से न तो वाचक भिन्न होता है और न वाच्य। वाचक और वाच्य दोनों आन्तस्-प्रत्यय या विचार रूप होते हैं। जिसमें पहला दूसरे का अभिन्न प्रकाश माना जाता है। इन्हें भिन्न मानने पर भाषा अर्थ की प्रकाशक न होकर संकेतक होगी और संकेतकों के भेद से संकेत्यों का भेद होगा। भाषा से पर होने से संकेत्य अनुवाद्य नहीं और अर्थ से स्वतंत्र भाषा का अनुवाद सम्भव नहीं होगा। पुनः सभी भाषीय समुदाओं में व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त संकेतकों की विलक्षणता उनके अनुवाद्य होने की सम्भावना को क्षीण करती है। दूसरी स्थिति में भाषा वाचक, आन्तरिक, सर्वगत, अखण्ड है। ध्वनियों/लिपियों द्वारा अभिव्यक्त होने पर इसका प्रकाश होता है। इसके प्रकाशित होने पर इससे अभिन्न रूप से इसके अर्थ का प्रकाशन होता है। चूँकि यह प्रकाश है और प्रकाशरूपता ध्वनियों/लिपियों का न गुण है, न स्वरूप अतः ज्ञान के विषय का प्रकाशन वाचक शब्द के बिना नहीं हो सकता। भर्तृहरि ने वाचक-वाच्य को ध्वनियों/लिपियों तथा जिसके ये व्यवहारतः संकेतक होते हैं उनसे भिन्न माना जाता है। उनका सिद्धान्त भाषा के प्रतिनिधि सिद्धान्त, संकेतक सिद्धान्त से भिन्न भाषा को प्रकाशक मानता है। संकेतक या प्रतिनिधिरूप लिपियों के भिन्न होने से भी अनुवाद का वाचक-वाच्य नहीं बदलता अर्थात् यह वहीं रहता है जो मूल का। चूँकि इस वाचक-वाक्य की अभिव्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न लिपियों की प्रसिद्धि है, अतः अनुवाद लिप्यन्तर में मूल वाचक-वाच्य का प्रकाशन है- ऐसा मानने पर अर्थ (वाच्य) को शब्द (वाचक) से स्वतंत्र पर-अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं होती और अर्थ की व्याख्या भी हो जाती है। यह अनुवाद भी चाहे मूल का भाषान्तर हो, भावार्थ हो, या किसी दार्शनिक के ग्रन्थों के बार-बार पढने पर उसके अर्थ का भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण रूप अनुवाद हो, भाषानुविद्ध ही अभिव्यक्ति होती है।[१०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रश्न है ग्रहण अर्थ का होता है अथवा भाषा का अथवा दोनों का। अर्थ का ग्रहण भाषा से ही होगा, भाषा से स्वतंत्र नहीं। अगर अर्थ भाषा से स्वतंत्र होगा तो भाषा से अभिव्यक्त नहीं होगा। भाषा निरपेक्ष मूल अर्थ या पर-अर्थ अनुवाद का विषय भाषा के माध्यम से ही बन सकता है। अनुवाद में मूल की भाषा और अर्थ दोनों अनुवाद की भाषा और अर्थ से स्वतंत्र होते हैं - ऐसा मानने पर मूल की सक्रियता/जीवन्तता अनुवाद के लिए अनावश्यक होगी और तब अनुवाद केवल स्मृति पर आधारित कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। अनुवाद को भी जब हम ग्रहण करते हैं तो हमारे सामने वही मूल होता है किन्तु पूर्व मत से उसका ग्रहण भी एक अनुवाद होगा अर्थात् हम अनुवाद का अनुवाद जानते हैं। ऐसी स्थिति में अनुवाद में अन्तर होगा, मूल और अनुवाद में नहीं। इस तरह मूल हमारी पकड से बाहर की चीज होती है। वह शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की तरह है जिसे प्रत्येक प्रयास में बुद्धि सगुण रूप में ही जान सकती है और निर्गुण को जानने के लिए सगुण से ऊपर उठना, सगुण-दृष्टि का अत्यन्त परिहार आवश्यक होता है। वस्तुतः निर्गुण सगुण नहीं होता। ऐसी स्थिति में सारे अनुवादों की निराधारता सिद्ध होगी, उनका अनौचित्य सिद्ध हो जाएगा। मूल हमारी पहुँच से परे हो जाएगा। यदि अर्थ भाषा से निरपेक्ष पर-अर्थ हो तो भाषा की पकड में हर बार या तो नया होगा या अनुवाद (मूल की भाषा में भी), ऐसी स्थिति में अनुवाद और मूल का अन्तर कैसे होगा ? यदि मूल को अनुवाद से स्वतंत्र माने तो अनुवाद मूल की स्मृतिमात्र होगा। स्मृति को सिद्ध करने का प्रसंग होगा। क्या अनुवादकर्ता केवल स्मृति कर्म में लिप्त होता है ? यदि हाँ, तो अनुवाद दार्शनिक क्रिया नहीं होगी और यदि अनुवादक दार्शनिक कार्य करता है तो उसका कार्य ज्ञानमूलक होगा। इस प्रकार अनुवाद भी उपरोक्त अर्थ से भिन्न नया होगा। इस नए ज्ञान के अनुवाद होने की योग्यता की शर्त इस ज्ञान का मूल ज्ञान से अभिन्न होना होगा और ऐसी स्थिति में अर्थ को भाषा से पर-अर्थ नहीं माना जा सकेगा। अतः प्रथम दृष्टि से अनुवाद की व्याख्या असंगत होगी।

जहाँ तक अनुवाद के अच्छे और बुरे होने का प्रश्न है प्रथम सिद्धान्त में मूल के ज्ञान की स्मृति अथवा अनुमान के आधार पर अनुवाद की मान्यता होने से और अनुदित ज्ञान की नवीनता को नकारने से यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान का ज्ञान होगा। लेकिन कोई भी ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय/वस्तु नहीं बनता क्योंकि वस्तु होने पर यह ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान अनुदित नहीं होता क्योंकि प्रत्येक ज्ञान नया होता है। ज्ञान की वस्तु विषय अनुदित होती है। प्रथम सिद्धान्त में मूल की वस्तु और अनुदित वस्तु में पहला प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान या स्मृति पर आधारित होने से भिन्न-भिन्न प्रकृति के होंगे। इस स्थिति में कोई अनुवाद अच्छा है या बुरा है - इस तरह के ज्ञान का आधार क्या होगा ? पर-अर्थवादियों के अनुसार अनुवाद वाक्य से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं, प्रभावों, अभिप्रेरणाओं और वरीयताओं के आधार पर अनुमित किया जाता है कि कोई अनुवाद अच्छा अथवा असह्य स्तर तक बुरा हो सकता है। बी. के. मतिलाल लिखते हैं - "The goodness or badness of a translation, the distortion, falsity or correctness of it would not be determined simply by the interlinguistic or intra-linguistic semantic rules but by the entire situation of each translation with all its uniqueness that is by the kind of total reactions, effects, motivations and preferences it generates on that occasion.[११] किन्तु अनुवाद के अच्छे-बुरे के इस निर्णय में वे सारी खामियाँ आ जाती हैं जो अनुवादक में संभव होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सांस्कृतिक एवं मानसिक लगाव अनुवाद करने और इसके अच्छे-बुरे के निर्णय के अवसरों को प्रभावित कर सकता है। ऐसी स्थिति में अच्छाई-बुराई के निर्णय का एक वस्तुगत आधार खोजना कठिन है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति किसी अनुवाद को पसन्द करता है तो दूसरा किसी अन्य को अच्छा मानता है। अच्छाई-बुराई का यह आधार व्यक्तिगत हो जाता है। व्यक्तिगत चीजें होने पर इसका उपयोग-पूर्व निर्धारण होना आवश्यक होता है तथा यह निर्धारण नियमित नहीं होने से एक मान्य निर्णय नहीं हो सकता।

दूसरे सिद्धान्त में ज्ञान एवं ज्ञान की वस्तु में भेदपूर्वक यह माना जाता है कि मूल और अनुवाद के ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। उनकी भाषा (ध्वनियाँ/लिपियाँ) भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनका विषय (वाचक-वाच्य चाहे वह सामान्य हो या व्यक्ति) जब वही रहता है जो मूल में, तो अनुवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को अच्छा तथा उससे विचलित होने पर विचलन के अनुपात में उसे बुरा, बर्दाश्त की हद तक बुरा, होने का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में मूल के वाचक और वाच्य तथा अनुवाद के वाचक-वाच्य के एक ही होने पर लिप्यन्तर एवं ज्ञानान्तर के बावजूद भी अनेकों अभिव्यक्तियों से ज्ञान के विषय के ऐक्य का ज्ञान होने पर अनुवादों के अच्छा होने का भी ज्ञान होता है। ऐक्य ज्ञान से भिन्न, विचलित होने पर अनुवाद को बुरा कहा जाता है। चूँकि ज्ञान के आधार पर आधारित अच्छाई-बुराई का निर्णय इस सिद्धान्त में मान्य है अर्थात् बुरे का भी ज्ञान शब्द से ही प्रकाशित होता है और अच्छे का भी ज्ञान शब्द से ही होता है अतः इस सिद्धान्त में ऐसे निर्णयों का एक बोधमूलक आधार होने से इसे नकारना ज्ञान की वास्तविकता को नकारने जैसा है।

प्रथम सिद्धान्त में पर-अर्थ की अवधारणा को मान्यता देने से मूल तक पहुँच की बौद्धिक क्षमता के स्तर के अनुपात में अनुवाद की अच्छाई-बुराई का निर्णय स्वीकार किया जाता है। यशदेव शल्यजी[१२] की मान्यता के अनुसार यथार्थ का मानसिक स्तर पर आभास ही विभिन्न रूपों में अनुवाद का विषय होता है। जो कथन यथार्थ, जो उनके अनुसार, अस्तित्वातिक्रमी होता है, को जिस स्तर तक अभिव्यक्त करने में समर्थ हो पाते हैं उसीके आधार पर उनके संगतता-असंगतता, गुणागुण्य, साफल्य-असाफल्य का निर्धारण होता है। इन अभिव्यक्तियों में यथार्थ स्थिर होता है तथा मनोस्तर पर उसकी झलक मात्र मिलती है। चेतना के जिस स्तर की अभिव्यक्ति मूल में हुई है उसकी हद तक या उसके नजदीक तक पर-अर्थ की, यदि किसी अनुवाद में, अभिव्यक्ति हो तो वह अपेक्षाकृत अच्छा और उससे दूर हटने के अनुपात में अपेक्षाकृत बुरा होता है। यह सिद्धान्त अपेक्षा के निर्णय की अपेक्षा रखता है और हर स्थिति में पर-अर्थ के आदर्श प्रत्यय को संरक्षित रखने का प्रयास करता है। इस स्थिति में अनुवादर्थ और पर-अर्थ या मूलार्थ के द्वैत का प्रसंग उपस्थित होता है जो एक अनुवादक या अनुवाद के पाठक को स्वीकार नहीं होगा क्योंकि वे अनुवाद को बदले वस्त्र में मूल के रूप ही लेते हैं। दूसरे सिद्धान्त में अनुवाद और अनुवाद तथा मूल और अनुवाद के अन्तर का कारण व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं मानसिक क्षमता के भेद को नहीं बल्कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिप्यन्तर, ध्वन्यन्तर को स्वीकार किया गया है। एक ही लिपि में दो भिन्न अनुवादों एवं मूल से उनके अन्तर को हम मूल के वाचक-वाच्य से अनुवादों के वाचक-वाच्य के भेद एवं अभेद के आधार पर जानते हैं। अभेद ऐक्य ज्ञान है और यह वाचक-वाच्य का ऐक्य ज्ञान अनुवाद को तो संभव बनाता ही है उसके अच्छे अनुवाद होने की शर्त को भी पूरा करता है।

यहाँ हम विश्लेषण की समस्या पर विचार करेंगे। भाषीय चिन्तन में अर्थ स्पष्ट करने के उपाय के रूप में विश्लेषण को महत्त्वपूर्ण तो माना ही गया है इसके अतिरिक्त भी इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। खासकर वे दर्शन विश्लेषण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं जो भाषा एवं अर्थ को बोध रूप अखण्ड इकाई स्वीकार करते हैं। विश्लेषण के बिना दार्शनिक चिंतन संभव नहीं है। अखण्ड को खण्डों के माध्यम से ही समझा और समझाया जा सकता है अन्यथा अखण्ड चिन्तन एवं व्यवहार का विषय ही नहीं बन पाएगा। यद्यपि विश्लेषण एक कृत्रिम प्रक्रिया है जिसमें अखण्ड को खण्डों के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयास होता है फिर भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता ज्ञान के समस्त प्रसार के रूप में सिद्ध है।[१३] यह एक कृत्रिम प्रक्रिया इसलिए है कि इसके द्वारा अखण्ड वास्तव में विभाजित नहीं हो जाता। वह अखण्ड ही रहता है और विश्लेषण द्वारा व्यवहार का विषय भी बन जाता है। भाषा को बाधा रूप मानने वाले दार्शनिक भर्तृहरि ने दो तरह से विश्लेषण किए जाने को मान्यता दी है। पहले के अनुसार, जिसे वे अपोद्धार[१४] कहते हैं, ध्वनियों या लिपियों (वैखरी भाषा) को नाम, आख्यात्, उपसर्ग, निपात, कर्म, प्रवचनीय एवं कर्ता, क्रिया, कर्म, विशेषणादि रूप में भाषीय विभागपूर्वक अलग-अलग करना, उसकी व्युत्पत्ति को बताना, विश्लेषण का एक प्रकार है और यह एक इकाई वाक्य को छोटे-छोटे एकक पदों/खण्डों में विभाजन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। दूसरे अर्थ में विश्लेषण एक दार्शनिक क्रिया है जिससे अर्थ को स्पष्ट करने की दिशा में विभिन्न दार्शनिकों की किसी अवधारणा सम्बन्धी विचारों की खण्डशः प्रस्तुति इस तरह की जाती है कि अवधारणा सम्बन्धी किन-किन तथ्यों को वह समाहित करता है या किन तथ्यों को समाहित नहीं करता है- स्पष्ट हो जाय। अवधारणा की स्पष्टता से प्रस्तुति के लिए आवश्यक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पक्षों को इस तरह अनावृत्त कर देना विश्लेषण के अंतर्गत समाविष्ट हो जाता है जिससे इसका स्पष्ट बोध या विवेक हो जाय। भर्तृहरि चूँकि भाषा (वाक्य, पद, प्रत्ययादि) तथा अर्थ (वाक्यार्थ, पदार्थ, प्रत्ययार्थादि) को प्रत्यय या अवधारणा रूप इकाई मानते हैं अतः इस स्थिति में उनके लिए विश्लेषण क्रिया दार्शनिक क्रिया है। चूँकि भाषा और अर्थ अभिन्न हैं अतः उनके चिंतन में भाषा का विश्लेषण अर्थ विश्लेषण भी है। भाषा का विश्लेषण अर्थ का विश्लेषण कैसे है ? इस विषय पर विस्तार से चर्चा आगे की जाएगी।

भाषा और अर्थ सम्बन्धी प्रथम सिद्धान्त से विश्लेषण की समस्या पर विचार करने पर प्रश्न उठता है कि यदि अर्थ भाषा से स्वतंत्र है, तो इसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक स्वीकार की जा सकती है किन्तु तब, क्या भाषा का विश्लेषण पर-अर्थ का विश्लेषण होगा ? भाषा से पर होने से अर्थ विश्लेषण के लिए इस सिद्धान्त में प्रस्तुत ही नहीं है। इस स्थिति में भाषा का विश्लेषण अर्थ-विश्लेषण नहीं होगा और भाषीय विश्लेषण प्रयोजनहीन होगा। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि इस प्रयोजनहीन विश्लेषण का भी एक ज्ञानमूलक आधार होना चाहिए। चूँकि इस मत में भाषा माध्यम मात्र मानी गई है, इसका बोधमूलक आधार नहीं माना गया है, अतः भाषीय-विश्लेषण में भाषा स्वयं अपना विषय नहीं बन सकती। अतः भाषा-विश्लेषण भी तर्कतः सम्भव नहीं होगा। पुनः इस भाषा-विश्लेषण का विषय क्या होगा ? यह किसके आधार पर विश्लेषित होगी? ध्वनियों/संकेताक्षरों/लिपियों के स्वयं-चेतन रूप या विचार रूप न होने और क्षणमात्र ही धारित होने से स्वयं इनके द्वारा इनका विश्लेषण कैसे सम्भव होगा ? यदि किसी तरह स्वीकार भी करें कि ऐसा हो सकता है तो यह भाषा का ही विश्लेषण होगा, इसे पर-अर्थ का विश्लेषण कैसे कहा जा सकेगा ? जो भी हो, भाषा से अर्थ को स्वतंत्र पर-अर्थ मानने पर भाषा का विश्लेषण अर्थ का विश्लेषण नहीं होगा। भाषेतर अर्थ दार्शनिक चिन्तन, विश्लेषण का विषय नहीं माना जा सकता है।

अर्थ का मनोविश्लेषण भी भाषा के बिना सम्भव नहीं है। पुनः भाषा से स्वतंत्र पर-अर्थ की स्थिति में अर्थ का मनोविश्लेषण यदि स्वीकार भी करें तो यह भाषा का मनोविश्लेषण नहीं होगा। विश्लेषण की आवश्यकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तब होती है जब अर्थ स्पष्ट न हो। अर्थ तब स्पष्ट नहीं होता जब वह अखण्ड हो। अखण्ड को ज्ञानी लोग जानते हैं और उसका बुद्धि से विश्लेषण कर खण्डों के माध्यम से उसे अबुद्धों को समझाते हैं ताकि वे भी अखण्ड को खण्ड के माध्यम से समझें। जिन्हें अखण्ड स्पष्ट नहीं वे विश्लेषण किस आधार पर करेंगे ? अर्थ स्पष्ट तब भी नहीं होता जब शब्द स्पष्ट नहीं होता क्योंकि दोनों अभिन्न होते हैं (न कि अर्थ भाषा से परे या भाषा अर्थ से परे)। अतः पर-अर्थ का सिद्धान्त भाषीय सिद्धान्त के विरुद्ध है।

भाषा सम्बन्धी दूसरे मत से भाषा से अर्थ पृथक् नहीं बल्कि भाषा से प्रकाशित होता है (शब्दार्थोः अर्थः) कोई भी ज्ञान भाषा से प्रकाशित हुए बिना सम्भव नहीं है और कोई भी अर्थ, अर्थ इसलिए होता है कि वह भाषा से प्रकाशित है। भाषा भी अपना प्रकाश किए बिना अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकती। पहले भाषा और तब उससे अभिन्न रूप में अर्थ प्रकाशित होता है। दोनों के विचार रूप में प्रकाशित होने से दोनों की चैत्सिकता स्वीकार है। भाषा सर्वगत, अखण्ड तथा आन्तर्प्रदत्त विचार है और ध्वनियाँ तथा लिपियाँ केवल माध्यम होती हैं जिसके द्वारा अभिव्यक्त होकर यह प्रकाशित होती है। योगियों की स्थिति में इन माध्यमों के बिना भी आन्तर्भाषा का प्रकाश होता है एवं दार्शनिक जब दार्शनिक चिंतन में लगा होता है बिना ध्वनियों एवं लिपियों के भी आन्तर्भाषा का प्रकाश होता है। विचार रूप भाषा के कारण ही ध्वनियों एवं लिपियों के सामने न होने पर भी वह दार्शनिक स्वचेतन क्रिया करता है। कोई भी स्वचेतन क्रिया (विश्लेषण और अनुवाद सहित) आन्तस् भाषा के अभाव में सम्भव नहीं हो सकती।

इस सिद्धान्त को मानकर चलने पर चूँकि भाषा प्रकाश्य प्रकाशक रूप है,[१५] अर्थ से अभिन्न है, दोनों का नित्य सम्बन्ध है और यह नित्य संबंध भाषा की अर्थ व्यक्त करने की नित्य योग्यता है, अतः[१६] इस सिद्धान्त में भाषा का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण होगा, मानने में कोई तार्किक अथवा ज्ञानमूलक विरोध सम्भव नहीं है। पुनः भाषा का भाषा के द्वारा विश्लेषण भी तभी होगा जब उच्चारित या पंक्तिबद्ध लिखित भाषा विश्लेषण का माध्यम हो और इससे प्रकाशित आन्तरिक भाषा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके विश्लेषण का विषय एवं बोधमूलक आधार हो तथा विश्लेषण क्रिया का फल विश्लेषित पदार्थ हों। केवल ध्वनियों/लिपियों तक भाषा को सीमित मानने पर इसके विश्लेषण का आधार क्या होगा ? बोध रूप न होने से ये स्वयं अपना विश्लेषण कैसे कर सकते हैं ? इन प्रश्नों की संगत व्याख्या सम्भव नहीं हो पाती। किन्तु आन्तस् भाषा के सिद्धान्त में, शब्द और अर्थ की अभिन्नता एवं इन्हें बोध रूप इकाई मानने से, शब्द का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण होगा। ध्वनियों/लिपियों से निरपेक्ष भाषा के रूप मानने से इस सिद्धान्त में विश्लेषण का विषय, आधार और प्रयोजन भी निश्चित हो पाएगा। जहाँ तक विश्लेषण की प्रेरणा के आधार की बात है, मस्तिष्क में प्रकाशित शब्दार्थ ही दूसरे अनुवादों को समझाने-समझने के लिए विश्लेषण प्रक्रिया के प्रेरक बनते हैं। इस सिद्धान्त को मानकर चलने पर विश्लेषण एक दार्शनिक कार्य सिद्ध होता है क्योंकि दार्शनिक का कार्य स्वचेतन माना गया है। भाषा के बिना स्वचेतन क्रिया सम्भव नहीं है। स्वचेतन क्रिया दार्शनिक क्रिया है इसमें चेतना स्वचेतन की चेतना होती है। स्वचेतन क्रिया का विषय लिपियों/ध्वनियों द्वारा प्रकाशित आन्तस् शब्द तथा उससे अभिन्न उसका अर्थ होता है। ध्वनियाँ/लिपियाँ माध्यम होती हैं जिसके द्वारा स्वचेतन विषय को या आन्तरिक विचार रूप शब्द अथवा उससे संपृक्त अर्थ को उनके ज्ञान के आधार पर खण्डों में विश्लेषित कर समझाया जाता है। वास्तव में बाह्य अर्थ का विश्लेषण सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यायित विषय ही स्वचेतन क्रिया के विषय होते हैं। विश्लेषण एक दार्शनिक क्रिया है, स्वचेतन की क्रियाशीलता है और इसका आधार, विषय, क्षेत्र, उद्देश्य, मस्तिष्क में प्रत्यायित पदार्थ होते हैं। कोई भी प्रत्यय भाषा के बिना सम्भव नहीं। भाषा से निरपेक्ष प्रत्यय की बात आत्मघाती है। यद्यपि भाषा से प्रत्ययित पदार्थ अखण्ड होता है फिर भी इसी का विश्लेषण सम्भव है, अन्यों का नहीं, क्योंकि मस्तिष्क में प्रकाशित प्रत्यय का ही कृत्रिम विभाजन संभव है। परमाणु अविभाज्य है किन्तु मस्तिष्क में प्रकाशित इसके प्रत्यय को लेकर ही परमाणु के भी आधे में आधे संबंधी व्यवहार होता है। किसी अणु में किस परमाणु का आधा भाग दूसरे परमाणु के किस आधे भाग से संबंधित है; यह सारा व्यवहार मस्तिष्क में प्रत्यायित पदार्थ को लेकर ही सम्भव है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यद्यपि विश्लेषण एक कृत्रिम प्रक्रिया है किन्तु अज्ञानी को समझाने तथा खण्ड रूप से अखण्ड को समझाने के लिए उपयोगी एवं एकमात्र उपाय है। अर्थ अखण्ड होता है। अखण्ड को एकबारगी समझना केवल बुद्धों के वश की बात है। अबुद्ध तो अखण्ड को खण्ड के द्वारा ही समझ सकते हैं। इस तरह विश्लेषण का एक दार्शनिक उद्देश्य अखण्ड को, जो अबुद्धों को स्पष्ट नहीं होता, खण्ड के माध्यम से स्पष्ट बोध कराने का उपाय होना सिद्ध होता है।

भाषा का विश्लेषण भी भाषा द्वार ही होता है और ऐसा करना तभी सम्भव है जब हम भाषा के बोधरूप और ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक दोनों रूपों को स्वीकार करें। दोनों रूपों को स्वीकार करने की स्थिति में ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक भाषा के माध्यम से विचार या प्रत्ययरूप भाषा का विश्लेषण होता है। चूँकि शाब्दबोध में पहले भाषा अपना प्रकाश करती है, अतः वह वाचक बनती है और उससे अभिन्न रूप से उसका अर्थ प्रकाशित होता है जो उसका वाच्य होता है। यह वाच्य भी भाषा का ही वाच्य है जो विश्लेषण की क्रिया का विश्लेष्य बनता है। वाचक वाच्य में अभिन्नता होने से विश्लेषण की प्रक्रिया में अपेक्षा अनुसार जो वाचक है उसके माध्यम से वाच्य का विश्लेषण होता है और विश्लेषण की अपेक्षा से वाच्य भी वाचक की स्थिति में प्रत्यापित होता है और तब उसके माध्यम से उसका वाच्य विश्लेष्य बनता है। इस तरह भाषा की भाषा के द्वारा विश्लेषण की सम्भावना बनती है। किन्तु यदि भाषा को ध्वनियों अथवा लिपियों तक ही सीमित माने तो वाचक-वाच्य रूप में पूर्व की भाँति सम्बन्ध नहीं होने से विश्लेषण की सम्भावना नहीं होगी। यही नहीं, चूँकि ध्वनियाँ/लिपियाँ स्वरूपतः बोधरूप नहीं होतीं, और अर्थ से अभिन्न नहीं होतीं, अतः वाचक और वाच्य के परस्पर स्थिति बदलाव भी उनमें सम्भव नहीं होगा। अतः भाषा से भाषा के विश्लेषण की सम्भावना नहीं बन सकती। अगर एक तरह की ध्वनियों अथवा लिपियों को अर्थ प्रत्यय की समानता के आधार पर दूसरे तरह की ध्वनियों/लिपियों में परिर्वतन कर उसका अध्ययन विश्लेषण माने तो विश्लेषण दार्शनिक क्रिया नहीं होगा। विश्लेषण दार्शनिक क्रिया तब होता है जब इसका सम्बन्ध विचार या बोध से होता है और यह स्थिति विचाररूप शब्द एवं अर्थ के सिद्धान्त में ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनती है। बुद्धि भी उन्हीं अर्थों का विश्लेषण कर सकती है जो इसमें प्रत्यायित होते हैं। चूँकि शब्द भी बुद्धि में प्रत्यायित सत्ता है अतः उस अखण्ड प्रत्यय में वाचक वाच्य भेदपूर्वक बुद्धि उसे अपने विश्लेषण का विषय बना पाती है और इस तरह भाषा के द्वारा भाषा का विश्लेषण सम्भव हो पाता है।

भाषा और अर्थ सम्बन्धी दूसरे विचार में अर्थाभिव्यक्ति में भाषा तटस्थ या निष्क्रिय न होकर सक्रिय होती है। सक्रिय इसलिए कि अर्थ में भाषा को यहाँ प्रकाश्य-प्रकाशक रूप माना गया है। यह पहले अपना प्रकाश करती है और भाषा का प्रकाश होने पर उससे अभिन्न रूप में उसका अर्थ प्रकाशित होता है। भाषा से अर्थ पृथक् नहीं है। समस्त ज्ञान भाषानुविद्ध है और भाषानुविद्ध प्रत्यय ही दार्शनिकों के चिंतन का विषय या दार्शनिक विषय है जिसे नकारकर कोई भी चिंतन दार्शनिक चिंतन नहीं हो सकता। भाषा से प्रत्यायित भाषा एवं अर्थ की अवधारणा डेरिडा के *डिकन्स्ट्रक्सन अस्त्र* से सुरक्षित इस अर्थ में है कि यह न तो कोई तात्त्विक विषय या अर्थ है और न ही भाषा के पर-अर्थ की व्याख्या को अपने में स्थान देता है। बल्कि डेरिडा ऐसे भाषा प्रत्यायित अर्थों के आधार पर ही पर-अर्थ को विलम्बित एवं अभाव रूप दिखाने में प्रवृत्त हो पाते हैं। निष्कर्षतः वाचक के बोधरूप मानने, उससे प्रकाशित अर्थ से उसकी अभिन्नता स्वीकार करने तथा ध्वनियों एवं लिपियों को इसकी अभिव्यक्ति का माध्यममात्र स्वीकार करने से दूसरे सिद्धान्त में अनुवाद एवं विश्लेषण की व्याख्या के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है। इस सिद्धान्त में आन्तस् भाषा एवं उससे अभिन्न उसका अर्थ अनुवादों का स्थिर विषय बनता है। अनुवादों में विषय वही रहता है जो मूल का विषय होता है, केवल ध्वनियों अथवा लिपियों, जिनसे आन्तस् भाषा अभिव्यक्त होती है, भिन्न होती है किन्तु लिप्यन्तर अथवा ध्वन्यन्तर से विषय का अन्तर नहीं होता और उसी आधार पर अनुवादों के अच्छा होने का निर्णय देना भी सम्भव हो पाता है। चूँकि इस सिद्धान्त में आन्तर्प्रदत्त भाषा और अर्थ का अभेद माना गया है अतः भाषा का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण है। ऐसा मानना तर्कतः सम्भव तभी दिखाया जा सकता है जब ध्वनियों/लिपियों के अतिरिक्त आन्तस् भाषा को स्वीकार किया जाय। आन्तस् भाषा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोधरूप होने से अखण्ड है फिर भी, समझने-समझाने के लिए ध्वनियों/लिपियों के माध्यम से इसका कृत्रिम विभाजन स्वीकार करना दार्शनिक एवं व्यावहारिक प्रयोजन के लिए महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक प्रयोजन के लिए इस अर्थ में कि व्यवहार विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है। दार्शनिक प्रयोजन के लिए इस अर्थ में कि दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से ही चिंतन में अग्रसर हो सकता है। अनुवाद तथा विश्लेषण भी दार्शनिक क्रिया तभी हो सकते हैं जब हम ज्ञान की शब्दानुविद्धता को स्वीकार करें। चूँकि यह सिद्धान्त ज्ञान के बोधमूलक व्याख्या एवं विश्लेषण को अपनाने पर बल देता है अतः दार्शनिक दृष्टि से अधिक श्लाघनीय है।

स्वातकोन्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा ८४६००४

देवेन्द्रनाथ तिवारी

टिप्पणियाँ

१. इस दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन भर्तृहरि ने अपने ग्रंथ वाक्यपदीय में किया है। वाक्यपदीय ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक भाषा और आन्तस्भाषा (स्फोट) का अन्तर, ज्ञान की शब्दानुविद्धता तथा भाषा एवं अर्थ की अभिन्नता के आधार पर भाषा-दर्शन की सांगोपांग दार्शनिक व्याख्या करने वाला प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है।

२. B. K. Matilal, **The Word And The World**, p.122, Oxford University Press, Oxford, 1990.

३. वही, पृ. १२२

४. वही, पृ. १२२

५. शल्यजी के एतद् सम्बन्धी विचार विशेष रूप से **समाज : दार्शनिक परिशीलन** पृ. ४७-६३,६४-८० तथा पृ. १०-२५, इलाहाबाद संग्रहालय की पार्थका 'माया' पृ. १०-२५ में प्रकाशित 'भारतीयभाषा चिन्तन : भाष्य एवं आलोचना' तथा 'मधुमति' पृ. १३-१५ जून १९९७ में देखे जा सकते हैं।

६. Derrida's Critique of the presence of the signified and his counterclaim that the signified is always defferred

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

and absent unsettles the concition of the subject as presence. R. Sundara Rajan, Phenomenology, Hermeneutics and Deconstruction. p. 249, ICPR, New Delhi, 1991.

७. सुन्दर राजन ने पाल रीकर के निबन्ध **'Existence and Hermeneutics'** जो जोसफ ब्लेन्डर द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Contemporary Hermeneutics, 1980 में प्रकाशित है, के पृष्ठ २४२-४३ पृ. पर, जैकस डेरिडा की दृष्टि से विश्लेषित करते हुए, लिखा है "The idea of Being as the transcendental signified of all signifiers, any such idea of a transcendency of discourse is a mirage, for the very idea of reference is thinkble only in terms of language." Ibid. p. 233

८. देखें - **जाति समुद्देश** १०१-१०५

९. संस्कृत एवं संस्कृतेतर भाषाओं से होने वाले ज्ञान में पहले भाषा और तब उससे अभिन्न अर्थ का ज्ञान होता है - इस विषय पर, भर्तृहरि ने, अपभ्रंशों से ज्ञान की व्याख्या के अवसर पर संकेत किया है। देखें-**वाक्यपदीय पर भर्तृहरि की वृत्ति** १/१४७/१५५

१०. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानम् सर्व शब्दे भासते।। **वाक्यपदीय** १/१२३

११. बी. के. मतिलाल, १९९०, पृ. १२३

१२. देखें - यशदेव शल्य, **समाज : दार्शनिक परिशीलन**, पृ. ६४-८०

१३. उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। **वाक्यपदीय** २/२३८

१४. अपोद्धार की विशद व्याख्या भर्तृहरि ने वाक्यपदीय प्रथम खण्ड के कारिका २४-२६ की वृत्ति में की है।

१५. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते।। **वाक्यपदीय** १/५५

१६. देखें Philosophy of relation between word and meaning, JICPR, Vol, XI, No. 2, pp. 43-55, 1994

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१७. विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाशते।
न सत्तैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः।
अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं ग्राह्यते तथा। वाक्यपदीय १/५६-५७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिचर्चा में

'धर्मवीर भारती - व्यक्तित्व और कृतित्व' पर प्रतिक्रिया

दिवंगत धर्मवीर भारती के निधन के बाद तीन सालों में ही तीन पुस्तकें सामने आना अपने आप में एक खास बात है। यों तो, हिन्दी में अज्ञेयजी के बाद भारतीजी पर ही खूप जमकर चकल्लस हुई है। उक्त तीन पुस्तकें हैं : 'अनन्त पथ के यात्री धर्मवीर भारती' (श्री विष्णुकान्त शास्त्री); धर्मवीर भारती - व्यक्तित्व और कृतित्व' (श्री. चंद्रकांत बांदिवडेकर); तीसरी श्रीमती पुष्पा भारती द्वारा संकलित व संपादित 'धर्मवीर भारती की साहित्य साधना।' यहाँ संप्रतिकृत हैं बांदिवडेकरजी की कृति और तीसरी पुस्तक में छपे उनके तीनों लेख।

किसी भी कृति व्यक्तित्व के बारे में न केवल व्यक्ति-विशेष के अपने वक्तव्य-मंतव्य-भाषण-पत्र आदि प्रत्युत् दूसरों के जानना-परखना-समझना आवश्यक है। अन्यथा 'समग्र परिचित' नहीं हो पाती। स्मृति-शेष व्यक्ति के कृतित्व और व्यक्तित्व के बारे में तो यह बहुत ही मुश्किल हो पडता है, कारण संबंधित कुछ छिपे हुए खास पहलुओं पर अतिरिक्त कुछ भी कहना-लिखना नक्कार खाने में तूती की आवाज कौन जानना-सुनना चाहता है...। इसीलिए यहाँ बांदिवडेकरजी की पुस्तक तथा उनके लेखों पर एक संप्रतिक्रिया है। यह 'आलोचना की कैसी भी प्रत्यालोचना' कतई नहीं है। बांदिवडेकरजी ने अपनी कृतियों में 'अच्छे पडोसी' और 'सुपरिचित' होने के स्वसामर्थ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है, यह सर्वथा स्वीकार्य है। इन पुस्तकों द्वारा भारती जी के साथ अच्छी-खासी जान-पहचान संभव है। कीर्तिकाय की यही तो विशेषता होती है।

प्रथम अध्याय 'जीवन-वृत्त' में केवल सात ही पृष्ठों में बांदिवडेकरजी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने भारती जी की वैयक्तिक गाथा समेट दी है। वस्तुतः वह एक समूचे उपन्यास का विषय है जिसे आदरणीय पुष्पाजी ही अंजाम दे सकती हैं, बशर्ते, वे स्वयं एकदम वस्तु-विषयनिष्ठ रह सकें। बांदिवडेकरजी की भारती जी की समस्त रचनाओं से वानगी या नमूने की रचनाओं का एक संग्रह भी प्रकाशित करानी चाहिए। भारती ग्रंथावलि के नौ खण्ड तो सब के द्वारा अनुशीलन असंभव है।

दूसरे अध्याय में 'भारती की कविता' पर लेखकीय विदग्धता प्रत्येक पन्ने पर अंकित है। यह कहना एकदम ठीक है कि नये कवियों ने अपनी रचना को जीवन के अछूते प्रश्नों को छूने की जो अतिरिक्त जागरुकता अपनायी वह युगानुरूप और परम्परा के जडोंसे अलग रहने के प्रयास युगानुसार ही सूखने भी लगी, हवाई महलों या बालू के घरौदों सा विलम गयी। कविता पुनः नयी या पुरानी कविता नहीं रही। 'उत्तराधुनिक कविता' या कालातिक्रान्त युगाग्रगामी नहीं बनी। 'प्रगतिशील' और 'प्रयोगधर्मा' विशेषण तो सदा ही वाञ्छनीय हैं। वही मानवीय सर्जकता का वैशिष्ट्य एक तरह से प्राकृत सर्जनाओं से पृथक्त्व है। अतः बांदिवडेकरजी का प्रथम अनुच्छेद शीर्षक ठीक ही है : जीवन्त परम्परा और सशक्त नवीनता का उन्मेष। याने भारतीजी के कवि-कर्म-कलाप में 'पाश्चात्त्यों का अन्धानुकरण' या अतिरिक्त प्रभाव; 'भारतीय परम्पराओं की अवमानना' या परम्परा की सही अवधारणा का अभाव; 'सामाजिकता अथवा जन-कल्याण की उपेक्षा' या परिस्थिति परिवेशसे कटाव-अलगाव; 'अतिव्यक्तिवाद', कुण्ठा, अश्लीलता, बौद्धिकता की प्रचुरता और दुर्बोधता, 'आरोपित मनःस्थितियाँ, आदि दोष नहीं हैं। भारतीजी ने परम्परागत मिथक, सांस्कृतिक बिम्ब, ऐतिहासिक, घटनाओं का सदुपयोग किया है, शब्दों का सम्मान बरकरार रखा है। (देखें 'ठण्डा लोहा' प्रथम कवितागुच्छ)

लेकिन 'सातगीत वर्ष' में उनकी कविताएँ आन्तरिक भावमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही नहीं युगानुरूप शंकाएँ, व्याकुलताएँ, वंचनाएँ, वैयक्तिक अकेलापन,. गहन चिन्तन भी परिवेषित करती हैं। ''अब प्रकृति की रंगमयी, रसमयी छवियाँ कवि के लिए सहज आकर्षण की वस्तु न रहकर थके मन और ऊबे क्षणों का सहारा हो गयी हैं। 'प्रभू' शब्द का व्यंगभरा प्रयोग भी हुआ है। उसके गीतों में कस्बाई, गेंवई जीवनबिम्ब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बेझिझक प्रयुक्त है। बांदिवडेकरजी ने यह सब सोदाहरण दिखाया है। कवि में स्वल्पालाप में संयत स्वरों का महत्त्व बिम्बों के कलात्मक प्रयोग की क्षमता, शैल्पिक सचेतनता भरपूर हो उठती है।

पुस्तक में सर्वप्रथम 'प्रस्तावना' से ही जाहिर है कि यह भारती जी की 'माहात्म' का लेखा-जोखा है : 'वरिष्ठतम रचनाकारों में से एक', 'बहुआयामी प्रतिभा', 'विलक्षण अभिव्यक्ती क्षमता का मणिकांचन योग' के साथ कर्म-कौशल का संभाव अवश्य ही खटकता नहीं है।

भारतीजीने जो भी किया है वह बहुत ही कार्यनैपुण्य के साथ किया है। गहन-संवेदना को लोग प्रायः व्यावहारिकता पर हावी नहीं होने देते। वे तो 'जे विनुकाज दाहिनेहु बाँये' जैसे लोगों को भी अपना घोर दुश्मन नहीं बनाते हैं। जीवन संघर्ष में उनका लोहा सभी मानते हैं। और वे सामान्य जनों को भी अपनी संकीर्णताओं से निकलने को बाध्य करते हैं। हिन्दी पत्रकारिता में इसी से भारती जी को अभूतपूर्व सफलता मिली। परिस्थितियों का चिन्तन एवं युक्तिपूर्ण विश्लेषण यह उनकी विशेषता हमेशा बनी रही और साहित्यिक होने के नाते उसमें सरसता भी बरकरार मिलती थी। यह सुखद आश्चर्य की बात थी।

बांदिवडेकरजी ने 'प्रस्तावना' में जो कुछ इंगित किये हैं उनकी यथायथ विवेचना ही सारी किताब में है, अतः यह प्रस्तावना पाठकों के लिए अवश्य पठनीय है। सचमुच भारती जी की साहित्य-साधना की सिद्धि वैपरित्य और वैविध्य के बीच सुसंगत समन्वय है। लेखकीय अभिमत पहले सात अध्यायों में ही है। आठवें में भारती की कविताओं से कुछ चुनी गयी हैं कालक्रम से; ये अनेक काव्य वैशिष्ट्य के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की निदर्शनाएँ हैं। नवें में भारती की प्रकाशित कृतियों की सूची है। इसमें रचनाओंके काल का भी निर्देश रहता तो और भी अच्छा होता।

"तन का केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है।
अब यह जूहीके फूलोंसा तन नहीं रहा
पर इनमें पहले से कहीं अधिक जादू है।'

कारण तन-मन अभेद्य हैं - सदा सहचर, देश-काल जैसे भेदाभेद के मूर्त प्रत्यय। 'शरीर' और 'शव' एक नहीं होते, अन्तर्द्वंद्व, कारुण्य, प्रेम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि सभी मनोव्यापार शारीरिक तंत्र की सापेक्षता के सहारे ही व्यक्त हो सकते हैं। अतः यह उपस्थापना कि कविता में यत्र-यत्र सर्वत्र प्रायः सारी रोमांटिकता के बावजूद भारती के कवि में अन्वेषा और आस्था के सशक्त स्वरों का आरोहावरोह और तानों की समृद्धि भी पर्याप्त थी। यह अध्याय (पृ. १८ से ६७) भारतीजी की कविता की आलोचना में शायद ही कोई खूबी बाकी छोडता है। मूलतः उसमें एक 'सचेतन कलाकार की अन्तर्मुखता है।'

सामाजिक अव्यवस्था और मूल्यभ्रष्टता की वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ कवि में जहरी छटपटाहट को जनमती है और यथार्थ बोध की कडवाहट उसे व्यंगस्वर ऊँचा रखने पर मजबूर करती है। बांदिवडेकरजी कविताओं को शीर्षक देकर यह अच्छी तरह बता देते हैं। विशेषतः प्रमथ्युगाथा की विवेचना बहुत ही अच्छी बन पडी है। उनका यह कहना वाजिब है कि प्रमथ्यु मिथक यों तो साहित्यस्रष्टा मानस को सदा-सर्वत्र-सर्वदा झकझोरती रही है। किन्तु भारतीजी ने उसे 'अनेक नए आयाम दिये हैं।' भारती जो इस दिशा में संलग्न रहे जैसा कि उनकी परवर्त्ती काव्यकृतियों से भी जाहिर हुआ है। (देखें 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया'।)

इस पुस्तक में उपर्युक्त दोनों कृतियों की भरपूर समालोचना मिलती है। हिन्दी के और भी कुछ आलोचकों ने इन पर कडवी-मीठी बातें कही हैं। वे सभी पठनीय हैं। सभी से हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि सत्य हरेक युग में समसामयिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक रीति-नीति से भिन्न रहता है। आदर्शों और मर्यादाओं का निर्वाह या अनुशीलन पालन पूरी तरह कभी नहीं हुआ, न हो पाता है, न होगा। इसलिये कोई भी युग-विशेष न अन्धा होता है न सूझता या सूजता। हम सभी 'अन्धेनैव यथान्धाः' उदाहरण हैं। कमोबेश (ज्यादा-थोडे) की बात अलग है। इसके अलावा कथनी-करनी या सोच-विचार, बातें और काम-काज में समन्वय कोई भी व्यक्ति/समाज राष्ट्र और राष्ट्रों के समुदाय नहीं कर पाते। इतिहास इसका गवाह है।

प्रायः सभी साहित्यकार इतिहास और मिथकीय वाङ्मय में, वक्तव्यों में घपला करते रहते हैं। और यह भी कि इतिहास भी मात्र देशकाल की घटनाओं का, प्रवृत्तियों का या रुझानों का लेखा-जोखा नहीं है। वह सारे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का समग्र संदर्शन होता है। परिवर्तन ही पुनरावर्तित होते हैं, यहाँ तक कि, प्राकृतिक संघटनाएँ भी समाज या ज्यों की त्यों नहीं घटतीं। दूसरी बात यह कि उत्तम सृजन या सर्जना-शक्ति का उपयोग वह है जिसमें युगानुरूप नये मिथक गढें जायें, पुराने मिथकों से छेड-छाड जरूरी नहीं। हाँ, उनकी समझ और उसका संप्रेषण नयी प्रक्रियाएँ अपना सकते हैं। पर ये भी सद्यतम ज्ञानविज्ञान, अनुभव एवं अभिव्यक्ति से संपृक्त हो तभी स्वीकार्य होती है। अन्यथा शब्दसंयोजन, प्रतीक, बिम्ब, रीति, शैली आदि सभी फीके पड जाते हैं।

रामायण, महाभारत और समग्र अन्य सगुण-निर्गुण-भक्ति-परक वैष्णव साहित्य का यथायथ समग्र अनुशीलन करें तो भारतीजी के 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' युवा मानस के विस्फोट से लगते हैं। इनमें कोई क्लासिकल तत्त्व ढूँढना या नयी मानसोपलब्धि पाना हमें संभव नहीं लगता। बांदिवडेकरजी ने भी इनकी विवेचनाएँ प्रचलित धारणाओं के अनुकूल ही की हैं।

महाभारत में द्वैपायनकृष्ण और वासुदेव कृष्ण (पहले कृष्ण या व्यास परंपरा द्वारा सृष्ट) तथा कृष्णा (अयोनिजा, यज्ञसंभवा, द्रौपदी, पंचपातिका) इन तीनों के इर्द-मिर्द ही सारा ताना-बाना है। रामायण(णों) में पूर्वतर्त्ती अपनी मिथकीयता के कारण सीता और राम की तरह पति-पत्नी नहीं न ही 'भागवत' के प्रेमी-प्रेमस्वद राधा-कृष्ण; अथवा गीता के कृष्ण-अर्जुन जैसे 'बन्धु'। परम्परागत राम और कृष्ण इतने जटिल चरित्र-पात्र हैं, या हो चुके हैं कि, शायद ही ऐसे मिथक अन्यत्र किसी वाङ्मय में उपलब्ध हों।

बांदिवडेकरजी ने भारती-काव्य-भाषा के स्वयं कवि के वक्तव्यों से उद्धरण देकर यह भली-भाँति बताया है कि भाषा भाव की अनुगामिनी रहे, वह पत्थर का ढोंगा बनाकर कविता के गले में न लटका दी जाय न वह रेशम का ऐसा जाल बने कि कविता में मर्म की बातें भी उलझी रहें। आवश्यकतानुसार भारती जी शब्द और वाक्य दोनों का समुचित उपयोग कर कवि की भावाभिव्यक्ति की 'युनिट' बनकर। अतः भाषा की दृष्टि से अपनी तरह भारती प्रसाद और पन्त की परम्पराओंका निर्वाह करते हैं। प्रयोगों से उन्हें तोडते नहीं, सशक्त अवश्य करते हैं। उनकी सर्जनात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काव्य-प्रतिभा कभी निष्क्रिय वा मन्द नहीं पडी। उसमें पहले की 'रोमानी तत्त्व संयत, परिपक्व और साझे में भोगे हुए दर्द की समझ तथा चिन्तन की परिपक्वता से अधिक आस्वाद्य बन गये। सबसे अधिक ध्येय है यहाँ कविताओं की सहृदय व्याख्या, या कहिए, कवि से सहानुभूति के स्तर पर काव्य के संवेग और संवेदनाओं का अहसास जो हर स्तर में व्यक्त है। वे सभी अहम उद्धतियाँ 'भारती की कविता' के पृष्ठों में संयोजित हैं जो पाठक की जिज्ञाए, भावुकप्रवणता, भाव-शबलता अनुभूतियों का मीठा दर्द बढाती हैं। तरंगित शक्तिशाली जीवन का एक आभास होता है।

बांदिवडेकर जी पग-पग पर 'पर्वणि पर्वणि यथा रस विशेषः' कराते हैं। जैसे 'आखिरकार', 'एक सुखान्त ? प्रेम की कहानी', 'प्यार पकी उम्र का', या अतीत-अमर स्मृतियों और प्राकृतिक चिन्मय अनुभूतियों की काव्याभिव्यंजनाएँ एवं उनकी व्याख्याएँ इस पुस्तक की हृद्य, संवेद्य, संग्राह्य भौतिक अंश हैं। भारतीय मनीषा का आत्मिक रिश्ता प्रकृति (निसर्ग प्रधान) से इस प्रकार संवादित है कि वह मानवीय चेतना को चिन्मयी लगती है। यह गाव महज कल्पना नहीं, चिर भारतीय संस्कार सच्चिदानन्द परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति का सुफल है। चराचर जगत्, समस्त वैभव-सम्पन्नी जगती भारतीयों के संवेदना प्रवण चैतन्य में काव्य के सशक्त उपादान लगते हैं। प्रकृति-पुरुष (चैतन्य) के समाहार 'एक विचक्षण गरमाहट आ जाती है। सचमुच प्रकृति तादात्म्य' कवि व्यक्तित्व का एक अद्वितीय आयाम प्रकट करती है।'

बांदिवडेकरजी के अनुसार भारतीजी की आपात कालिक कविता रचनाएँ उत्कृष्ट हैं, जैसे कि शायद उस युग में कम ही लिखित और प्रकाशित हुईं; गोष्ठियों में पढी अवश्य गईं। 'भारती की कविता' शीर्षक इस अध्याय में लेखक ने पचास पृष्ठों में जो समालोचना की है वह बहुत से 'समीक्षकों' को राह दिखाती है। उसका यह निष्कर्ष भी अविवाद्य है कि भारती ने 'धर्मयुग' के सम्पादक रहते हुए भी अपने 'काव्यानुभव' को 'अखबारी' नहीं होने देकर 'काव्य को कविता की कलात्मक शर्तों पर प्रस्तुत किया। फिर भी वे कभी कलावादी नहीं रहे। कविता के मुहावरों में बदलाव, अनेक भाषिक प्रयोगों का काव्यानुभव में घुलाव, व्यंगों का कसब, विरोध, वक्रता, विडम्बना, असंगति भरे भाव, नाटकीयता,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामन्तगाही आदि का जमाव, दुर्बोधता का अभाव है।'

'कथाकार भारती' शीर्षक तीसरे अध्याय के ६५ पृष्ठ भी अहम हैं। हिन्दी पाठक जगत् में 'गुनाहों के देवता' को संमिश्र स्वागत मिला। १९४९ में छपे इस के सात संस्कारणों के बाद इस उपन्यास के १९९१ में बाईसवें मुद्रण का होना उसकी लोकप्रियता का सबूत है, यद्यपि सफलता का यह बौना मापदण्ड है - साहित्यिक जगत् में। फिर भी यह मान्यता ठीक है कि यह उपन्यास मात्र किशोर-वय की भावुकता की सशक्त अभिव्यक्ति नहीं है। इसमें यथार्थ और आदर्श वास्तविकता और कल्पना, रोमान और बौद्धिक विमर्श, व्यक्तिवाद और समाष्टिवाद, अतीत और वर्तमान, कालिकता और कालातिक्रमण सब का समन्वय है। कारण में साहित्य के उपादान परस्पर-विरोधी नहीं पूरक होते हैं। इनके विरोधाभास का यथेच्छ परिहार सदा-सम्भव है कुशल रचना-प्रक्रिया द्वारा। उस वक्त के इलाहाबाद का जो चित्र इसमें अंकित है वह भी लेखकीय समग्र जीवन-दृष्टि का परिचायक है। इसमें गांभीर्य और मजाक संवादों में यथास्थान अभिव्यक्त है। कथोपकथन भी सशक्त है, जिससे जीवनानुभव रोचक कौतुहल जगाते हैं। सम्प्रेषण का दायरा बढता है। कथावस्तु में व्यापक सामाजिक स्तर सिमट आते हैं - विशेषतः मध्यमश्रेणी में लिये जाते पारिवारिक जीवन के।

गुनाहोंका देवता - यह २० पृष्ठीय लेखाजोखा सुनिश्चित रूप से हर पाठक में पढने की ललक जगाता है और भारती के कलाकार के प्रति उत्सुक आग्रह संबंधित पुनरुक्तियाँ विरक्त नहीं करतीं और न कटु आलोचना से निरत/भारतीजी के प्रत्येक कहानी संग्रह को चंद्रकान्तजी पुंखानुपुंख रीति से अधीत एवं आलोचित पेश करते हैं। यह साधारण पाठकों में कहानी-उपन्यास के प्रति सूझबूझ जगाती है। खूबी यह है कि बांदिवडेकर जी यदि किसी आलोचकीय मान्यता की स्थापना करते हैं तो उसे उदाहृत और प्रमाणित भी करते हैं, फतवे नहीं देते। सचमुच वे प्रखर आलोचक हैं। भारती के कथा-संसार की सारी घटनाएँ सारे चरित एक नई रोशनी से जगाए दिये हैं। पाठकों को भारती ग्रंथावली (२ खंड) पढने से पहले या बाद में यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। इसका यह मतलब नहीं की बांदिवडेकरजी सिर्फ तारीफों के पूल बाँधते हैं। वे औपन्यासिक कमजोरियाँ भी बताते हैं जैसे अन्तःसंवादों में कहीं कहीं शिथिल कलात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और बडबोलापन, उसकी अन्तर्ग्रन्थियों का विश्लेषण जिससे चन्दर और सुधा (नायक-नायिका) की प्रतिमाएँ स्वतः विकृत या परिवर्तिन होने लगनी हैं। क्या ये सारी बातें भारती जी को इच्छित थीं ? नहीं, शायद नहीं। भारती जी से इसका ठीक उत्तर मिल सकता था। कुछ तो उनके आत्मकथनों में हैं ही। हमें और एक बात लगती है कि 'गुनाहों के देवता' और कहानियों में नारी चरित्र नर चरित्रों की अपेक्षा अधिक सशक्त हैं। यह बात शरत्चन्द्र चटर्जी के रचना संभार में थी। यह रोमानियत के बाहुल्य से ही होता है। यथार्थ-चित्रण की नींव आदर्शों का अधूरा या पाखण्डी परिपालना नींव में ज्यादा बालू-वास्तविकता के मजूबत महल टिकाऊ नहीं बनने देती। आदर्शों की तरह प्रायः अनुभव भी मिथ्या होते हैं।

बांदिवडेकर जी सुधा-चरित्र को भारतीकृत रूपायण में 'कलात्मक भूल' देखते हैं। यद्यपि वे उसे भारतीय मानस की पृष्ठभूमी में स्वाभाविक नहीं मानते हैं परन्तु कलात्मक स्वर पर भारती द्वारा 'यथायथ संप्रेषित' भी समझते हैं। कारण गेसू, पम्मी और विचली के चरित एक तरह का संतुलन ला देते हैं। जाहिर है कि भारती जी की स्त्रियचरित्र की समझ में कोई भूल नहीं थी। सुधा जैसी लडकियाँ सारे भारतीय समाज में यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं। उन्हें संभालना चंदर जैसों के लिए जीवन भर एक चुनौती बनी रहती है। सुधा की अकाल मृत्यु के संबंध में चंद्रकान्त जी का वक्तव्य सटीक है। बिलकुल सही। किन्तु यह नहीं कि विनती 'चन्दर की अवचेतन में दबी हुई आदर्शपरकता के ऊपर के स्तर पर लगने का काम करती है। कारण बात इसके सर्वथा विपरीत है। अन्तर्मन में दबी है प्राकृत लैंगिक भावना (डॉ. शुक्ला की संपत्ति को हथियाने की इच्छा आदि) जो ऊपरी चेतन मन द्वारा सेन्सर्ड होकर ओढी हुई आदर्शपरकता बनती है। सुधा की भी वही हालत है और उसमें युग-युग से परम्परित विकृत प्रथा बने रूढी हुए नारी निर्यातन से और भी जटिल हो पडती है। गेसू के व्यक्तित्व में अपेक्षा कृत इस्लामिक अवदान भी हैं, पर उसका कट्टरपन आडे आता है। वे लैला और शीरीं के अलग अपने को गढती हैं। उसका मानस हिन्दू आबोहवा में बना है। यह मिश्रण ही उसका है। उसमें अन्दर-बाहर का पर्याप्त सामंजस्य इस्लामिक देन है और आदर्शवादी हिन्दवी या भारतीय। शुरू से आखिर तक पम्मी में ईसाइयत का प्रभाव स्पष्ट है। वह सर्वः स्वार्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समीहते कहने वाली चुस्त-दुरुस्त, चतुर-चालाक है। या कि 'आत्मनोहितं, जगद्धितीयां का मर्म समझती है, इस्तेमाल करती है। जो भी हो, गुनाहों के देवता के बारे में बांदिवडेकर जी की यह राय खूब समीचीन है।

बांदिवडेकर जी ने भारती के दूसरे उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोडा' की अच्छी समीक्षा की है जिसमें नर-नारी-प्यार के विविध नमूनों से पूरा कथानक सर्जित है। हमें इतना ही कहना है कि इनके प्रयोगों में प्रेम-प्यार, प्रीति, स्नेह (नेह-सनेह) वासना-कामना की जन्म-जात प्रवृत्ति, यौन, खिंचान और तृप्ति, ठोस और ठस्स-इन सब का भेद स्पष्ट होना चाहिए। प्रायः ऐसा नहीं किया जाता। आखिर क्यों ?

दुःख-सुख, आनंद क्या तन-मन के व्यापार मात्र हैं या इनका कोई और भी गंभीर उद्देश्य या महत्त्व हैं? क्या उच्चवर्गीय लोगों-लुगाइयों में आर्थिक सुविधाओं के कारण अज्ञानाधारित नैतिक आवर्जनाएँ, जातिमय घमण्ड, मज्जागत भय एवं भोगों लालसा, स्वप्निलं तन्द्राछन्न जीना बदल या मिट जाते हैं ? उपनिषदों में 'नेति नेति' एक प्रक्रिया मात्र है 'तत्त्वमसि', 'सर्व खल्विदं ब्रह्मं', 'ब्रह्मं एकमेवाद्वितीय' और अन्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' तक पहुँच है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ (माने आत्मिक उपलब्धियाँ) हैं। क्या भारती जी की आस्था व्यंग्य और वस्तु-स्थिति उपस्थापना और भी किसी लक्ष्य में अनुप्राणित है। पुराने साहित्य-स्रष्टा लोग कविकर्म (साहित्यकारिता) के लक्ष्यों और सिद्धियों में यश, अर्थप्राप्ती (प्रयोजन-सिद्धि) अकल्याण का विनाश और तुरन्त परानिर्वृत्ति का सामंजस्य मानते थे; और नये 'जीवन की सम्यक् आलोचना' जीने के तरीकों की सम्यक् विधि विवेचना आदि बतलाते हैं। आज की 'हिन्दी साहित्य रचनाएँ क्या इस तरह दशा-दिशा दर्शन भलीभाँति पेश करती हैं ? सात घोडे तो वस्तुतः सतरंगी किरणों के प्रतीक हैं या कि लाईट, फ्रीक्वेन्सीज, माणिक आदि के कौन कौनसे रंग हैं ? जीवन की सारी रंगीनियों में वे कितने अहम् हैं, याकि सभी मदरंग हैं ?

देह और देही के जिस द्वन्द्वसे सारा वैश्विक चिन्तन आक्रांत है उसे क्या कभी मिटाया जा सका, हटाया जा सकता है, याकि वह अभी-कभी-जभी-सभी तरह मिटेगा-हटेगा से, जड से जीवन की मूल ऊर्जा सक्रिय कम अक्रिय कम-ज्यादा होती रहती है। विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और प्रकाशवादी आत्मा, इन शब्दों को, शाब्दिक प्रत्ययों के दोहरान केवल तोता-रटन्त है।

उपन्यास आदि साहित्यकार भारती अपने कथ्य, शिल्प, शैली उद्देश्य, जीवन-दृष्टि, जगत्-नजरियों के लिए जाने-माने हैं। उनके काव्य-नाट्य साहित्य में सरसता, रोज-ब-रोज घटती घटनाओं का समाहार, जीवन्त प्रसंग वर्णन-श्रवण, सवाल-जबाब, पूर्णता का आभास, सगतिक निरूपण प्रभाव आदि सभी कुछ हैं - बांदिवडेकर जी की ये मान्यताएँ शायद सब को स्वीकार्य न हों। लेकिन यह निस्सन्देह तथ्य है कि सारी पुस्तक में यह सुस्पष्ट करने की कोशिश है और वह प्रायशः कामयाबी का सेहरा पहने है। यह कितना छायालोक कितना-व्यामिश्र जगत् है यह कौन कह सकता है। बेशक भारती जीने की सम्रगता में अपनी प्रयोगधर्मिता भी जोड सके और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी बने रहे - यह मानने में शायद ही किसी को हो सकता है या होगा। पूर्वाग्रह (ईर्ष्या-द्वेष-जनित) की बात अलग है। वैसे यह मात्र एक मिथ्या-मिथक-मात्र है कि सूरज के एक पहिए को सात घोडा रथ है वह आगे बढता है या पीछे हटता है। सूर्य मात्र एक गैसीय पदार्थ-पुँज है जिसके काले धब्बों (ब्लैक होल्स) की सद्यतम व्याख्या फिलीप हाकिन्स ने अपने समय के इतिहास में की है। सूर्य का यदि कोई रथ या घोडे हैं तो वे अचल हैं और स्वयं सौर मण्डल या ब्रह्माण्ड में एक कण जैसा है, इसीलिए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म की कल्पना की जाती है - ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी का लय-स्वरूप अनिर्वचनीय, अवाङ्मनसगोचर।.....

बांदिवडेकरजी ने उपेक्षित सशक्त कहानियाँ और युवा लेखकीय व्यक्तित्व की अच्छी खासी सहृदयता से समीक्षित की हैं। यह उनकी हिन्दी कथा-समीक्षा को नई देन है। यह सिद्ध किया है कि 'साहित्य की मूल्यवत्ता संख्या पर नहीं, समय के फैशन पर नहीं, लेखक की उम्र पर नहीं बल्कि चिन्तन में स्पन्दन पैदा करने की उसकी क्षमता पर है।' (पृ. ९०८)। भारतीजी कुल ३२ कहानियों (चारों संग्रहों प्रदत्त) पर विशद समीक्षा कर चन्द्रकान्त जी का यह निर्णय संवेद्य है कि, 'सात-आठ कहानियाँ निश्चित रूप से सशक्त कहानी है।.. सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं 'गुल की बन्नो', 'सावित्री नंबर दो', 'यह मेरे लिए नहीं', और 'बन्द गली का'-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ये चारों कहानियाँ विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में शामिल की जा सकती हैं।''

चौथें और पाँचवें अध्यायों को एकत्र भी किया जा सकता है और हमें पहले पाँचवा ! भारती की संस्कृति अवधारण पहले पढना ज्यादा जँचा, चौथा 'समीक्षक भारती' तो उसीके निदर्शन पेश करता है। दोनों में भारती जी के प्रखर प्रज्ञा-प्रतिज्ञा-प्रस्तुति कौशल बहुत ही अच्छी और सूझबूझ से पेश हुए हैं - इस पुस्तक के दिलो दिमाग जैसे। छठे और सातवें 'पत्रकार भारती' और 'बहुआयामी प्रतिभा के धनी भारती' भी भारती जी के कृतित्व के साथ भारती जी के व्यक्तित्व की समग्रता पूरी करतें हैं। सातवें में ही 'निबन्धकार और यायावर भारती जी के महल उजागर हैं - संक्षेपतः पुस्तक सचमुच स्पृहणीय और संग्रहणीय है।

डा. पृथ्वीनाथ शास्त्री

३३, पूर्वपल्ली,
शांतिनिकेतन, ७३१२३५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथसमीक्षा

लोक, संपा. पीयूष दईया, प्रका.-भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर (राज.) ३१३००१, पृ.-७०२, सन २००२, मूल्य : रु. ७५०/-

मनुष्य की चेतना के विकास में लक्षित-अलक्षित तौर पर लोक-संस्कार की महती भूमिका है। सभ्यता और परिवेश के बदलाव के साथ मनुष्य का अन्तर्बाह्य जितना भी बदल गया हो, एक-न-एक क्षण ऐसा आता ही है जब व्यक्ति को अपनी विशिष्ट पहचान के लिए किसी लोक या जन-समुदाय से जुडना पडता ही है या दूसरे लोग उसके कर्म, विश्वास, आचार-व्यवहार या भाषा आदि में लक्षित किये जाने वाले किन्हीं विशेष लक्षणों के आधार पर उसे जन-समुदाय विशेष के साथ जोड कर देखते हैं। एक प्रकार से लोक हमारी वह भूमि है जिससे हमारे व्यक्तित्व और व्यवहार का सहजात स्वभाव-संबंध है। हमारी असमता और पहचान की भूमि है लोक।

मानववंशशास्त्रियों, इतिहासविदों, मनोवैज्ञानिकों, धार्मिकों, समाज-शास्त्रियों, भाषाविदों, कलाविदों और साहित्य-चिंतकों, सबकी चिंता का विषय रहा है लोक। मौखिक परंपरा में, क्रियात्मक रूपों में, आदिम अभिव्यक्ति चिह्नों में, विश्वासों और अनुष्ठानों में, मिथकों और पुराकथाओं में, प्रतीकों में, कलाओं में, लोकोक्तियों और कहावतों में अपरिमेय विस्तार से लोक की भावना का प्रसार पाया जाता है। क्षेत्रीय और कालगत सीमाओं, मानव समुदायों की विभक्ति और संगठनों ने लोक-भावना और लोक-संस्कार को जहाँ एक ओर विविधता का एक भरा-पूरा संसार दिया है वहाँ दूसरी ओर इस सबमें एक अंतवर्तिनी एकता भी प्रदान की है। अपनी जडों को खोजते हुए चिंतकों ने देश-विदेश की कलाओं आदि के अध्ययन से लोक-चेतना के जिस व्यापक और अतिविस्तीर्ण संसार का उद्घाटन किया है उससे उक्त दोनों ही रूपों की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। स्वाभाविक है कि भारत जैसे विशाल और प्राचीन संस्कृति वाले देश में, जहाँ अपने स्वार्थ के लिए विदेशी आक्रमकों ने विभेद के ही बीज-बोये और सांस्कृतिक संस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, विभेद में अभेद की खोज की दृष्टि से यहाँ की लोक-संस्कृति के अध्ययन का अपरिसीम महत्त्व है। इस दिशा में देश में जो विद्वान, कलाकार, शोधकर्ता, रंगकर्मी और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection: Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिंतक कार्यरत हैं और जो संस्थाएँ विलुप्त या विलुप्तप्राय और अज्ञानवश अथवा विदेशी सभ्यता के मोहवश उपेक्षित कर दी गयी सामग्री के पुनरुद्धार तथा उपयोग में लगी हुई हैं, उनमें श्री देवीलाल सामर और उदयपुर (राजस्थान) की संस्था 'भारतीय लोककला मण्डल' का विशिष्ट स्थान है। उक्त मण्डल की स्थापना के पचास साल पूरे होने पर उक्त ग्रंथ 'लोक' का प्रकाशन किया गया है। ग्रंथ के संपादक पीयूष दईया हैं ।

'लोक' में इकहतर लेख सम्मिलित हैं। चूँकि ये हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी सहित सर्व भारतीय भाषाओं से गृहीत हैं और हिंदी में अनूदित हैं, इसलिए व्यापक सहयोग और व्यवस्था की एकरूपता संपादन-कौशल की दृष्टि से ऐसी विशेषताएँ हैं जो पाठकीय पक्ष से अचीन्ही नहीं रहतीं। अनुवाद किसी अन्य मूल भाषा-भाषी अथवा उस भाषा के अच्छे जानकार किसी हिंदी भाषी के द्वारा पूरा हुआ है। यदि कमी विषय-भेद से एक ही लेखक के दो लेख संग्रह करना जरूरी हो गया तो कभी अनुवाद के लिए भी किसी-किसी अनुवादक को एकाधिक लेखों का अनुवाद सौंपना पड गया है। संपादकीय व्यवस्था में इस विवशता से कई बार समझौता करना ही पडता है। विषय के साथ अधिकाधिक न्याय हो सके और उद्देश्य पराजित न हो, इसके लिए ऐसा करना पड जाता है। ऐसा ही हुआ भी है। पर अनुवादकों की पुनरावृत्ति विशेषतः मराठी और बाङ्ला लेखों के प्रसंग में हुई है, जबकि मराठी के दो तीन लेखकों के लेख सीधे हिंदी में भी लिखे गये हैं। निशिकांत ठकार ने मराठी के छह लेखों का हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया है और उत्पल बैनर्जी ने चार बाङ्ला लेखों का अनुवाद किया है। हो सकता है कि यह एक संयोग मात्र हो कि संपादक ने विषय के महत्त्व की दृष्टि से जहाँ से भी इन लेखों का चयन किया हो, वे पहले से ही इनके द्वारा अनूदित रहे हों।

यह बात तूल देने की नहीं है, एक तथ्य का उल्लेख पर है। महत्त्वपूर्ण है विषय की व्याप्ति और विवेचन की उपलब्धि। लोक के अध्ययन में क्लोद लेवी स्त्रास का विशिष्ट स्थान है। ग्रंथारंभ में ही उनके तीन सुदीर्घ लेखों का हिंदी भाषांतर देने के साथ-साथ स्वयं उनके विषय में आक्टेवियो पाज का लेख दिया गया है। स्त्रास के लेखों में प्रजाति के रूप में व्यक्ति के अंतर्गत बोरनीओ के खानाबदोश पेनान लोगों में व्यक्ति-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नामों के रखने की विधि का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है। इस अध्ययन की सीमा मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षियों और पौधों - फूलों के नामों तक को समेट कर समाप्त होती है। दूसरे, इन नामों में व्यक्ति संबंध, लिंग, वय, स्थिति आदि से अथवा विधि-निषेध के कारण उत्पन्न हुए प्रकार-भेद का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सहज ही यह अध्ययन मिथक को भी अपने में समेट लेता है। दूसरा लेख मिथक और इतिहास के आपसी रिश्ते और दोनों के बीच की विभाजक रेखा की पहचान कराता है, जबकि तीसरे लेख में 'सीमशियन इण्डियन' से विकसित आसदीवाल की कहानी के चार रूपांतरों में प्राप्त समानताओं और भिन्नताओं के विश्लेषण से वैज्ञानिक पद्धति पर जातीय जीवन के मूल रूप को प्राप्त करने और कहानी में हुए परिवर्तनों के कारणों को समझने का एक प्रयोग किया गया है। स्त्रास के ये लेख, विशेषतः पहला और तीसरा, अभ्यासियों के लिए आदर्श-मॉडल का काम करते हैं।

पाज का विश्लेषण स्त्रास के मिथक-विचार पर केंद्रित है और यह समुचित है कि विषय-केंद्रित होकर लिखा जाय न कि व्यक्ति-केंद्रित होकर। कर्तृत्व के सम्मान में ही व्यक्ति का सम्मान निहित है। इस दृष्टि से ग्रंथ में संकलित अंतिम लेख 'देवीलाल सामर : पुनर्मूल्यांकन के सिलसिले में' भी विशेष उल्लेखनीय बन जाता है। मोहन कृष्ण बोहरा ने ४० पृष्ठ के इस सुदीर्घ लेख में सामर जी के व्यक्ति रूप का नहीं, उनके लोक-नाट्य तथा लोक-नृत्य-चिंतन का विश्लेषण किया है और जहाँ जरूरत हुई अपना मतभेद भी निस्संकोच व्यक्त किया है। श्री बोहरा ने सामर जी के चिंतन में आत्मनिष्ठता और विरोधाभास, दोनों की उपस्थिति की शंका व्यक्त की है और वैसे विषयों में कुछ और गंभीर विचार की आवश्यकता अनुभव की है। हम समझते हैं, सामर जी के प्रति यह एक सच्ची श्रद्धांजलि है और ग्रंथ की गरिमा बनाए रखने का एक जरूरी हिस्सा है।

इसी प्रसंग में तीन और लेखों का उल्लेख भी यहीं करना उचित लगता है, भले ही तीनों में ग्रंथ-योजना में स्थान और विवेच्य कर्म का काफी फासला है। ये तीन लेख हैं : शम्मा शाह लिखित 'उज्ज्वल नीलमणि', 'अपनी जमी पर' और उदयप्रकाश के द्वारा प्रस्तुत 'हमारा समय और लोक'। अंतिम दो साक्षात्कार हैं और पहला लगभग रेखाचित्र। ये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीनों ग्रंथ में समाविष्ट सामग्री के विधा-वैविध्य के अंग तो हैं ही, तीनों के विवेचित विषयों में भी अंतर है। 'उज्ज्वल नीलमणि' शीर्षक से इसे इसी नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ से साथ जोड कर देखने की भूल की जा सकती है, पर पढते ही यह भेद खुल जायगा कि इसका संबंध सीधे कुंभ-निर्माण कला की उत्पत्ति, उसका मणिपुरी विकास और उस कला को अतिविशिष्टता तक विकसित करने में राष्ट्रपति-सम्मान 'मास्टर क्राफ्टवूमन पुरस्कार' तथा अन्य पुरस्कारों से सम्मानित श्रीमती नीलमणि देवी से है। 'अपनी जमी पर' विशिष्ट रंगकर्मी श्री हबीब तनवीर का शम्मा शाह द्वारा लिया गया साक्षात्कार है जो उनके लेखन और रंगकर्म की परतें खोलते हुए उनके इस देश की धरती, लोक और लोक-कला से गहरे जुडाव की गवाही देता है। 'हमारा समय और लोक' कोमल कोठारी से उदयप्रकाश की बातचीत है जो भारतीय लोक-कला और लोक-संस्कृति को उत्तर-आधुनिकतावादी उपभोक्ता-संस्कृति के रूबरू खडा करके हमारी कला और संस्कृति पर पडनेवाले दबावों में उनकी सुरक्षा, संरचनात्मक शक्ति और संभावित अंतर्सूत्रों की खोज की चिंता में प्रवृत्त होती है। उपभोक्ता संस्कृति, नये प्रसार माध्यमों और नवीनतम तकनीक आदि के कारण बदलती जनरुचि के साथ कुछ कलाओं के लोप और नये उपकरणों की तलाश तथा उनके उपयोग आदि के कितने ही महत्त्वपूर्ण और ज्वलंत प्रश्न इस समस्या से जुडे हुए हैं। उन सबकी गहरी पडताल इस बातचीत में संभव हुई है।

इसी प्रसंग में कर्नाटक के श्री चंद्रशेखर खम्बार का लेख 'पारंपरिक रंगमंच से संपूर्ण रंगमंच तक' भी उल्लेखनीय है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, यह लेख भी लोकनाट्य, पारंपरिक नाटक और आधुनिक नाटक तथा रंगमंच को ऐसे आपसी रिश्ते में जोड कर आमने-सामने रखता है जिसमें आपसी लेन-देन की, विशेषतः लोकनाट्य और लोकमंच से आधुनिक नाटक या मंच के आदान की, संभावनाओं की प्रतीति होती है। भारतीय रंगकर्मियों, रचनाकारों और चिंतकों के आत्मबोध को जगाये रखने के लिए उक्त साक्षात्कार के क्रम में इस लेख का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लोक-परंपरा में भी हिंदू-मुसलमान का भेद या उनका संश्लेष पाया जाता है। ग्रंथ में संकलित दो लेख इस दृष्टि को प्रमाणित करते हैं। एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है शैल मायाराम का 'मेवों महाभारत' और दूसरा है 'आई पंथ और निजारी इस्माइली पंथ'। इस दूसरे लेख के लेखक हैं डॉ. सुरेश मिश्र। हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक मिलन को रेखांकित करने वाले ये दोनों लेख सामयिक संदर्भ में जातीय विद्वेष के विरुद्ध ऐक्य-बोध को जगाने की दृष्टि से बडे काम के हैं। इसी प्रकार 'यौन चेतना का विकास : बैगा जनजाति में' और यौन अभिप्राय' शीर्षक दी लेख छत्तीसगढी बैगा जनजाति के जीवन में काम, प्रेम, और यौन संबंधों से जुडे प्रसंगों पर लोक-काव्य के माध्यम से प्रकाश डालते हैं। पहला लेख वेरियर एल्विन का है जो इस विषय के शोधकर्ता रहे हैं और जिन्होंने ददरिया, काम और झारपट गीतों का अंग्रेजी में काव्यानुवाद भी किया है। उनका यह लेख भी अंग्रेजी से ही अनूदित है और इसी लेख के साथ-साथ बैगा काव्य के उनके अंग्रेजी भाषान्तर से गीतों को हिंदी में प्रस्तुत किया है अर्नेस्ट अल्बर्ट ने जबकि उनके पूर्वोक्त लेख के अनुवादक हैं, मदन मोहन माथुर। 'यौन अभिप्राय' लेख के लेखक हैं डॉ. श्यामसुंदर दुबे, जिनका 'पक्षी अभिप्राय' पर भी सहयोगी लेख सम्मिलित है।

इन लेखों का उल्लेख विशेषतः इसलिए किया गया कि इनके विषय कुछ लोक से हटकर हैं। यों ग्रंथ की अपनी एक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत आरंभिक चार लेखों के बाद चित्रकला, कथा-कहानी, गीत, आधुनिक संदर्भों में लोक, लोक का शास्त्र-चिंतन, अनुष्ठान, लोक-संगीत, लोक-महाकाव्य, लोकनृत्य तथा लोक-रंगमंच और कुछ इतर विषयों से संबंधित अच्छे सुविचारित लेख संगृहीत हैं। प्रयत्न पूरे भारतीय लोक को समेट लेने का रहा है, जिससे राष्ट्र की एक संगठित छवि प्रस्तुत की जा सके। इस चिंतन में मराठी सबसे बडे हिस्से की साझेदार है, जबकि तमिल अनुपस्थित और कन्नड की उपस्थिति नगण्य-सी है। दो निबंधों में रेखांकन और छायाचित्र के माध्यम से बात को स्पष्ट किया गया है। हरिहर वैष्णव लिखित 'बस्तर की लोकचित्र परंपरा' और भानु भारती लिखित 'गवरी : एक छाया निबंध' क्रमशः इसी प्रकार के निबंध है। हकु शाह का 'घर... सजीव साथी' भी अपने ढंग का विशिष्ट निबंध है, जो घर को उसकी पूरी संरचना और भावनिक संबंध में उपस्थित करता है। कथा-कहानी और काव्य, दो ऐसी विधाएँ हैं जिन्हें ग्रंथ में प्रमुख स्थान मिला है। कथा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहानी का विस्तार मुख्यतः उसने लिखित और मौखिक रूपों, दंतकथा-अनुष्ठान-लोककथा, बातपोशी, लोककथा अध्ययन और भाषाशास्त्र तथा लोक-संस्कृति को लेकर हुआ है और इसमें कोमल कोठारी, जी. एस. कर्क, वागीशकुमार सिंह, सी. डब्ल्यू वॉन सीदौव और अरुणा ढेरे का योगदान है। डॉ. रामचंद्र चिंतामण ढेरे के निशिकांत ठकार द्वारा मराठी से अनूदित दो लेख क्रमशः 'मराठी संतों के कूटकाव्य और लोकसाहित्य की पहलियाँ' तथा 'लोक-साहित्य और इतिहास' दो अलग प्रश्नों पर प्रकाश डालते हैं। पहले लेख में डॉ. ढेरे ने संतों के कूटकाव्य का निर्देश करते हुए कूट और कूटकाव्य की परंपरा का भी निर्देश किया है और उसका संबंध यजुवेर्द के 'ब्रह्म कूट', महाभारत के 'यक्षप्रश्न', सुत्तनिपात के 'सुचिलोमसुत्त' और 'आलवकसुत' तथा डफगान और कलगी-तुर्रे वाले शाहीरों से स्थापित किया है। दूसरे लेख में लोक साहित्य और सामाजिक शास्त्र तथा उत्कीर्ण लेख, इतिहास और लोक साहित्य के आपसी संबंधों पर प्रकाश डाला गया हैं।

शास्त्र-चर्चा के अंतर्गत संगृहीत सात लेखों में से पहला लेख 'लोक और शास्त्र' में राममूर्ति त्रिपाठी दोनों के आपसी संबंध और दोनों के बीच के विभेद की सीमाएँ तय करते हैं, डॉ. हेतुकर झा ने 'लोक सम्प्रत्यय की संक्षिप्त विवेचना' की है और मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और प्राचीन भारतीय परंपरा के संदर्भों की छानबीन की है। रमेश थावनी ने ईशावास्योपनिषद् के श्लोकांश 'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान' शीर्षक से एक लघु किंतु ललित निबंध लिखा है, जो बडा सार्थक और पठनीय है। लोक प्रतीक से संबंधित दो लेख इसी के बाद प्रकाशित हैं। रामचंद्र तिवारी ने 'लोक के प्रतीक और उनका परिदृश्य' शीर्षक लेख में लोक और प्रतीक शब्दों की अपनी व्याख्या करते हुए प्रकृति से गृहीत वनस्पति, पशु-पक्षियों, ग्रह-नक्षत्रादि प्राकृतिक शक्तियों, भारतीय धर्म-साधना में प्रयुक्त पवित्र माने जाने वाले उपादानों, स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों, जीवों तथा अन्ततः सतीत्व को प्रमाणित करने वाले प्राकृतिक साक्षियों का विचार किया है तो वसंत निरगुणे के 'लोक संस्कृति में प्रतीक' शीर्षक लेख के प्रतीक के स्वरूप और महत्त्व पर विस्तृत सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। निरगुणे प्रतीक को मिथक, बिंब, पुरा आख्यान, आदि के साथ रख कर उनके पारस्परिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भेद को तो स्पष्ट करते ही हैं, उन्हें बुद्धि और रागात्मकता, चित्रकला तथा अनुष्ठान के संदर्भ में भी विचार-क्रम में प्रस्तुत करते हैं और अंत में प्रतीकार्थ के रूढ और परिवर्तित होते रहने वाले स्वरूप का निर्देश करते हैं। प्रतीक पर व्यापक सैद्धान्तिक चर्चा जहाँ इस लेख का गुण है, वहीं इसकी कुछ कमजोरियाँ भी है। जैसे, लेखक को सब-कुछ समेट लेने की अधीरता है। परिणामस्वरूप जहाँ स्पष्टता के लिए उदाहरण देने की आवश्यकता है, वहाँ उसका अभाव है। कुछ उद्धरणों के संदर्भ दिये गये हैं, कुछ के नहीं दिये गये, जिससे लगता है कि सामग्री मूल से गृहीत नहीं है। इसी प्रकार व्याकरण तथा वर्तनीगत अनेक भूलें लेख-पठन में व्याघात पहुंचाती हैं।

'लोकदेव हनुमान : अतीत से वर्तमान तक' यद्यपि उसके लेखक विश्वनाथ खैरे के अनुसार ही "मराठी में प्रकाशित अनेक लेखों का सारांश है" तथापि संक्षेप में बहुमूल्य सामग्री से परिचित कराता है। कठिनाई इस लेख के साथ भी यही है कि वाक्यविन्यास कई जगह मराठी ढलाव का है और वही स्थिति आलोचना या शोध के अर्थ में मराठी शब्द 'चिकित्सा' के प्रयोग की भी है। पर डॉ. जया परांजपे का लेख 'लोक : इतिहास, पुराण, मिथक' इन दोषों से मुक्त है और चारों शब्दों की समझ को उनके आपसी अंतःसंबंधों के आलोक में विकसित करता है।

संभव नहीं है कि सभी लेखों पर टिप्पणी एक दौडती नजर में भी इस समीक्षा में की जा सके। वस्तुतः हम इसे समीक्षा भी नहीं, केवल सांकेतिक परिचय ही कहना चाहेंगे। इससे इतना लक्षित हो जाय कि समीक्ष्य ग्रंथ 'लोक' मूल्यवान पठनीय और संग्राह्य है, तो अलम् है। हाँ, यदि इन विद्वान लेखकों का संक्षिप्त-सा परिचय, उनके पते और संपादक की ओर से इस आयोजन से संबंधित उनकी दृष्टि, प्रयत्न और लेख-संग्रह के मूल स्रोतों आदि के विषय में दो शब्द ग्रंथारंभ में होते तो ग्रंथ का मूल्य और बढ जाता। हमारी विनम्र सम्मति में तो एक परिचयात्मक लेख भारतीय लोक कला मण्डल के विषय में भी होना चाहिए था।

'कलापी' १६२/५ ब-१ स,
डी. पी. रोड, औंध,
पुणे - ४११००७ (महाराष्ट्र)

डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक ४ सि.-अ.-न.२००२

	: संपादकीय	१
शशि देवी सिंह	: शांकर वेदान्त में ईश्वर की अवधारणा	३
डा. ज्ञानाञ्जय द्विवेदी	: विमर्श : एक दार्शनिक विवेचन	१३
डा. बाबूलाल शर्मा	: शून्यवाद एवं विज्ञानवाद से प्रभावित अद्वैतवाद	२३
डा. हरनाम सिंह अलरेजा	: ओशो (रजनीश) दर्शन : कुछ मान्यताएँ (संदर्भ - गीता)	३५
डा. वीरेन्दसिंह	: वैज्ञानिक ज्ञान का बहुआयामी परिप्रेक्ष्य	४३
हेमन्त नामदेव	: पर्यावरण दर्शन : व्यावहारिक नीतिशास्त्र का एक नवीन विचार	५३
देवेन्द्रनाथ तिवारी	: अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या	६१
डा. पृथ्वीनाथ शास्त्री	: परिचर्चा में	७९
डा. आनन्दप्रकाश दीक्षित	: ग्रंथसमीक्षा	९०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.